प्रकाशकीय

इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति की शास्त्रीय व्याख्या नहीं है, बल्कि इसमें हमारी संस्कृति की उन मुख्य-मुख्य बातों पर विचार किया गया है, जिनका हमारे जीवन से सीधा संबंध है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विद्वान् लेखक किसी भी संकुचित सम्प्रदाय, मत अथवा मान्यता से बंधकर नहीं चले। उन्होंने जिस किसी विषय को लिया है, उसपर स्वतंत्र बुद्धि से, निर्भीकतापूर्वक, अपने विचार व्यक्त किये हैं। यही कारण है कि यह पुस्तक हमें पर्याप्त विचार-सामग्री देने के साथ-साथ उपयोगी जीवन व्यतीत करने के लिए बड़ी स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करती है।

पुस्तक की शैली के विषय में कुछ कहना अनावश्यक है। साने गुरुजी मराठी के सुविख्यात लेखक थे। उन्हें भाषा पर बड़ा अधिकार था और उनकी शैली बेजोड़ थी। अनुवाद में यद्यपि मूल का-सा रस आ सकना संभव नहीं है, फिर भी उनकी रोचक शैली का आनन्द हिन्दी के पाठकों को मिल सके, ऐसा प्रयत्न किया गया है।

हम चाहते हैं कि भारतीय भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रंथों का रूपान्तर हिन्दी में प्रकाशित हो, जिससे राष्ट्र भारती का भण्डार समृद्ध हो, साथ ही पाठकों को इस बात की जानकारी हो जाय कि हमारी विभिन्न भाषाओं में कितनी मूल्यवान सामग्री विद्यमान है। यह पुस्तक इसी दिशा में एक अल्प प्रयत्न है। यह सिलसिला बराबर चलता रहे, इसकी हम कोशिश करेंगे; लेकिन सफलता तब प्राप्त होगी, जब पाठकों और विद्वानों का सहयोग मिलेगा।

प्रस्तावना

यह पुस्तक एक साधारण मनुष्य द्वारा साधारण मनुष्यों के
लिखी गई है। इस पुस्तक में न पाण्डित्य है, न विद्वत्ता है। इसमें सं
ग्रन्थों का आधार व उद्धरण आदि कुछ नहीं है। इसमें न प्राच्य वि
विशारदत्व है, न कोई गहन-गम्भीर तत्त्व ही। इसमें तो केवल
विशेष दृष्टि है। इसमें भारतीय संस्कृति का इतिहास नहीं है।
के क्षेत्र में और ज्ञान-विज्ञान के प्रान्त में, व्यापार में और राजनीति
हम कितने आगे बढ़े हुए थे, इस सबकी जानकारी इस पुस्तक में
है। इसमें चन्द्रगुप्त व अशोक, कालिदास व तानसेन आदि का अभि
इतिहास नहीं है। इसमें तो भारतीय संस्कृति की आत्मा से मिलन
इसमें उसके अन्तरंग के दर्शन हैं। इसमें भारतीय संस्कृति के गर्भ में प्रवे
किया गया है।

हम 'भारतीय संस्कृति' का नाम कई बार सुनते हैं। 'यह भारती
संस्कृति को शोभा नहीं देता,' 'यह भारतीय संस्कृति के लिए हा
कारक है', आदि वाक्य हमें लेखों और भाषणों में पढ़ने और सुनने
मिलते हैं। ऐसे अवसर पर भारतीय संस्कृति का क्या अर्थ होता है
वहां भारतीय संस्कृति के इतिहास से मतलब नहीं होता। वहां तो भा
तीय संस्कृति की जो एक विशेष दृष्टि है, उसीसे मतलब होता है।
दृष्टि कौन-सी है? मैंने यहां भारतीय संस्कृति की यही दृष्टि दिखा
का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक के बहुत-से विचार मैंने कुछ बड़े लोगों से सुने हैं। उन
कारण मेरे हृदय की जन्मजात भावना विकसित हुई है। वर्धा
सत्याग्रह-आश्रम के आचार्य विनोबाजी के अनेक अमूल्य विचार इ
पुस्तक में आ गए हैं। कर्म, ज्ञान, भक्ति, कर्मफल-त्याग, अहिंसा आ
अध्यायों में मैंने उनसे जो-कुछ भक्ति और प्रेम से सुना, वही सारांश
यहां लिख दिया है। इन अध्यायों में मैंने जो-कुछ लिखा है, उसके लि
वह जिम्मेदार नहीं हैं। उनके द्वारा बोये हुए किन्तु मेरे हृदय और बुद्धि

में विकसित होनेवाले ये बीज हैं। इसमें जो-कुछ टेढ़ा-मेढ़ापन है वह सब मेरा है। इसमें जो-कुछ सत्यता है, वह उन महापुरुषों की है।

भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करनेवाली उदार भावना और निर्मल ज्ञान के योग से जीवन में सुन्दरता लानेवाली है। यह संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के साथ हृदय का मेल बैठाकर संसार में मधुरता का प्रचार करनेवाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है कर्म, ज्ञान, भक्ति ी जीती-जागती महिमा--शरीर, बुद्धि और हृदय को सतत सेवा में ीन करने की महिमा।

भारतीय संस्कृति का अर्थ है सहानुभूति। भारतीय संस्कृति का र्थ है विशालता। भारतीय संस्कृति का अर्थ है बिना स्थिर रहे ज्ञान ा मार्ग ढूंढते-ढूंढते आगे बढ़ना। संसार में जो-कुछ सुन्दर व सत्य दखाई दे, उसे प्राप्त करके बढ़ती जानेवाली ही यह संस्कृति है। यह ंसार के सारे ऋषि-महर्षियों की पूजा करेगी। वह संसार की सारी न्तान की वन्दना करेगी। संसार के सारे धर्म-संस्थापकों का यह आदर रेगी। चाहे कहीं भी महानता दिखाई दे, भारतीय संस्कृति उसकी ़जा ही करेगी। यह आनन्द और आदर के साथ उसका संग्रह करेगी।

भारतीय संस्कृति संग्रह करनेवाली है। यह सबको पास-पास लाने-ाली है। 'सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे' ही यह कहनेवाली है। यह संस्कृति संकुचितता से परहेज करनेवाली है। इससे त्याग, संयम, ैराग्य, सेवा, प्रेम, ज्ञान, विवेक आदि बातें हमें याद आ जाती हैं। भारतीय संस्कृति का अर्थ है सान्त से अनन्त की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश ी ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड़ से कमल की ओर ाना, विरोध से विवेक की ओर जाना, अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर ाना। भारतीय संस्कृति का अर्थ है मेल, सारे धर्मों का मेल, सारी जातियों ा मेल, सारे ज्ञान-विज्ञान का मेल, सारे कालों का मेल। इस प्रकार े महान् मेल पैदा करने की इच्छा रखनेवाली, सारी मानव-जाति के बेड़े ो मंगल की ओर ले जाने की इच्छा रखनेवाली यह संस्कृति है।

कृष्णाष्टमी, शाके १८५९
२९ अगस्त, १९३७

पांडुरंग सदाशिव साने

साने गुरुजी

रत्नागिरि जिले के पालगड गांव में साने गुरुजी (पांडुरंग सदाशिव साने) का जन्म २४ दिसम्बर, १८९९ के दिन हुआ था। उनके पिता वडवली नाम के छोटे-से गांव के एक परोपकारी खोत (एक तरह के जमींदार) थे। गुरुजी लोकमान्य तिलक के बड़े भक्त थे और उस जमाने में स्वदेशी आंदोलन में जेल हो आये थे। गुरुजी की माता भी एक बेजोड़ स्त्री थीं। उन्हें गरीबी में अनेक आफतों का मुकाबला करते हुए जिन्दगी काटनी पड़ी। पर छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर उन्होंने बच्चों को खूब संस्कारवान बनाया। अपनी माता से गुरुजी बहुत प्यार करते थे। घर की गरीबी के कारण माता को जो आपदाएं झेलनी पड़ती थीं उनको, खूब पढ़कर, दूर करने का सपना वह बचपन में देखा करते थे।

विद्या के लिए गुरुजी को कड़ी मेहनत करनी पड़ी। पाठशाला की फीस नहीं दे सकते थे, खाने के भी लाले पड़ जाते थे। घर की हालत दिन-ब-दिन गिरती जाती थी। लेकिन माता को आराम पहुंचाने की एक ही धुन उनपर सवार थी। दुर्भाग्य से मैट्रिक पास होने के पहले ही उनकी अनुपस्थिति में उनकी माता स्वर्ग सिधार गईं। लिखने-पढ़ने में अब उनको रस न रहा, लेकिन बाद में संभल गए। यह मानकर कि शरीर ही कोई माता नहीं है, शरीर से परे मातृ-भावना है और उसका विकास करना ही सच्ची मातृ-सेवा है, गुरुजी फिर से पढ़ने-लिखने लगे। काफी कष्ट उठाकर एम० ए० पास किया। तब भारतीय तत्त्वज्ञान का अध्ययन करने का विचार उनके मन में आया। अमलनेर के तत्त्वज्ञान मन्दिर में वह दाखिल हुए, पर एक ही साल के भीतर तत्त्वज्ञान-मंदिर छोड़ दिया और वहां के हाई स्कूल में शिक्षक बन गए। यहां पर उन्होंने छात्रावास का काम भी लिया। वह छात्रों की माता-से बन गए। अपने व्यवहार से उन्होंने छात्रों को ऐसी शिक्षा दी कि विलासप्रिय युवक त्यागी और उद्धत संयमी बनने लगे।

गुरुजी पढ़ाते भी खूब अच्छी तरह थे। स्कूल का पाठ्यक्रम अपर्याप्त समझकर उन्होंने वहां एक हस्तलिखित दैनिक शुरू कर दिया। यह एक अनोखी चीज थी। स्कूल के छः घंटों में जो शिक्षा न मिलती, वह इस 'दैनिक' से मिल जाती थी। बाद में इसी कल्पना को बढ़ावा देने के लिए 'विद्यार्थी' नाम का एक छपा मासिक भी निकलने लगा, जो आंदोलन के समय सरकार ने बन्द करवाया। असहयोग-आन्दोलन शुरू होते ही वह उसमें दाखिल हुए। उनके विद्यार्थियों ने भी बड़ी संख्या में उनका साथ दिया। गुरुजी का प्रभाव साथी कैदियों पर गहरा होता देखकर सरकार ने उन्हें महाराष्ट्र से दूर त्रिचनापल्ली की जेल में भेज दिया। वहां दक्षिण की भाषाओं से गुरुजी का अच्छी तरह परिचय हुआ। भाषाएं भले ही भिन्न हों, लेकिन सब प्रांतों में भावनाओं की एक अनोखी समानता है---यह बात गुरुजी को महसूस हुई। गुजराती तथा बंगला तो वह पहले से ही जानते थे। कविवर रवीन्द्रनाथ की 'विश्वभारती' की तरह भारत के विभिन्न प्रांतों की भाषा, कला, संस्कृति आदि का परिचय करानेवाली 'आन्तर भारती' संस्था स्थापित करने की बात वह सोचते थे। १९३० के आंदोलन से रिहा हुए कि १९३२ के आंदोलन में उन्हें पुनः गिरफ्तार करके धूलिया-जेल में ठूंस दिया गया।

धूलिया जेल में तब विनोबा और जमनालालजी आदि लोग थे। इस बार सारे महाराष्ट्र से बड़ी तादाद में नवयुवक जेल में आये थे। उन्हें संस्कारपूरित करने का काम गुरुजी पर आ गया। तबतक साने गुरुजी सानेसर कहलाते थे, लेकिन १९३२ के बाद वह सारे महाराष्ट्र के गुरुजी बन गये। तभी हर इतवार को गीता पर प्रवचन देना विनोबाजी ने तय किया। विनोबाजी से भेंट होते ही गुरुजी को मानो इच्छा-प्राप्ति हो गई। दोनों में प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध हुआ। विनोबाजी के वे सब प्रवचन गुरुजी ने लेखबद्ध कर लिये। आज जो 'गीता-प्रवचन' की पुस्तक उपलब्ध है, वह गुरुजी के ही कारण। धूलिया से हटाकर गुरुजी को नासिक-जेल में भेज दिया गया, जहां उन्हें कठिन-से-कठिन सजाएं सहन करनी पड़ीं। उनके जीवन के ये दिन बड़े महत्त्व के थे। उस समय उन्होंने काफी कविताएं लिखीं, जो आगे चलकर 'पत्री' नाम से प्रकाशित हुईं। उनमें जो चैतन्य-

दायक शक्ति थी, उससे घबराकर सरकार ने उक्त पुस्तक को जब्त कर लिया। उसी समय सिर्फ चार दिन में जेल के कामों के बाद जो समय बचता था, उसका उपयोग करके उन्होंने 'श्यामची आई' नाम से अपनी माता के संस्मरण लिखे। इस पुस्तक ने अनेक की आंखें गीली कीं, अनेक को मातृप्रेम का पाठ पढ़ाया। मातृप्रेम का यह महान् मंगल ग्रन्थ है। 'धडपडणारी मुलें' (लड़खड़ाते नौजवान) नाम की लगभग हजार पन्नों की पुस्तक भी गुरुजी ने वहीं लिखी। और भी काफी साहित्य का सृजन किया।

१९३२ के आंदोलन में महाराष्ट्र को गुरुजी की तेजस्विता का दर्शन हुआ। लेकिन आंदोलन के बाद गुरुजी पूना में अज्ञात रूप से रहने लगे। वहां कुछ गरीब विद्यार्थियों की रसोई करते, बर्तन मांजते, कपड़े धोते। इसके बाद जो समय बचता उसमें लिख-पढ़ लेते। इसी बीच गुरुजी का ध्यान मराठी भाषा के 'ओवी' साहित्य के संकलन की तरफ गया। करीब दो हजार ओवियों को उन्होंने इकट्ठा किया और दो खण्डों में 'स्त्री-जीवन' के नाम से प्रकाशित किया। गुरुजी की यह एक बड़ी भारी देन है।

१९३६ में महाराष्ट्र में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को गुरुजी ने रात-दिन काम में जुटकर सफल बनाया। उन्होंने विद्यार्थी, मजदूर तथा किसानों में काम किया। 'कांग्रेस' नाम की एक साप्ताहिक पत्रिका भी चलाई। महाराष्ट्र में कांग्रेस के एक लाख सदस्य हों, इसलिए २१ दिन का अनशन किया।

१९३९ में दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ। गुरुजी को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया। १९४२ में छूटे ही थे कि फिर आंदोलन शुरू हुआ। गुरुजी ने कुछ अर्से तक भूमिगत रहकर काफी काम किया। आखिर एक दिन गिरफ्तार कर लिये गए। १९४५ में रिहा होने पर १९४२ के आंदोलन की गाथा सुनाते हुए पूरे महाराष्ट्र में घूमे। आजादी की आहट लोगों ने पाई। आजादी तो आ रही है, लेकिन हमारे जीवन तो जैसे-के-तैसे ही हैं। इसपर विनोबा ने किसी कार्यकर्ता के पास अपनी वेदना प्रकट की। गुरुजी ने सुनी तो अस्वस्थ हो गए। पंढरपुर का मन्दिर

हरिजनों के लिए न खुले तो अनशन करने की बात थी। उन्होंने कहा, "अगर हमारे जीने से कुछ नहीं होगा तो हमें अपने जीवन की आहुति देकर काम को पूरा करना होगा।" छः महीने तक रात-दिन गांव-गांव घूमकर मन्दिर-प्रवेश का प्रचार करते रहे। पुजारियों ने लोकमत को स्वीकार करने से इन्कार किया। गुरुजी का अनशन शुरू हुआ। ग्यारह दिन के बाद पुजारी झुक गए, मन्दिर खुल गया। दिल्ली की एक प्रार्थना-सभा में गांधीजी ने कहा, "पंढरपुर का पुराना और मशहूर मन्दिर ठीक उन्हीं शर्तों पर हरिजनों के लिए खोल दिया गया है जैसे कि दूसरे हिंदुओं के लिए। इसका खास श्रेय साने गुरुजी को है, जिन्होंने उसे हरिजनों के लिए हमेशा के वास्ते खुलने के मकसद से आमरण उपवास शुरू किया था।" गुरुजी की यह हरिजन-यात्रा इतिहास में अभूतपूर्व कही जायगी। नागपुर से लेकर गोवा तक ऐसी कोई पंचगोशी नहीं रही थी जहां साने गुरुजी ने मन्दिर-प्रवेश का संदेश न सुनाया हो।

इतने में गांधीजी की हत्या हुई। गुरुजी को बहुत सदमा पहुंचा। गांधीजी की हत्या का उत्तरदायी एक महाराष्ट्रीय है, जब यह बात उन्होंने सुनी तो बहुत दुःखित हुए और इसका प्रायश्चित्त करने के लिए २१ दिन का अनशन किया। इसी अर्से में महाराष्ट्र में जातीयता का जहर फैला और बहुत लूटमार और झगड़े हुए। गुरुजी ने फिरकापरस्ती के खिलाफ महाराष्ट्र में एक आंदोलन चलाया। १५ अगस्त, १९४९ के दिन गुरुजी ने 'साधना' नाम का एक साप्ताहिक पत्र शुरू किया।

विनोबा और गुरुजी का सम्बन्ध बहुत गहरा था। गुरुजी बहुत अस्वस्थ थे। देश की मौजूदा हालत देखकर उन्हें बहुत व्याकुलता थी। देश को ठीक रास्ते पर लाने के लिए जी-जान से कोशिश तो करते थे, लेकिन स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी थी। तब विवश होकर गुरुजी ने आत्म-समर्पण का मार्ग अपनाया और अपने हाथों अपनी जीवन-ज्योति ११ जून, १९५० के दिन बुझा डाली।

—यदुनाथ थत्ते

विषय-सूची

भारतीय संस्कृति

: १ :

अद्वैत का अधिष्ठान

भारतीय संस्कृति में सर्वत्र अद्वैत की ध्वनि गूंज रही है। भारतीय संस्कृति में से अद्वैत की मंगलकारी 'सुगन्ध आ रही है। हिन्दुस्तान के उत्तर में जिस प्रकार गौरीशंकर का उच्च शिखर स्थित है, उसी प्रकार यहां संस्कृति के पीछे भी उच्च और भव्य अद्वैत दर्शन है। कैलास-शिखर पर बैठकर ज्ञानमय भगवान् शंकर अनादिकाल से अद्वैत का डमरू बजा रहे हैं। शिव के पास ही शक्ति रहेगी, सत्य के पास ही सामर्थ्य रहेगी, प्रेम के पास ही पराक्रम रहेगा। अद्वैत का अर्थ है निर्भयता। अद्वैत का संदेश ही इस संसार में सुखसागर का निर्माण कर सकेगा।

भारतीय ऋषियों ने इस महान् वस्तु को पहचाना। उन्होंने संसार को अद्वैत का मन्त्र दिया। इस मन्त्र के बराबर पवित्र अन्य कोई दूसरा नहीं है। संसार में परायापन होने का ही मतलब है दुःख होना और समभाव होने का मतलब ही है सुख होना। सुख के लिए प्रयत्नशील मानव को अद्वैत का पल्ला पकड़े बिना कोई तरणोपाय नहीं है।

ऋषि बड़ी उत्कट भावना से कहते हैं कि जिन-जिनके प्रति तुम्हारे मन में परायापन अनुभव हो उन-उनके पास जाकर उन्हें प्रेम से गले लगाओ।

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इस महान् मंत्र का गूढ़ अर्थ क्या है? हमें इस मंत्र को एक ही स्थान पर नहीं बोलना चाहिए। इस मंत्र का उच्चारण सब जगह होना चाहिए और इसीके अनुसार आचरण भी करना चाहिए। यह मंत्र केवल गुरु-शिष्य के लिए नहीं है। क्या ब्राह्मण ब्राह्मणेतर के साथ और ब्राह्मणेतर ब्राह्मणों के साथ परायापन रखते हैं? उन दोनों को एक स्थान पर आने दो और उन्हें यह मत्र कहने दो। क्या स्पृश्य अस्पृश्य एक-दूसरे से दूर हैं? उन्हें पास-पास आने दो और करने दो इस मंत्र का उच्चारण। क्या हिन्दू-मुसलमान आपस में जानी दुश्मन हैं? उन्हें पास-पास आने दो और हाथ-में-हाथ पकड़कर इस मंत्र का उच्चारण करने दो। क्या गुजरात और महाराष्ट्र के लोग एक-दूसरे से द्वेष रखते हैं? उन्हें पास-पास आने दो और इस मंत्र का उच्चारण करने दो।

जो एक-दूसरे के प्रति परायापन अनुभव नहीं करते, उनके लिए यह मंत्र नहीं है। यह मंत्र तो परायापन मिटाने के लिए है। संसार में सर्वत्र दिखाई देनेवाले द्वैतभावरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए ऋषि ने यह महान् दीप जलाया है। आइए, इस दीपक को हाथ में लेकर देखें। इसका उपयोग करें। आप विना आनन्द प्राप्त किये रहेंगे नहीं।

अद्वैत का अर्थ है—ऐसी भावना कि मेरे जैसा ही दूसरा भी है। समर्थ रामदास ने सारा अद्वैत तत्त्वज्ञान एक ओवी (मराठी छंद) में भर दिया है। उसमें उन्होंने अद्वैत के प्रत्यक्ष व्यावहारिक स्वरूप की शिक्षा दी है—

आपणास चिमोटा घेतला तेणें जीव कासावीस झाला।
आपणावरुन दुसर्‍याला। ओळखीत जावें॥

यदि हमें कोई मारता है तो दुःख होता है। यदि हमें अन्न-पानी नहीं मिलता तो हमारे प्राण कण्ठ में आ जाते हैं। यदि कोई हमारा अपमान करता है तो वह हमें मृत्यु से भी अधिक दुखदायी प्रतीत होता है। यदि

हमें ज्ञान प्राप्त नहीं होता है तो शर्म आती है। हमारे जैसा ही दूसरों को भी होता होगा। मेरे मन, बुद्धि व हृदय हैं। दूसरों के भी वे हैं। हमारी इच्छा होती है कि हमारा विकास हो। ऐसी ही इच्छा दूसरों की भी होती है। जैसा हमारा सिर ऊंचा हो, वैसा ही दूसरों का भी होना चाहिए। सारांश यह है कि हमें सुख-दुःख का जो अनुभव होता है उसके ऊपर से दूसरों के सुख-दुःख की कल्पना करना ही एक प्रकार से अद्वैत है।

जिन बातों से हमें दुःख होता है वे बातें हम दूसरों के प्रति नहीं करें, यही शिक्षा हमें उससे मिलती है। जिन बातों से हमें आनन्द होता है, उनसे दूसरों को भी लाभ हो, ऐसा प्रयत्न हम करें। यही बात हमें अपना अद्वैत बताता है। अद्वैत का अर्थ कोई अमूर्त कल्पना नहीं है। अद्वैत का अर्थ है प्रत्यक्ष व्यवहार। अद्वैत का अर्थ चर्चा नहीं, अद्वैत का अर्थ है अनुभूति।

ऋषि लोग केवल अद्वैत की कल्पना में ही नहीं रहे, वे सारे संसार से—सारे चराचरों से—एकरूप हो गए। रुद्रसूक्त लिखनेवाला ऋषि इस बात की चिन्ता कर रहा है कि मनुष्य को किन-किन चीजों की जरूरत होगी। सारे मानवों की आवश्यकताएं मानो उसे अपनी ही आवश्यकताएं प्रतीत होती हैं। वह शरीर की, मन की, बुद्धि की भूख को अनुभव करता है।

"घृतं च मे, मधु च मे, गोधूमाश्च मे, सुखं च मे, शयनं च मे, ह्रीश्च मे, श्रीश्च मे, धीश्च मे, धिषणा च मे।'

"मुझे घी चाहिए, मधु चाहिए, गेहूं चाहिए, सुख चाहिए, ओढ़ना-बिछौना चाहिए, विनय चाहिए, संपत्ति चाहिए, बुद्धि चाहिए, धारणा चाहिए, मुझे सब चाहिए।"

वह ऋषि ये सब चीजें अपने लिए नहीं मांगता है। वह तो जगदाकार हो गया है। वह अपने आस-पास के सारे मानवों का विचार करता है। उसे इस बात की बेचैनी है कि ये सब चीजें मनुष्यों को कब मिलेंगी। इन सारे भाई-बहनों को पेट-भर भोजन और पहनने को तन-भर वस्त्र कब मिलेंगे, इन सबको ज्ञान का प्रकाश कब मिलेगा, इन सबको सुख-समाधान कैसे प्राप्त होगा, इसकी चिन्ता उस महर्षि को है।

समर्थ रामदास स्वामी की भी ऐसी ही एक मांग है। राष्ट्र को जिन-जिन चीजों की आवश्यकता है उन-उन चीजों की भिक्षा उन्होंने ईश्वर से उस स्तोत्र में की है। उस स्तोत्र का उन्होंने 'पावन भिक्षा', यह सुन्दर नाम रखा है। विद्या दे, गायन दे, संगीत दे; इस प्रकार सारी मनवांछित और मंगल वस्तुएं उन्होंने मांगी हैं।

रुद्रसूक्त में कवि समाज की आवश्यक वस्तुएं मांगता है और उन आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवालों की वन्दना करता है। उस ऋषि को कहीं अमंगल और अपवित्रता तनिक भी दिखाई नहीं देती।

"चर्मकारेभ्यो नमो, रथकारेभ्यो नमो, कुलालेभ्यो नमो।"

"अरे, चमार, तुझे नमस्कार; अरे, बढ़ई, तुझे नमस्कार; अरे, कुम्हार, तुझे नमस्कार।"

समाज की कर्ममय पूजा करनेवाले ये सारे श्रमजीवी उस महान् ऋषि को वन्दनीय प्रतीत होते हैं। वह चमार को अस्पृश्य नहीं मानता, वह कुम्हार को तुच्छ नहीं समझता, वह मटकी देनेवाले की योग्यता भी समाज को जीवित विचार देनेवाले विचार-स्रष्टा जैसी ही मानता है।

"There is nothing great or small
in the eyes of God."

"ईश्वर की दृष्टि में समाज-सेवा का कोई भी काम उच्च या तुच्छ नहीं है।" उन सेवा-कर्मों को करनेवाले सारे मंगल और पवित्र ही होते हैं।"

लेकिन यह बात नहीं कि रुद्रसूक्त का ऋषि सेवा करनेवालों की ही वन्दना करता है। वह तो पतितों को भी प्रणाम करता है। मनुष्य पतित क्यों होते हैं? समाज के दोषों से ही वे पतित होते हैं?

'स्तेनानां पतये नमो।"

ऐसा कह रहा है यह ऋषि। यह ऋषि चोरों और चोरों के नायकों को भी प्रणाम करता है। यह ऋषि पागल नहीं है। चोर आखिर चोरी क्यों करता है? धनवान के बालक के पास सैकड़ों खिलौने होते हैं। गरीब के बालक के पास एक भी नहीं होता। वह गरीब का बालक यदि एक-

आध खिलौना चुरा लेता है तो उसको कोड़े लगाये जाते हैं। खेत में मर-मरकर काम करनेवाले मजदूर को जब पेट-भर खाना नहीं मिलता तब वह अनाज चुराता है। इसमें उसका क्या दोष? वह चोर नहीं है। उसे भूखों मारनेवाला समाज चोर है। ऋषि व्याकुल होकर कहता है, "अरे चोरो, तुम चोर नहीं हो। यदि समाज तुम्हारे साथ ठीक तरह व्यवहार करे तो तुम चोरी नहीं करोगे। मैं तुममें मनुष्यता देख रहा हूं। मुझे तुम्हारे अन्दर दिव्यता दिखाई दे रही है। यदि तुम्हारी आत्मा का वैभव दूसरे व्यक्तियों को दिखाई न दे तो मुझ-जैसे निर्मल दृष्टिवाले को वह कैसे दिखाई नहीं देगा?"

जो समाज अद्वैत को भूल जाता है उसमें बाद में क्रान्ति होती है। ईश्वर संसार को शिक्षा देना चाहता है। पड़ोसी भाई को दिन-रात श्रम करने पर भी रहने को घर व खाने को पेट-भर अन्न नहीं मिलता और मैं अपने विशाल बंगले में बैठकर रेडियो सुनता हूं। यह भारतीय संस्कृति नहीं है। यह तो भारतीय संस्कृति का खून है। भूखे लोगों को देखकर दामाजी ने भंडार खोल दिए थे। चोरी करने के उद्देश्य से आने-वाले व्यक्ति से एकनाथ ने कहा था—"जरा और ले जाओ।" चोरी करने-वाले व्यक्ति को देखकर हमें अपने ऊपर लज्जा आनी चाहिए। अपने समाज पर क्रोध आना चाहिए।

अद्वैत मानो एक मज़ाक हो गया है। पेट भरकर अद्वैत की चर्चा करने बैठते हैं। परन्तु जीवन में अद्वैत को जाननेवाले भगवान् बुद्ध शेरनी को भूखी और बीमार देखकर उसके मुंह में अपना पांव दे देते हैं। अद्वैत को अनुभव करनेवाला तुलसीदास वृक्ष काटनेवाले के सामने अपनी गरदन झुका देता है और उस फलने-फूलने और छाया देनेवाले चैतन्यमय पेड़ को बचाना चाहता है। अद्वैत का अनुभव करनेवाला कमाल घास काटने के लिए जंगल में जाकर, चलती मन्द समीर में, डोलने लगता है और उपवन का दृश्य देखकर द्रवित हो जाता है। उसे घास यह कहता हुआ प्रतीत होता है, "मत काट रे, मत काट।" उसके हाथ से हंसिया गिर पड़ता है। अद्वैत का अनुभव करनेवाले ऋषि के आश्रम में शेर और बकरी एक साथ प्रेम से रहते हैं। हरिण शेर

की अयाल खुजलाता है। सांप नेवले का आलिंगन करता है। अद्वैत का अर्थ है उत्तरोत्तर बढ़नेवाला प्रेम, विश्वास के साथ विश्व को आलिंगन करनेवाला प्रेम।

लेकिन अद्वैत को जन्म देनेवाले व जीवन में अद्वैत का अनुभव करनेवाले महान् संतों की इस भारत-भूमि में आज अद्वैत पूरी तरह अस्त हो चुका है। हमारा कोई पास-पड़ोसी नहीं है। हमें आस-पास का विराट दुःख दिखाई नहीं देता है। हमारे कान बहरे हो गए हैं। आंखें अंधी हो गई हैं। सबको हृद्-रोग हो गया है।

वेद में एक ऋषि व्याकुल होकर कहता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
न अर्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी।

"संकुचित दृष्टि के मनुष्य के पास की धन-राशि व्यर्थ है। उसने अपने घर में यह अनाज इकट्ठा नहीं किया है, बल्कि अपनी मृत्यु इकट्ठी की है। जो भाई-बहन को नहीं देता, योग्य व्यक्तियों को नहीं देता और अपना ही खयाल रखता है, वह केवल पाप-रूप है।"

अपने आस-पास लाखों श्रमिक अन्नवस्त्र-विहीन मनुष्यों के होते हुए अपने बंगलों में कपड़े के ढेर लगाना और अनाज के कोठे भरना खतरनाक है। ऋषि कहता है, "वे तुम्हें चकनाचूर करनेवाले बम हैं।" ऋषि के इस कथन का दूसरे देशों में भी अनुभव हो रहा है। अपने देश में भी यह अनुभव होगा।

नामदेव ने भूखे कुत्ते को घी-रोटी खिलाई। उन्हींकी सन्तान के देश में आज भूखे आदमियों की भी कोई पूछ नहीं करता। कोई अद्वैत का अभिमानी शंकराचार्य राजाओं से यह नहीं कहता कि —'कर कम करो।' साहूकारों से यह नहीं कहता कि —'ब्याज में कमी करो।' कारखानेवालों को नहीं कहता कि—"मजदूरी बढ़ाओ और काम के घंटे कम करो।' नैवेद्य पर लम्बे-लम्बे हाथ मारकर और पाद्य पूजा

करवाकर घूमने-फिरनेवाले श्री शंकराचार्य क्या वन में अद्वैत लाने के लिए व्याकुल रहते हैं ?

सर्वे सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः।

"सब सुखी हों, सब स्वस्थ हों।" इस मन्त्र का जाप करने से सुख और स्वास्थ्य नहीं मिलता। मन्त्र का अर्थ है ध्येय। उस मन्त्र को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए मरना पड़ता है, मुसीवत उठानी पड़ती है। इस मन्त्र का जाप करते हुए भी कितने ही लोग सुखी नहीं हैं, कितने ही लोगों के पास दवाएं नहीं हैं, कितने ही लोगों को गन्दे मकानों में रहना पड़ता है, कितने ही लोगों को स्वच्छ हवा नहीं मिलती, साफ पानी नहीं मिलता, कितने ही लोगों को आरोग्य का ज्ञान नहीं, क्या कभी यह विचार भी मन में आता है ? हमारे अधिकांश लोगों पर चारों ओर दंभ ने सवारी गांठ रखी है। वड़े-वड़े वचन उनकी जवान पर होते हैं, मन में नहीं। जवतक धर्म को जीवन में नहीं उतारते तवतक जीवन सुन्दर नहीं हो सकता। रोटी का टुकड़ा केवल जवान पर रखने से काम नहीं चलता। उसे पेट में ले जाना पड़ता है, तभी शरीर सतेज और समर्थ होता है। जव महान् वचन कार्य-रूप में परिणत होंगे तभी समाज सुखी और स्वस्थ होगा।

ऋषि के आश्रम में प्रेम के प्रभाव से सर्प और चूहे एक ही जगह रहते थे। यह सत्य है कि हम इस आदर्श से वहुत दूर हैं। यह आदर्श शायद हमारी दृष्टि में ही नहीं आता कि मनुष्य अपने प्रेम-प्रकर्ष से विश्व के सारे विरोध दूर कर सकता है। लेकिन सारी मानव-जाति प्रेम से एक साथ हिल-मिलकर रहे, इसमें क्या कठिनाई है ? इस भारत-भूमि में ऋषि यह प्रयोग करने का प्रयत्न करते थे। अद्वैत का तारक मन्त्र देकर वे प्रेम और एकता निर्माण करने का प्रयत्न करते थे; लेकिन उनकी परंपरा को आगे वढ़ानेवाले भेदभाव फैला रहे हैं, विषमता वढ़ा रहे हैं।

यह सृष्टि एक प्रकार से अद्वैत की ही शिक्षा दे रही है। वादल सारा पानी दे डालते हैं, वृक्ष सारे फल दे डालते हैं, फूल सुगन्ध दे डालते हैं,

नदियां पानी दे डालती हैं, सूर्य-चन्द्र प्रकाश दे डालते हैं। उसी प्रकार जो-कुछ भी है वह सबको दे डालें। सब मिलकर उसका उपभोग करें। आकाश के सारे तारे सबके लिए हैं। ईश्वर की जीवनदायिनी हवा सबके लिए है। लेकिन मनुष्य दीवारें खड़ी करके अपने स्वामित्व की जायदाद बनाने लगता है। जमीन सबकी है। सब मिलकर उसे जोतें, बोएं व अनाज पैदा करें। लेकिन मनुष्य उसमें से एक अलग टुकड़ा करता है और कहता है कि यह मेरा टुकड़ा है। उसीसे ही संसार में अशान्ति पैदा होती है, द्वेप-मत्सर उत्पन्न होते हैं। स्वयं को समाज में घुला-मिला देना चाहिए। पिण्ड को ब्रह्माण्ड में मिला देना चाहिए। व्यक्ति आखिर समाज के लिए है, पत्थर इमारत के लिए है, बूंद समुद्र के लिए है। यह अद्वैत किसको दिखाई देता है? कौन अनुभव करता है? इस अद्वैत को जीवन में लाना ही महान आनन्द है?

जिसे चारों ओर लाखों भाई दिखाई देते हैं उसे कितनी कृतकृत्यता अनुभव होगी। संतों को इसी बात की प्यास थी, यही धुन थी—

वह सौभाग्य प्राप्त कब होगा
जब सबमें देखूंगा ब्रह्मरूप
तब होगा सुख का पार नहीं
लहरेगा सुख-सागर अनूप

जिसे सारा समाज अपने समान ही पूज्य प्रतीत होता है, प्रिय प्रतीत होता है, उसके भाग्य का वर्णन कौन कर सकता है?

जिधर देखा उधर
चैतन्य मूर्ति दिखाई देती है।

जहां-तहां चैतन्यमय मूर्ति ही दिखाई दे रही है। कंकर-पत्थरों में चैतन्य देखकर झूमनेवाला सन्त क्या मनुष्यों में चैतन्य नहीं देखेगा?

सर्वत्र तुम्हारे चरण देखता
सब दूर तुम्हारा रूप भरा

सब दूर वही स्वरूप है, चैतन्यमय आत्मा का स्वरूप है।

इस चैतन्यमय मूर्ति की सेवा करने के लिए संत व्याकुल रहता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि मेरे हजार हाथ होते तो मैं हजार बोलती-चालती सजीव मूर्तियों को कपड़े पहनाता और खिलाता-पिलाता।

लेकिन लाखों वस्त्रहीन, अन्नहीन चैतन्यमय देवों की पूजा करने के लिए कौन खड़ा रहता है? अद्वैत का अर्थ है मृत्यु, स्वयं की मृत्यु।

मैंने देखा निज मरण स्वयं आंखों से।

जबतक स्वयं नहीं मरते, चारों ओर फैले हुए परमेश्वर का दर्शन नहीं हो सकता। अपना अहंकार कम करो। अपनी पूजा कम करो। जैसे-जैसे तुम्हारे 'अहं' का रूप कम होता जायगा वैसे-वैसे तुम्हें परब्रह्म दीखने लगेगा। बुद्ध ने अपना निर्वाण कर दिया, अपने-आपको बुझा दिया। तभी वह चराचर को अमित प्यार दे सके।

अद्वैत का उच्चार करना मानो अपने स्वार्थी सुखों में आग लगाना है।

तुका कहे त्याग मोह प्राणों का
अन्यथा बातें करना छोड़।

यदि प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो तो वेदान्त की बातें करो। दूसरों के लिए दो पैसे नहीं, अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार होना ही अद्वैत की दीक्षा है।

जो अपने प्राण बिछाते हैं भूतमात्र के लिए सदा।

जो दूसरों के लिए अपने प्राणों के पांवड़े बिछाते हैं वे ही अद्वैत के अधिकारी हैं।

कहा जाता है कि शंकराचार्य के अद्वैत तत्वज्ञान की सिंह-गर्जना से दूसरे सारे तत्वज्ञान भाग खड़े हुए। सिंह को देखते ही स्यार-कुत्तों की कौन कहे, जबरदस्त हाथी के भी छक्के छूट जाते हैं। शंकराचार्य के अद्वैत के कारण द्वैतवादी भाग छूटे, लेकिन समाज से द्वैत नहीं भागा। समाज से दंभ, आलस्य, अज्ञान, रूढ़ि, भेदभाव, ऊंचनीचपन, स्पृश्या-स्पृश्यता, विषमता, दारिद्र्य, दैन्य, दासता, निर्बलता, भय आदि नहीं भागे हैं। यह सब द्वैत की प्रजा है। जहां समाज में परायापन पैदा हुआ कि ये सारे भयंकर दृश्य दिखाई देने लगते हैं। यदि भारतीय समाज

में बातों का अद्वैत दैनिक व्यवहार में थोड़ा भी दिखाने के लिए कोई सच्चे मन से जुट जाता तो भारत की यह दुर्गति न होती।

स्वामी विवेकानन्द ने भी इसलिए बड़े खेद के साथ कहा था, "हिन्दूधर्म के समान उदार तत्वों को बतानेवाला कोई दूसरा धर्म नहीं है और हिन्दू लोगों के समान प्रत्यक्ष आचार में इतने अनुदार लोग भी दूसरी जगह नहीं मिलेंगे।"

सैकड़ों वर्षों से अद्वैत का डंका बज रहा है, लेकिन अपने मठ छोड़कर जंगलों में जंगली लोगों के पास हम कभी नहीं गये। बुनकर, भील, गोंड आदि ऐसी जातियां हैं जिनसे अहंकार के कारण हम दूर रहे। अद्वैत के ऊपर भाष्य लिखनेवाले और उसे पढ़नेवाले प्रत्यक्ष दैनिक व्यवहार में मानो अद्वैत-शून्य दृष्टि से आचरण करते हैं।

अद्वैत भारतीय संस्कृति की आत्मा है। जीवन में इस तत्व को उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करते जाना ही भारतीय संस्कृति का विकास करना है। जैसे-जैसे हमारी अन्तर्बाह्य कृति में से अद्वैत की सुगन्धि आने लगेगी वैसे-वैसे यह कहा जायगा कि हम भारतीय संस्कृति की आत्मा समझने लगे हैं। तबतक उस संस्कृति का नाम लेना उस महान् ऋषि व महान् संत का मजाक उड़ाना नहीं तो और क्या है ?

: २ :

अद्वैत का साक्षात्कार

संपूर्ण निर्जीव व सजीव संसार में अद्वैत का अनुभव करना अन्तिम स्थिति है। मनुष्येतर चराचर सृष्टि के साथ भी अपनापन अनुभव होना, आत्मोपमता प्रतीत होना ही अद्वैत की पराकाष्ठा है। मनुष्य जब कभी यह स्थिति प्राप्त कर सके, करे। लेकिन कम-से-कम मनुष्य-जाति के प्रति क्या उसकी दृष्टि विशाल नहीं होनी चाहिए ?

इस भारत-भूमि में प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का संघर्ष शुरू हुआ। भारत के बाहर के आर्य व इस देश के महान् संस्कृति-वाले अनार्यों में बहुत-से झगड़े उत्पन्न हुए। वेदों में इन झगड़ों के वर्णन

हैं। दक्षिण की ओर के 'बन्दर' अनार्य ही थे। लंका का रावण आर्य था। वह उत्तर की ओर नासिक तक अपना साम्राज्य फैलाता हुआ आया। उसका और बालि का युद्ध हुआ। वह इस देश में रहनेवाले काले-सांवले लोगों को तुच्छता से वानर कहता था। लेकिन दूसरे कितने ही आर्य इन अनार्यों में प्रेम से मिल गए। अगस्त्य ऋषि विंध्य-पर्वत लांघकर आये और इन द्रविड़ लोगों में मिल गए। उन्होंने उन लोगों की भाषाओं के व्याकरण लिखे। तमिल भाषा के पहले व्याकरण-लेखक अगस्त्य ही माने जाते हैं। तमिल भाषा अत्यन्त प्राचीन व सुसंस्कृत भाषा है। आर्य ऋषियों ने अनार्य लोगों में अपने आश्रमों की स्थापना की। संस्कृति का आदान-प्रदान आरंभ हुआ। आर्य ऋषियों ने राम-चन्द्रजी से अनार्य लोगों का पक्ष लेने के लिए कहा। रामचन्द्रजी ने रावण को हराया। आर्य और अनार्यों को जोड़नेवाले रामचन्द्रजी ही पहले महापुरुष थे। रामचन्द्रजी प्रेम से सबको पास लाते हैं, अद्वैत बढ़ाते हैं, शान्तिपूर्वक रहना सिखाते हैं। रामचन्द्रजी मानवता के उपासक हैं। वह मानव-धर्म पहचानते हैं।

आर्य और अनार्य एक-दूसरे के साथ मिलने लगे। आपस में विवाह भी होने लगे। लेकिन कभी-कभी अपने आर्यत्व का बड़प्पन हांकनेवाले नेता भी दिखाई देते थे और वे अनार्यों का नाश कर दिया करते थे। जिस प्रकार हिटलर ने सारे यहूदी लोगों को भगा दिया था उसी प्रकार जनमेजय सारी नाग-जातियों को मिटाने पर तुल गया था। अर्जुन ने नाग-कन्या से विवाह किया था; परन्तु नाग-स्त्री से उत्पन्न होनेवाले बभ्रूवाहन को वह अभिमन्यु से हीन समझता था। नाग लोगों के एक नेता ने परीक्षित राजा का खून कर दिया। इससे जनमेजय चिढ़ गया। उसने अमानवीय आदेश दिया कि सारी नागजाति को जलाकर भस्म कर दो। जगह-जगह नाग लोग जिन्दा जलाये जाने लगे। यह घोषणा भी कर दी गई कि जो कोई नाग लोगों को आश्रय देगा उसे भी यही सजा दी जायगी।

ऐसे समय भारतीय संस्कृति के संरक्षक भगवान आस्तिक प्रकट हुए। जिसकी मांगल्य पर श्रद्धा है वही सच्चा आस्तिक है। जो अद्वैत

का निर्माण कर सके, वही सच्चा आस्तिक है। आस्तिक ऋषि प्रत्यक्ष व्यवहार में अद्वैत देखना चाहते थे। दृश्य संसार के विरोध-वैषम्य को दूर करने का प्रयत्न न करके केवल परलोक की बातें करनेवाले ही सच-मुच नास्तिक हैं। जो अपने आसपास सुन्दरता का निर्माण करना चाहे वही सच्चा आस्तिक है। आज जो आस्तिक कहे जाते हैं वे वास्तव में नास्तिक हैं। गीता में कहा गया है कि यज्ञ न करनेवाले को यह लोक तो मिलता ही नहीं, फिर परलोक की तो बात ही क्या ? अर्थात् वे इस लोक का महत्त्व बताते हैं। जीवयात्रा, लोकयात्रा आदि शब्दों को प्राचीन मुनि महत्त्वपूर्ण समझते थे। वे गृहस्थी को तुच्छ नहीं मानते थे। केवल अपना-अपना ही देखना मिथ्या है, लेकिन यदि समाज के ध्येय को ही अपना ध्येय मान लिया जाय तो वह मिथ्या नहीं है। इस संसार में मैं अकेला क्या कर सकता हूं ? समाज के कारण मेरा पालन हो रहा है। इस समाज की सेवा करने में ही व्यक्ति का विकास है।

वह आस्तिक महर्षि समाज के टुकड़े होते हुए किस प्रकार शान्ति से देख सकता था ? आस्तिक खड़ा हुआ और नागों को जलानेवाले जनमेजय के सामने खड़ा हुआ। आस्तिक की मां नागकन्या ही थी। आस्तिक ने जनमेजय से कहा, "अरे, मुझे भी ज्वाला की भेंट कर दे। मैं भी नागकन्या के गर्भ से पैदा हुआ हूं।" तपस्वी आस्तिक का महान् त्याग देखकर जनमेजय की आंखें खुलीं। नाग-जाति को हीन क्यों समझा जाय ? जिस जाति में आस्तिक जैसे विश्ववंद्य व्यक्ति पैदा होते हैं, क्या वह जाति तुच्छ है ?

जनमेजय ने आस्तिक के पैर पकड़ लिये। वह नागयज्ञ बन्द हो गया। उस दिन आस्तिक ने बताया कि 'भारत का भविष्य उज्ज्वल है।' उसने कहा, "जनमेजय, संसार में न कोई ऊंच है, न कोई नीच। सब में दिव्यता है। आर्यों में कुछ गुण हैं तो अनार्यों में भी हैं। दोनों में दोष भी हैं। हमें एक-दूसरे के दोषों को न देखते हुए उनमें छिपे हुए गुण ही देखने चाहिएं। जो दूसरी जाति को हीन समझे उसे ही नास्तिक समझो। इस महान् देश में अनेक जातियां और वंश हैं। तुम आर्य

लोग बाहर से आये हो। और भी जातियां इसी प्रकार आयंगी। तुम आज जो रिवाज प्रचलित करोगे वही आगे भी चलेगा। यह प्रयोग होने दो कि इस भारत-भूमि में सैकड़ों जातियां एक साथ रहती हैं। आज आर्य और अनार्य एक हो जाओ। आर्यों के देवताओं को अनार्य भी मानने लगें। आर्यों के अच्छे रीति-रिवाज अनार्य लें और अनार्यों के अच्छे रीति-रिवाज आर्य लें। इस प्रकार नई भव्य संस्कृति का निर्माण होने दो। भारतीय संस्कृति मानो सहस्र पंखड़ियों का सुन्दर शतरंगी कमल है। इस फूल में अलग-अलग सैकड़ों प्रकार की सुगन्धि पैदा होने दो। जनमेजय! नागजाति सर्प को बहुत प्रिय व पूज्य समझती है। तेरे पिता ने एक सांप मारकर उसे एक ऋषि के गले में डाल दिया। यह नागों के देवता का उपहास था। तुम भी नाग लोगों की पूजा शुरू कर दो। नागपंचमी का दिन हम पंचांग में प्रचलित कर दें। आर्य और नाग जातियों की एकता का यह चिह्न भावी पीढ़ियों का मार्गदर्शन करेगा।"

यह भारतीय संस्कृति की महान् विशेषता है। अभेद में भेद और भेद में अभेद, यही भारतीय संस्कृति का स्वरूप है। उस प्राचीन ऋषि ने इस पृथ्वी जितना मूल्यवान मन्त्र बता दिया है—

"एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"

सत्य वस्तु एक ही है। लेकिन उसे नाना प्रकार से संबोधित किया जाता है। सैकड़ों देवता एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं। जिस प्रकार एक ही पानी को जल, नीर, वारि आदि नामों से हम पुकारते हैं उसी प्रकार इस विश्व की आधार-शक्ति को भी हम कई नामों से पुकारते हैं। हम इन नामों के लिए लड़ते हैं। यदि उसका आन्तरिक अर्थ देखें तो हमें अपने किये हुए अनर्थों पर हँसी आयगी। हम लज्जा से सिर झुका लेंगे।

आर्य और अनार्यों के सैकड़ों देवताओं का एकीकरण कर लिया गया। देवताओं की एकता करके मनुष्यों का भी ऐक्य किया गया। देवता के हीन स्वरूप को आध्यात्मिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया। अद्वैत अनुभव करने का यह कितना महान् प्रयत्न था!

भारतीय संस्कृति में प्रत्येक तत्त्व मन पर अंकित करने के लिए कुछ प्रतीक बताये गए हैं, परन्तु इन प्रतीकों का महत्त्व कम हो गया है और वे निर्जीव, निष्प्राण हो जाते हैं। प्रतीक का वास्तविक अर्थ लुप्त हो जाता है और प्रतीक की पूजा केवल यन्त्र की तरह होती है। अद्वैत का तत्त्व मन पर अंकित करने के लिए एक महान् प्रतीक बनाया गया है।

हमें शिक्षा दी जाती है कि समुद्र का स्नान करने जाओ, संगम का स्नान करने जाओ, नदी का स्नान करने जाओ। हम जहां स्नान करते हैं वहां शरीर स्वच्छ होने के साथ ही उसका भाव भी मन में बैठ जाता है।

नदी में डूबा हुआ सिर नदी की भांति होगा। नदी पाप दूर करती है। सिर की गन्दगी और हृदय की गन्दगी, शरीर की गन्दगी के साथ बह जाती है। नदी क्या है? नदी है—सैकड़ों जगह के छोटे-मोटे प्रवाहों का परम मंगल अद्वैत दर्शन। नदी मानो अद्वैत की मूर्ति है। नदी मानो सुन्दर उदार परमोच्च सहयोग है। वे सैकड़ों प्रवाह एक-दूसरे को तुच्छ नहीं मानते। चाहे गन्दी नाली हो, चाहे अन्य कोई प्रवाह हो, सब प्रवाह एकत्र हो जाते हैं। सारे प्रवाह इस अमर श्रद्धा से एक-दूसरे के साथ मिल जाते हैं कि हमारी गन्दगी नीचे बैठ जायगी और प्रसन्नता प्रकट होगी। एक-दूसरे के साथ सहयोग करने से उसका महान् प्रवाह बन जाता है। यदि ये प्रवाह एक-दूसरे से अहंकार के कारण दूर रहते तो उनका विकास न हुआ होता। उन्हें लम्बाई, चौड़ाई और गहराई प्राप्त न हुई होती। वह सैकड़ों एकड़ जमीन को हरी-भरी न बना पाते। वे अहंकारी प्रवाह सूख गए होते। समाप्त हो गए होते। उनमें कीड़े पड़ गए होते। लेकिन वे एक-दूसरे की अच्छी पवित्रता देखकर एकत्र हुए और महान् नदी का निर्माण हो गया।

नदी में नहानेवाले सिर में यह उत्पन्न होना चाहिए। नदी का यह अद्वैत गीत बुद्धि को सुनाई देना चाहिए। लेकिन गंगा में स्नान करनेवाले गंगापुत्र पत्थर से भी गये-बीते रहते हैं। सारे प्रवाहों को अपने में मिला लेनेवाली नदी में खड़े होकर वे दूसरों का उपहास करते

हैं। 'तू तुच्छ है', 'तू पतित है', 'उधर जा', रुद्र का उच्चारण करते हुए और नदी में स्नान करते हुए वे मानवों का अपमान करते हैं। वे सैकड़ों वर्षों से नदी में सिर डुबा रहे हैं; लेकिन उनका सिर खोखला ही रहा है।

नदी की अपेक्षा संगम तो और अधिक पवित्र है। अद्वैत का अनुभव करनेवाले दो संतों की भेंट कितना पवित्र दर्शन है। वसिष्ठ-वामदेव की भेंट, रामदास-तुकाराम की भेंट, महात्माजी व रवीन्द्रनाथ की भेंट एक महान् काव्य है।

"सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति"

हजारों प्रवाहों को अपने पेट में लेती हुई एक नदी आती है, वैसी ही एक नदी दूसरी ओर से आती है और एक-दूसरे के गले मिलती है।

गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम को हमने बहुत पवित्र माना है। एक ही शुभ्र, स्वच्छ और उच्च हिमालय से गंगा-यमुना निकलीं। लेकिन गंगा ज़रा गोरी है। वह अहंकार से ऊपर-ऊपर चली। यमुना काली। वह ज़रा दूर-दूर से चली। लेकिन काली यमुना को प्रेम से गले लगाये बिना गंगा के लिए शतमुखों से सागर में मिलना संभव नहीं था। वह अहंकारी गंगा नम्रता से ठहरी। उधर से यमुना आई। गंगा ने हाथ बढ़ाए, "आ यमुना, आ। तू काली है। अतः मैंने तुझे तुच्छ माना था। लेकिन तेरे किनारे पर गोपालकृष्ण ने भक्ति-प्रेम की वर्षा की है। राजा-रंक एक किये, सहनौ भुनक्तु का अनुभव कराया। ऐक्य की वंशी तेरे किनारे पर बजी। आकाश के देवता तेरे पानी में मछलियां बने। तेरी महिमा महान् है। तू देखने में तो काली-सांवली है, लेकिन अन्दर हृदय में अत्यन्त निर्मल है। आ, मुझसे मिल।" गंगा गद्गद् हो गई। आगे वह कुछ बोल न सकी।

यमुना भी उमड़ पड़ी। वह बोली, "गंगाबहन, तू मेरी प्रशंसा करती है, लेकिन तेरी महिमा भी अपार है। मेरे किनारे भक्ति का विकास हुआ, लेकिन तेरे किनारे पर ज्ञान का विकास हुआ। योगिराज भगवान् पशुपति तेरे किनारे पर तल्लीन हो गए। तेरे किनारे पर सैकड़ों ऋषि-महर्षि तपस्या करते हैं। बड़े-बड़े राजा राज्य को तृणवत्

मानकर तेरे किनारे पर ब्रह्मचिंतन करते हैं। गंगावहन, तू तो मूर्तज्ञान है। मुझे अपने शुभ्र चरणों में गिरने दे।"

गुप्त रहनेवाली सरस्वती की गंभीर वाणी सुनाई दी, "ज्ञान के विना भक्ति अंधी है। भक्ति के विना ज्ञान रूखा है और कर्म में अवतरित हुए विना ज्ञान और भक्ति का कोई अर्थ नहीं। ज्ञानमयी गंगा को भक्तिमय यमुना में मिलने दो और कर्ममय सरस्वती को भक्ति-ज्ञान का स्पर्श होने दो।"

गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम मानो ज्ञान, भक्ति व कर्म का संगम ही मुझे प्रतीत होता है। गंगा-जमनी वरतनों को हम पवित्र मानते हैं। जव दोनों आंखों से आंसू वहने लगते हैं तो हम उसे गंगा-यमुना कहते हैं। गंगा-यमुना हमारे जीवन में समा गई हैं। परन्तु जहां उन्हें समाना चाहिए था वहां वे अव भी नहीं समा पाई हैं। मध्यम श्रेणी के लोगों की गंगा काले-सांवले श्रमजीवी लोगों की यमुना में अभी नहीं मिली है। मध्यम श्रेणी के लोग अपनेको पवित्र व शुद्ध मानकर जन-समाज से दूर रहे हैं। जवतक वरिष्ठ वर्ग या कनिष्ठ वर्ग पास आकर प्रेम को नहीं अपनाते हैं तबतक भारत के भाग्य में लिखी हुई दासता मिट नहीं सकती।

समुद्र में स्नान करना तो पवित्रता की चरम सीमा है।

"सागरे सर्वतीर्थानि"

संसार के सारे प्रवाह समुद्र अपने में मिला लेता है। इसलिए वह हमेशा उमड़ता रहता है। चाहे वर्षा हो या न हो, समुद्र सूखना नहीं जानता। ऋषि कहते हैं, "जो सबको अपने पास लेता है उसके पास सव तीर्थ हैं।"

"देव रोकड़ा सज्जनी"

भेदाभेद जलाकर सवको अपने हृदय में रखनेवाले सज्जनों के पास साक्षात् ईश्वर ही है। प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला परमेश्वर नहीं है।

भारतीय संतों ने इस प्रकार यह पाठ हमें सिखाया। लेकिन उसके महान् अर्थ को हम कभी नहीं समझे। संगम और समुद्रों में स्नान करने

से पाप नहीं धुलेंगे। उन संगमों और समुद्रों में स्नान करके वापस आने पर उनके अद्वैत के महान् सन्देश को प्रत्यक्ष जीवन में लाने से ही समाज निष्पाप होगा, निर्दोष होगा। समाज में कोई कमी नहीं रहेगी, कोई गन्दगी नहीं रहेगी। दुःख नहीं दिखाई देगा। सब ओर प्रसन्नता का वातावरण निर्माण होगा।

कौन-सा भारतपुत्र इस प्रकार अपने जीवन में अद्वैत का साक्षात्कार कर रहा है? हमने सब जगह संकुचित गड्ढे बना रखे हैं। चित्पावन, देशस्थ, यजुर्वेदी, शुक्ल यजुर्वेदी, मैत्रायणी, हिरण्यकेशी आदि ब्राह्मणों में ही सैकड़ों छोटे-छोटे गड्ढे हैं। पहले एक-एक जाति का एक-एक गड्ढा था और अब उस गड्ढे में फिर एक और गड्ढा हो गया है।

जाति-जाति के, स्पृश्यास्पृश्य के, ब्राह्मण ब्राह्मणेतर के, हिन्दू-मुसलमान के सैकड़ों घेरे हैं। इसके अलावा गुजराती, महाराष्ट्रीय, मद्रासी व बंगाली आदि प्रान्तीय गड्ढे हैं। गड्ढे में रहनेवालों को प्रसन्नता का प्रसाद तो मिलता ही नहीं है। गड्ढे का पानी रुका कि गन्दगी पैदा होती है। यदि आप यह चाहते हैं कि भारतवर्ष में फिर सुदिन आएं तो इन गड्ढों को दूर करने के लिए हमें उठना चाहिए। भेदों की दीवार मिटा देनी चाहिए। सारे प्रवाह को प्रेम से पास आने दीजिए। सागर को उमड़ने दीजिये।

"मैं भेद जला दूंगा सारे, दे-देकर वेदों की साक्षी"

तुकाराम महाराज यह प्रतिज्ञा कर रहे हैं। समाज के कल्याण की व्याकुलता जिस व्यक्ति में होगी, वह ऐसी ही प्रतिज्ञा करेगा।

भारतीय संस्कृति के उपासको! आपलोगों ने अबतक जितने पाप किये हैं वे काफी हैं। उठो और हरिजनों को गले लगाओ। सारी पद-दलित जनता को गले लगाओ। हम सब एक ही ईश्वर के पुत्र हैं। हम एक ही शुभ्र-स्वच्छ चैतन्य के स्वरूप हैं। हम जितने-जितने प्रेममय बनेंगे—अद्वैत बनेंगे, उतने-उतने ही हम आनन्द से, सौभाग्य से, उमड़ पड़ेंगे।

जो दूसरे का तिरस्कार करेगा वह स्वयं तिरस्कृत किया जायगा। जो दूसरे को तुच्छ समझेगा वही ठुकराया जायगा। आज हम अपने ही पापों का फल भोग रहे हैं। हमने जिस दासता को बोया था वही आज पूरी तरह फल रही है। हमने सब जगह दासता की पुष्टि की, पुरुषों की स्त्रियों पर लादी हुई दासता, स्पृश्यों की अस्पृश्यों पर दासता, धनिकों की गरीबों पर दासता, साहूकार की कर्जदार पर दासता, ज्ञानियों के द्वारा अज्ञान जनता पर लादी हुई दासता, इस प्रकार हमने शतमुखी गुलामी का निर्माण किया और आज पूरी तरह गुलाम हो गए हैं। मराठों का राज्य अद्वैत के आधार पर निर्माण हुआ। लेकिन भेदों के निर्माण होते ही वह मिट गया। "उन सबको मिला लो जो-जो भी मराठे हैं", इस मन्त्र से मराठों का राज्य अस्तित्व में आया, लेकिन ब्राह्मण, मराठे, प्रभू, शूद्र आदि की आपस में स्पर्धा शुरू हुई, ऊंच-नीचपन प्रारम्भ हुआ और भगवा झंडा जलकर राख हो गया। मराठे उत्तर हिन्दुस्तान में गए। उन्होंने राजपूत, जाट आदि लोगों को अपने साथ नहीं मिलाया। इसीसे मराठों का पराभव हुआ। धीरे-धीरे एक्यता स्थापित करनी चाहिए थी। 'उन सबको मिला लो जो-जो भी मराठे हैं'—यह कहनेवाले समर्थ हुए। 'हिन्दू मात्र को मिलाना चाहिए'—यह बात कहनेवाले किसी दूसरे समर्थ की आवश्यकता थी और आज 'सारे हिन्दुस्तानियों को मिला लो' यह कहनेवाले महात्मा की जरूरत है।

जीवन में इस प्रकार के अद्वैत का अनुभव करनेवाले महात्मा ही मानवजाति की आशा हैं। मनुष्यजाति कितनी ऊंची जा सकती है, यह बात महापुरुष दिखाते रहते हैं। आकाश में करोड़ों डिग्री ताप से सूर्य जलता रहता है, तब कहीं हमारे शरीर में ९८ डिग्री उष्णता आ पाती है। भगवान् बुद्ध जैसे महात्मा बाघिनी पर भी प्रेम रखते थे, तब कहीं मनुष्य अपने पड़ोसी पर थोड़ी दया दिखाने के लिए तैयार होता है। समाज को आगे बढ़ाने के लिए, ऊंचा उठाने के लिए, विश्व-प्रेमी मनुष्यों की नितान्त आवश्यकता है। जब वे अपने जीवन में प्रेम का सागर लहराने लगते हैं तब कहीं प्रेम का एक बिन्दु हमारे जीवन में

आने की संभावना होती है। अपनी तपस्या और प्रेम से संत समाज को धारण करते हैं।

"सन्तोः तपसा भूमिं धारयन्ति।"

हमारे पूर्वज अद्वैत का जप करके जीवन में संगति लाते थे। हिन्दू-मुसलमानों की एकता के सम्वन्ध में भी वे आशावादी थे। हिन्दुओं के मन्दिरों को मुसलमान राजाओं ने भेंट चढ़ाई और मुसलमान पीरों को हिन्दू राजाओं ने जागीरें दीं। हिन्दू राजा मोहर्रम मनाते थे और हिन्दु त्योहारों में मुसलमान भी आते थे। अमलनेर के सखाराम महाराज के रथ को सबसे पहले अपने कन्धे पर उठाने का सौभाग्य मुसलमानों को है और उनको नारियल, प्रसाद आदि दिये जाते हैं। हिन्दुओं के रथ का मुसलमान भाइयों द्वारा उठाया जाना आजकल तो मूर्खता एवं स्वाभिमान-शून्यता समझी जायगी, लेकिन पूर्वजों की दृष्टि बहुत वड़ी थी। भारत में आये हुए सब लोगों में प्रेम-सम्वन्ध स्थापित करना उनका प्रारम्भिक पवित्र कर्त्तव्य था। आस्तिक मुनि ने जो अमरज्योति जलाई थी उसे बुझाना नहीं चाहते थे। मुसलमानों के मोहर्रम में हिन्दू भी शामिल होते थे। हिन्दू जमींदारों के घर ताजिये आते थे। मुसलमानों को नारियल और गुड़ दिया जाता था। अपने गांव में बचपन में मैंने यह प्रेम से भरा हुआ सम्वन्व देखा है। गरीव मुसलमान वालक हमसे कागज मांगने आते थे और हम उनको देते थे। अपने पड़ोसी भाई का ताजिया अच्छा बनने दीजिये।

हिन्दुओं के उत्सवों में यदि मुसलमानों को वुलाते हैं तो वे आते हैं। मेरे एक मित्र के पास एक मुसलमान लड़के ने प्रेम से गणपति अथर्व-शीर्ष सीखा। अमलनेर के मेरे एक मित्र के पास दत्त-जयन्ती के अवसर पर मुसलमान मित्र आये थे।

हमारी अपेक्षा हमारे पूर्वज समाजशास्त्र को अधिक जानते थे। हम साम्राज्यवादी विदेशी सत्ता के गुलाम हो गए थे। विदेशी लोग हमारे अन्दर भेद पैदा कर रहे थे। हम भी भेद पैदा करते हैं। भेद डालकर गुलामी लादनेवाली सरकार की हम मदद कर रहे थे। भेद

की दवा अभेद ही है। विष का इलाज अमृत ही है, किसी और से कुछ नहीं होगा।

आइये, हम पूर्वजों के प्रयोग को आगे बढ़ाएं। अद्वैत का अधिक साक्षात्कार करें। इस भारतभूमि में ऐक्य निर्माण करके फिर संसार को बुलाएं। यह भारत-भूमि मानवजाति का तीर्थ-क्षेत्र बन जायगी। सारे धर्म, भिन्न-भिन्न संस्कृति यहां एक साथ रह रहे हैं, यह देखकर सारे देश इसके चरणों में गिर जायंगे। इस ईश्वरदत्त महान् कार्य को ही हमें साधना है। यह महान् ध्येय हमें पुकार रहा है। इस महान् ध्येय के लिए शेष सारी क्षूद्रता हमें झटककर फेंक देनी चाहिए। भारतीय संस्कृति के उपासकों को श्रद्धा से त्यागपूर्वक इसके लिए खड़ा हो जाना चाहिए।

: ३ :

बुद्धि की महिमा

भारतीय संस्कृति में अंधश्रद्धा के लिए स्थान नहीं है। वहां सर्वत्र विचारों की महिमा गाई हुई दिखाई देगी। वेद भारतीय संस्कृति के आधार माने जाते हैं। लेकिन वेद का अर्थ क्या है? वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान भारतीय संस्कृति का आधार है। यह भव्य संस्कृति ज्ञान के आधार पर बनाई गई है।

वेद कितने हैं? वेद अनन्त हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, केवल इतने ही वेद नहीं हैं। भारतीय संस्कृति का केवल एक ही ऋषि नहीं है, एक ही पैगम्बर नहीं है, एक ही वेद नहीं है। भारतीय संस्कृति आकाश की भांति विशाल और सागर की भांति अपार है।

जीवन को सुन्दर बनानेवाला प्रत्येक विचार ही मानो वेद है। आयुर्वेद बतायगा कि हम अपना जीवन किस प्रकार आनन्दपूर्ण व उत्साही बना सकेंगे। धनुर्वेद बतायगा कि समाज की रक्षा किस प्रकार की जानी चाहिए। समाज का मनोरंजन कैसे किया जाय, समाज के दुःखों को कैसे

भुलाया जाय, यह बात गान्धर्व वेद बतायगा। ये सब वेद ही हैं।

काल अनन्त है और ज्ञान भी अनन्त है। नये-नये ज्ञान का उदय होगा और भारतीय संस्कृति सबसे पहले उसका सत्कार करने के लिए खड़ी रहेगी। भारतीय संस्कृति ज्ञान से अधिक पवित्र किसीको नहीं मानती। भारतीय संस्कृति में ज्ञानोपासकों के लिए अत्यन्त आदर की भावना है।

एक ही समय सारे ऋषि हुए, यह बात भारतीय संस्कृति कभी भी नहीं मानेगी। ऐसा कहना अहंकार है। वह परमेश्वर का अपमान है। यदि सारा ज्ञान समाप्त हो गया तो फिर सृष्टि के अस्तित्व की कुछ जरूरत नहीं। बस दाना पड़ा कि ज्वार काटना ही शेष रह जायगा। उसी प्रकार यदि शोध के लिए कुछ नहीं रहे तो फिर मनुष्य की उत्पत्ति का भी कोई अर्थ नहीं रहेगा।

नवीन-नवीन विचार पैदा होते हैं, नया-नया ज्ञान हमको मिलता है। यूरेनस व नेप्चून पहले नहीं दिखाई देते थे। अब वे दिखाई देने लगे हैं। खगोल में जिस प्रकार नये-नये तारे दिखाई देते हैं, उसी प्रकार जीवन के शास्त्र में भी नवीन-नवीन विचार उत्पन्न होते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो कह सकते हैं कि दूसरे सारे शास्त्रों की अपेक्षा यह जीवनशास्त्र बिलकुल प्रयोगावस्था में है। इस जीवन के शास्त्र में अभी कुछ भी निश्चित नहीं है। रेखागणित में कुछ स्वयंसिद्ध, शंकातीत, संशयातीत तत्व हैं। हम पृथ्वी में कहीं भी क्यों न जायं, गणितशास्त्र के इस सिद्धान्त में कि दो और दो चार होते हैं कोई अन्तर नहीं होता। लेकिन यह नहीं मान सकते कि जीवन के शास्त्र में कोई एक भी तत्व इस प्रकार का है। यह बात अपवादरहित निश्शंक होकर नहीं मान सकते। सत्य अच्छा है या बुरा, अहिंसा उचित है या अनुचित, ब्रह्मचर्य रखें या न रखें, इनका निश्चित उत्तर अब भी मानवी मन नहीं दे पाता है।

ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति किसी बात का आग्रह नहीं करती। 'बुद्धेः फलमनाग्रहः'। बुद्धिमान मनुष्य किसी भी तत्व के लिए आग्रह नहीं रखता। श्रीकृष्ण ने अन्त में अर्जुन को यह कहकर कि "यथेच्छसि

तथा कुरु" उसकी वुद्धि को महत्त्व दिया है। वेद धर्म का अर्थ है विचार के अनुसार आचार करना। जैसा वुद्धि कहे वैसा आचरण करना। भारतीय संस्कृति कह रही है, "मेरे उर के ज्ञान-दीप को वुझा न देना, स्वामी।" देखो, तुम्हारे स्वयं के हृदय में वुद्धि क्या कहती है। जो निश्शंक आवाज सुनाई दे, उसीके अनुसार आचरण कर। "मनः पूतं समाचरेत्", इसका यही अर्थ है। इसलिए नहीं कि अमुक ऋषि कहते हैं, इसलिए नहीं कि अमुक तत्वज्ञानी कहते हैं, लेकिन तुम्हारे मन को जो अच्छा लगे, वही तुम करो। अपनी आत्मा का अपमान मत करो। अपनी वुद्धि का गला मत घोटो।

'वेद अपौरुपेय हैं' आदि कल्पनाएं भ्रामक हैं। यह सब मानवी वुद्धि का प्रसार है। वेद को मानना मानो वुद्धि को ही मानना है। वेद में सवसे अधिक पवित्र मन्त्र है गायत्री मन्त्र। इस गायत्री मन्त्र का इतना महत्त्व क्यों है? इस मन्त्र की उपासना करने से मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। इस मन्त्र में ऐसी क्या वात है? इस मन्त्र में वुद्धि की निर्मलता के लिए प्रार्थना की गई है।

हम तेजस्वी प्रेरणा देनेवाले सूर्य के अत्यन्त श्रेष्ठ तेज की उपासना करते हैं। वह सूय हमारी वुद्धि को तीव्र वनाता है। विश्वामित्र ऋषि ने भगवान् से अपने समाज के लिए निर्मल वुद्धि मांगी। वेद में भगवान् से 'गाय दे, पुत्र दे, यश दे' आदि सैकड़ों याचनाएं की गई हैं। लेकिन उन सारे मन्त्रों की अपेक्षा यह छोटा मन्त्र अत्यन्त श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। इससे यह प्रकट हो जाता है कि भारतीय पूर्वज किस वस्तु को सवसे ज्यादा महत्त्व देते थे।

मनु ने एक स्थान पर स्पष्ट रूप से कह दिया है कि यदि मेरी वात तर्कसंगत हो तो मानो, नहीं तो छोड़ दो। शंकराचार्य कहते हैं कि यदि सैकड़ों श्रुति भी आकर यह कहें कि अग्नि ठंडी है तो उसको कौन महत्त्व देगा? प्राचीन ऋषि कहते हैं कि तर्क की कसौटी पर कसने के वाद जो खरा उतरे, उसी ज्ञान-धन को पूज्य समझो।

महाभारत में भीष्म से प्रश्न किया गया है, "कोऽयं धर्मः कुतो धर्मः?" यह धर्म कहां से आता है? क्या ईश्वर आकर कान में यह

धर्म कह जाता है ? भीष्म ने कहा कि विचारशील लोग चिन्तन एवं अध्ययन करके इस धर्म का निर्माण करते हैं।

'मतिभिरुद्धृतम्', वे अपनी-अपनी बुद्धि से तत्व की खोज करते हैं। वेद-धम का अर्थ है विचार-धर्म। वेद-धर्म का अर्थ है बुद्धि-प्रधान धर्म। एक श्रुति की बात दूसरी श्रुति को ही नहीं जंचती। एक स्मृति की वात दूसरी स्मृति से मेल नहीं खाती। एक ऋषि का कथन दूसरे ऋषि को स्वीकार नहीं होता। इसका क्या मतलव है ? इसका मतलव यही है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से विचार करता था। उनके कालों में जैसी-जैसी स्थिति थी उसीके अनुसार वे विचार करते थे। वे तेजस्वी गायत्री मंत्र की उपासना करनेवाले थे । पद-पद पर वे सुधार करते थे। उनको 'वावा वाक्यं प्रमाण' से वहुत चिढ़ थीं। वे चर्चा करते थे। सभा करते थे। शान्तिपूर्वक ज्ञान-चर्चा करते थे।

यदि प्राचीन काल पर ऊपर-ऊपर से ही साधारण दृष्टि डालें तो विचारों का एक जवरदस्त आन्दोलन दिखाई पड़ेगा। भास्कराचार्य के केवल निरुक्त को ही देखें तो वेदान्त के अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टियोंवाले सैकड़ों मण्डलों के नाम आये हैं। इति नैरुक्तिकः, इति आख्यायिकः, इति ऐतिहासिकः, इस प्रकार के भिन्न-भिन्न अध्ययन मण्डलों के नाम यास्क ने दिये हैं। इसी प्रकार उपनिषद्-काल में सर्वत्र तत्वज्ञान की अखण्ड एवं जवरदस्त चर्चा चलती हुई दिखाई देती है। सैकड़ों मत, सैकड़ों पंथ और सैकड़ों सूक्ष्म भेद वाले तत्वज्ञान हमें दिखाई देते हैं। वे खुले दिल से वादविवाद करते हैं। यदि बात जंच जाती है तो उसे स्वीकार कर लेते हैं, उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं। इस प्रकार की वातें वहां दिखाई देती हैं । वे निश्शंकता और निर्भयता से अपने विचार उपस्थित करते थे। लोग उस चर्चा को सुनने के लिए इकट्ठे होते थे।

मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते थे । चार्वाकपंथी परलोक आदि को नहीं मानते थे। कणाद आदि कहते थे कि सारी सृष्टि परमाणुओं से वनी है। बुद्ध के अनुयायी यह मानते हैं कि सब क्षणिक हैं। इस

प्रकार सैकड़ों मत थे, लेकिन किसीको भी सताया नहीं गया । यूरोप के नये विचार देनेवालों की होली जला दी गई। लेकिन भारत में ऐसा नहीं हुआ। यहां प्रत्येक व्यक्ति के प्रामाणिक मत का मान किया गया।

ज्ञान कोई लड़कपन नहीं समझा जाता था। एक-एक बात समझने के लिए तपस्या की जाती थी। उपनिषद् में अनेक स्थानों पर यह दिखाया गया है कि ज्ञान के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करके किस प्रकार तपश्चर्या की जाती थी, किस प्रकार चिन्तन में मग्न हो जाया जाता था। ज्ञान-प्राप्ति के लिए वे किसीके भी पास चले जाते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय के पास जाता था, क्षत्रिय ब्राह्मण के पास जाता था। ब्राह्मण तुलाधार जैसे वैश्य के पास ज्ञान के लिए नम्रतापूर्वक जाता था। ज्ञान कहीं भी हो, वह पवित्र है। सूर्य का प्रकाश कहीं से आये उसे तो लेना ही चाहिए। वृक्ष की जड़ जहां भी हो वहां से नमी लेने का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार की दृष्टि ज्ञानोपासकों की होनी चाहिए। देवताओं का कच दैत्यों के गुरु के पास भी जाता था और देवताओं का गुरु भी शत्रु की ओर के शिष्यों को प्रेम से सारा ज्ञान देता था। ज्ञान के प्रान्त में कोई शत्रु-मित्र नहीं है।

नचिकेता ने प्रत्यक्ष मृत्यु से भी ज्ञान की ही भिक्षा मांगी। इससे अधिक ज्ञान का महत्त्व और क्या हो सकता है ? ज्ञान के लिए मृत्यु के पास भी जाना पड़ेगा। ज्ञान किसीसे भी नहीं डरता। ज्ञान की इच्छा रखनेवाला तीनों लोकों में जायगा और उसके लिए जो भी आवश्यक होगा, करने के लिए तैयार रहेगा।

समाज को नव-विचार देना मानो एक महान् साधना ही है। समाज को विचार-रूपी आंख देने से बढ़कर और क्या हो सकता है ? चिंतन के बाद जो विचार सूझे उसे पूज्य मानकर हमेशा प्रकट करना चाहिए। उसको बढ़ाते रहना चाहिए। उसको सबके सामने निर्भयतापूर्वक रखना चाहिए। उसको छोड़ना नहीं चाहिए।

ज्ञान का बाह्य स्वरूप कोई भी हो, यह देख लेना चाहिए कि उन बाह्यांगों की पूजा करने के लिए निस्स्वार्थी रूप से किस प्रकार प्रयत्न

करता है। ज्ञान का बाह्यांग व्याकरण होगा। व्याकरण-रूपी परब्रह्म की कोई पाणिनि दिन-रात पूजा करना चाहेगा? भारतीय संस्कृति उस पाणिनि को भगवान् का पद दे देगी। शंकराचार्य पाणिनि का उल्लेख हमेशा 'भगवान् पाणिनि' कहकर करते हैं। पाणिनि ज्ञान के एक स्वरूप में रम गए। उनको दूसरी-तीसरी कोई बात सूझती ही नहीं थी, पसन्द नहीं आती थी। व्याकरण ही मानो उनका वेदान्त था। उनके पास जो भी आता वह उसे व्याकरण सिखाते। एक दिन जब वह तपोवन में व्याकरण सिखा रहे थे कि एकाएक बाघ आया। बाघ को देखकर पाणिनि नहीं भागे। बाघ को देखकर वे व्याघ्र शब्द की व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ सूंघता-सूंघता आ रहा था। पाणिनि बोले—"इस सूंघते-सूंघते आनेवाले बाघ को देखो। व्याजिघ्रति स व्याघ्रः।" पाणिनि व्युत्पत्ति समझाने के आनन्द में मग्न थे। लेकिन शिष्य कबके ही भाग गए थे। बाघ ने झपटकर पाणिनि को खा डाला। ज्ञान की कितनी बड़ी उपासना है! ज्ञान का उपासक सबकुछ भूल जाता है। वह उन विचारों में तन्मय हो जाता है मानो उसकी समाधि ही लग जाती है। समाधि का अर्थ है सर्वत्र ध्येय का ही साक्षात्कार करना। समाधि का अर्थ है ध्येयेतर सृष्टि का विस्मरण। समाधि का अर्थ सारी सृष्टि का विस्मरण नहीं है।

ज्ञान का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, उसके पीछे-पीछे जाकर उसके अन्तिम छोर पर जो पहुंच जाता है, जो परमोच्च स्थान प्राप्त कर लेता है, वही ऋषि है। जिसकी दृष्टि पैसे पर या सुख पर होती है वह कभी भी इस प्रकार के फन्दे में नहीं पड़ेगा। तपस्वी ही ज्ञान प्रदान करता है। चाहे ज्ञान हो, चाहे विज्ञान, उसे प्राप्त करने के लिए—जीवन में उतारने के लिए—महात्मा ही मरते रहते हैं। ज्ञानोपासक निरन्तर आगे बढ़ता रहेगा। बिना ज्ञान-देवता के दर्शन किये वह नहीं रुकेगा। जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में बहुत-से अनुसंधानों की गुंजाइश है। भारतीय संस्कृति उन सब अनुसंधान-कर्ताओं का सम्मान करने के लिए तैयार है। ज्ञान-अनुसंधान में खाना-पीना सबकुछ भूल जानेवाला न्यूटन ऋषि ही था। पचास वर्ष तक अध्ययन-मनन करके नई दृष्टि देने-

वाला कार्ल मार्क्स महर्षि ही था। संसार के विचारों में क्रान्ति करनेवाले चार्ल्स डारविन को कौन ऋषि नहीं कहेगा? इंग्लैंड में एक झोंपड़ी में रहकर सहयोग के नये मार्ग संसार को दिखाने के लिए प्रयत्न करनेवाले निर्वासित महान् क्रोपाटकिन को यदि ऋषि न कहें तो फिर क्या कहें?

भारतीय संस्कृति सबकी पूजा करेगी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्व-भारती विद्यापीठ खोलकर यह दिखा दिया है कि भारत संसार के ऋषियों की अपने ढंग से पूजा कर रहा है। वह संसार के बड़े-बड़े आचार्यों को वहां बुलाते थे और उनका सम्मान करते थे। रवीन्द्रनाथ भारतीय संस्कृति की आत्मा को पहचानते थे। वह भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक थे।

भारतीय संस्कृति का कभी ज्ञान से विरोध नहीं रहा। अत्यन्त क्रान्तिकारी मत रखनेवाले व्यक्ति का भी यहां आदर होता था। उसका मत सुना जाता था। यह देखा जाता था कि उस मत के पीछे कितनी विकलता, कितनी व्यापकता, कितना अनुभव, कितना चिन्तन है। यह भी देखा जाता था कि उस मत के लिए मतस्थापक कितना त्याग करने के लिए तैयार है। यह बात नहीं कि भारतीय संस्कृति प्रत्येक मत को बड़ी जल्दी अपना लेती थी। लेकिन प्रत्येक मत को मौका देती थी। यदि उसमें सत्य होगा तो वह काल के प्रवाह में टिक सकेगा। यदि सत्य न होगा तो अदृश्य हो जायगा।

भारतीय संस्कृति में कहा गया है कि परमेश्वर का स्वरूप ही मूलतः ज्ञान है। परमेश्वर की ब्रह्म की व्याख्या क्या है? 'ज्ञानं ब्रह्म', ज्ञान का अर्थ ही है ब्रह्म। ज्ञान का अर्थ ही है परमेश्वर। ईश्वर की इससे बड़ी व्याख्या संसार में और किसीने नहीं की। ईश्वर की उपासना करना ही मानो ज्ञान की उपासना करना है। अनन्त रूपों में ज्ञान की उपासना करना। चाहे समाजशास्त्र हो, खगोलशास्त्र हो, भूगोल हो, इतिहास हो, आयुर्वेद हो, तत्वज्ञान हो, योग हो, कर्मयोग हो, गणित हो, संगीत हो, ये सब ज्ञानरूपी परमेश्वर की पूजा ही हैं। एक ही ज्ञान-सूर्य की ये अनन्त किरणें हैं। महाभारत के श्लोक के

समान ही गणित की प्रश्नमाला भी पूज्य है। श्रुति-स्मृति के अध्ययन के बराबर ही सृष्टिशास्त्र का अध्ययन भी पवित्र है। सनातन धर्म की इस महान् दृष्टि को हमें फिर से अपनाना चाहिए। परमोच्च बौद्धिक विकास की ज्वाला हमें फिर से प्रज्वलित करनी चाहिए। तभी भारतीय संस्कृति नये तेज से सुशोभित होगी। आज संस्कृति-रक्षा का आन्दोलन हो रहा है। इस भय से कि कहीं नवीन विचार की हवा न आ जाय, बहुत-से लोग आज किले-कोट बनाना चाह रहे हैं। लेकिन ये लोग संस्कृति-रक्षक नहीं, संस्कृति को हानि पहुंचानेवाले हैं। ये भारतीय संस्कृति का शव अपने गले से चिपकाये रखना चाहते हैं और अन्दर का प्राण घोट रहे हैं।

'सनातनो नित्यनूतनः'—जो नित्य नूतन स्वरूप धारण कर सकता है, वही टिकेगा। जिस पेड़ में नई पत्तियां नहीं निकलतीं, उसे मरण-प्राय ही समझना चाहिए। ज्ञानेश्वरी के अन्तिम अध्याय में ज्ञानेश्वर लिखते हैं:

'है नित्य नूतन देख लो गीतातत्व'

गीता के शब्दों के अर्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगेंगे; क्योंकि हम उसे आज बीसवीं शताब्दी की परिस्थिति से देखेंगे। अर्थ का विकास होता है। शब्द छोटा होता है, लेकिन उसका अर्थ अनन्त है। विचारों में हमेशा उत्क्रान्ति होती रहती है।

क्या संस्कृति-रक्षकों को यह भय है कि भारतीय संस्कृति की भव्य इमारत नवीन विचारों की हवा से ढह जायगी? यदि वह इन नवीन विचारों की हवा से ढह पड़े तो फिर उसे टिकाने से भी क्या लाभ? क्या इसका यह अथ नहीं होता कि जिस क्षय-रोगी को हवा का थोड़ा-सा भी झोंका सहन नहीं होता वह जल्दी ही मर जायगा? क्या भारतीय संस्कृति इतनी कच्ची है? हमारी दृष्टि में तो वह ऐसी नहीं है। जिस संस्कृति की नींव ज्ञान और अनुभव के ऊपर खड़ी की गई है उसे कभी भी भय नहीं हो सकता। वह किले-कोट बनाकर, दीवार खड़ी करके, बुरका ओढ़कर नहीं बैठ सकती। भारतीय संस्कृति को इस बुरकेवाली निस्तेज पवित्रता की आवश्यकता नहीं

है। भारतीय संस्कृति को नवीन-नवीन विचारों से परहेज नहीं है। संसार की कोई भी अनुभव की कसौटी पर कसी और ज्ञान की नींव पर खड़ी की हुई संस्कृति को लीजिये, भारतीय संस्कृति का उससे विरोध नहीं।

भारत संसार के प्रयोगों का उपयोग कर लेगा। भारतीय संस्कृति के द्वार खुले हैं। यदि साम्यवाद के विचारों को लें तो उसमें भारतीय संस्कृति को श्रीकृष्ण का बाल-चरित्र दिखाई देगा। गोकुल में माखन चुरानेवाले श्रीकृष्ण, सारे पद-दलितों का पक्ष लेनेवाले श्रीकृष्ण, सारे साम्राज्यों को धूल में मिलानेवाले श्रीकृष्ण के ही दर्शन भारतीय संस्कृति की आत्मा पहचाननेवाले को साम्यवाद में होंगे। "सत्यासत्य का साक्षी मन को ही बनाया मैंने" कहनेवाले तुकाराम का दर्शन "अपनी बुद्धि को जो ठीक लगे वह करो" कहनेवाले ध्येयवादी नये विचारशील लोगों में सच्ची संस्कृति के उपासकों को होगा। भारतीय संस्कृति में भय, नाश, मृत्यु आदि है ही नहीं। क्योंकि ज्ञान का नाश नहीं होता और ज्ञान के आधार पर ही यह संस्कृति खड़ी है।

भारतीय संस्कृति कहती है कि प्रत्येक कदम बुद्धिपूर्वक रखो। **"दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्"**, विचारपूर्वक व्यवहार कीजिये, देखकर कदम रखिये, छानकर पानी पीजिये। भारतीय संस्कृति कहती है कि सब बातें विचारपूर्वक करो। धर्म का अर्थ क्या है? धर्म का अर्थ यह है कि प्रत्येक काम आंख खोलकर करना। सुबह सात बजे उठकर संध्या करना ही 'धर्म' शब्द का अर्थ नहीं है। धर्म का अर्थ है चौबीसों घंटे होनेवाले कर्म, जन्मभर होनेवाले कर्म। क्या धर्मदेव घर तक ही सीमित है? धर्म सब जगह है। जिस प्रकार हम जहां-जहां जाते हैं वहां-वहां हवा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म भी सब जगह होना चाहिए। चाहे आप धारा-सभा में जाइये, रसोईघर में जाइये, कारखाने में जाइये, कहीं भी जाइये, आप जो-जो कार्य करें वे सब धर्ममय होने चाहिएं।

धर्ममय हों, इसका यह मतलब है कि वेदमय हों, विचारमय हों। इसका ही यह अर्थ है कि प्रत्येक कर्म विचारपूर्वक कीजिये। लेकिन

बुद्धि को शुद्ध बनाने के लिए हृदय की आवश्यकता होती है और हृदय को शुद्ध बनाने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है। हृदय और बुद्धि की एकरूपता से जिस महान् विचार का निर्माण हो, वही धर्म है। जिसमें यह एकरूपता होती है, उसीको हम धर्म-संस्थापक कहते हैं। समर्थ रामदास ने यह नहीं कहा कि कोई एक व्यक्ति ही धर्म-संस्थापक है।

"धर्म-संस्थापक बहुत हो चुके, आगे भी वे होंगे"

उस समय की परिस्थिति का गहराई से विचार करके उस समय के अधिकांश लोगों के सुख-दुःख का एकरूपता से विचार करके महापुरुष उस समय के लिए युगधर्म का निर्देश करता है। वह उस काल को नई दष्टि प्रदान करता है, नवीन विचार देता है। इस प्रकार धर्म प्रगति करता हता है

भारतीय धर्म बढ़ता रहनेवाला धर्म है। वह नवीन-नवीन विचार ग्रहण करके आगे बढ़ता रहेगा। वह नवीन-नवीन क्षेत्रों में घुसेगा। सारे ज्ञान को अपनाकर समाज का निर्माण करेगा। बिना विचार के समाज का निर्माण कैसे हो सकेगा? ज्ञान शक्ति है। सच्चा सनातन धर्म उस ज्ञान को प्राप्त किये बिना कैसे रहेगा?

जिस प्रकार हनुमान लाल-लाल दिखाई देनेवाले सूर्य को पकड़ने के लिए लपके, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति क्षितिज पर दिखाई देनेवाले भव्य, दिव्य, नव्य विचारों को पकड़ने का प्रयत्न करेगी। भारतीय संस्कृति जड़ लोगों की जड़ संस्कृति नहीं है। वह गतिशील है, आगे बढ़नेवाली है, उसकी गति नहीं रुकती। सत्य के नये-नये दर्शन करने के लिए भारतीय आत्मा व्याकुल रहेगी। सत्य का शोधक कभी नहीं कहेगा कि अब बस करो। उसकी आंखों के सामने अनन्त क्षेत्र खुला पड़ा है। महात्मा गांधी को ही देखिये। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है कि जिसमें वह बुद्धि का दीपक लेकर न घुसे। राजनीति में तो वह नवीन-प्रयोग कर ही रहे थे। लेकिन उद्योग-धंधे, राष्ट्रीय शिक्षा, समाज-सुधार, धर्म, आरोग्य, खान-पीने के प्रयोग, ब्रह्मचर्य आदि प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया था। वह बुद्धि के उपासक थे,

है। भारतीय संस्कृति को नवीन-नवीन विचारों से परहेज नहीं है। संसार की कोई भी अनुभव की कसौटी पर कसी और ज्ञान की नींव पर खड़ी की हुई संस्कृति को लीजिये, भारतीय संस्कृति का उससे विरोध नहीं।

भारत संसार के प्रयोगों का उपयोग कर लेगा। भारतीय संस्कृति के द्वार खुले हैं। यदि साम्यवाद के विचारों को लें तो उसमें भारतीय संस्कृति को श्रीकृष्ण का वाल-चरित्र दिखाई देगा। गोकुल में माखन चुरानेवाले श्रीकृष्ण, सारे पद-दलितों का पक्ष लेनेवाले श्रीकृष्ण, सारे साम्राज्यों को धूल में मिलानेवाले श्रीकृष्ण के ही दर्शन भारतीय संस्कृति की आत्मा पहचाननेवाले को साम्यवाद में होंगे। "सत्यासत्य का साक्षी मन को ही बनाया मैंने" कहनेवाले तुकाराम का दर्शन "अपनी बुद्धि को जो ठीक लगे वह करो" कहनेवाले ध्येयवादी नये विचारशील लोगों में सच्ची संस्कृति के उपासकों को होगा। भारतीय संस्कृति में भय, नाश, मृत्यु आदि है ही नहीं। क्योंकि ज्ञान का नाश नहीं होता और ज्ञान के आधार पर ही यह संस्कृति खड़ी है।

भारतीय संस्कृति कहती है कि प्रत्येक कदम बुद्धिपूर्वक रखो। **"दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्, वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्"**, विचारपूर्वक व्यवहार कीजिये, देखकर कदम रखिये, छानकर पानी पीजिये। भारतीय संस्कृति कहती है कि सब बातें विचारपूर्वक करो। धर्म का अर्थ क्या है? धर्म का अर्थ यह है कि प्रत्येक काम आंख खोलकर करना। सुबह सात बजे उठकर संध्या करना ही 'धर्म' शब्द का अर्थ नहीं है। धर्म का अर्थ है चौबीसों घंटे होनेवाले कर्म, जन्मभर होनेवाले कर्म। क्या धर्मदेव घर तक ही सीमित है? धर्म सब जगह है। जिस प्रकार हम जहां-जहां जाते हैं वहां-वहां हवा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार धर्म भी सब जगह होना चाहिए। चाहे आप धारा-सभा में जाइये, रसोईघर में जाइये, कारखाने में जाइये, कहीं भी जाइये, आप जो-जो कार्य करें वे सब धर्ममय होने चाहिएं।

धर्ममय हों, इसका यह मतलब है कि वेदमय हों, विचारमय हों। इसका ही यह अर्थ है कि प्रत्येक कर्म विचारपूर्वक कीजिये। लेकिन

वुद्धि को शुद्ध बनाने के लिए हृदय की आवश्यकता होती है और हृदय को शुद्ध बनाने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है। हृदय और वुद्धि की एकरूपता से जिस महान् विचार का निर्माण हो, वही धर्म है। जिसमें यह एकरूपता होती है, उसीको हम धर्म-संस्थापक कहते हैं। समर्थ रामदास ने यह नहीं कहा कि कोई एक व्यक्ति ही धर्म-संस्थापक है।

"धर्म-संस्थापक बहुत हो चुके, आगे भी वे होंगे"

उस समय की परिस्थिति का गहराई से विचार करके उस समय के अधिकांश लोगों के सुख-दुःख का एकरूपता से विचार करके महापुरुष उस समय के लिए युगधर्म का निर्देश करता है। वह उस काल को नई दृष्टि प्रदान करता है, नवीन विचार देता है। इस प्रकार धर्म प्रगति करता हता है

भारतीय धर्म वढ़ता रहनेवाला धर्म है। वह नवीन-नवीन विचार ग्रहण करके आगे वढ़ता रहेगा। वह नवीन-नवीन क्षेत्रों में घुसेगा। सारे ज्ञान को अपनाकर समाज का निर्माण करेगा। बिना विचार के समाज का निर्माण कैसे हो सकेगा? ज्ञान शक्ति है। सच्चा सनातन धर्म उस ज्ञान को प्राप्त किये बिना कैसे रहेगा?

जिस प्रकार हनुमान लाल-लाल दिखाई देनेवाले सूर्य को पकड़ने के लिए लपके, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति क्षितिज पर दिखाई देनेवाले भव्य, दिव्य, नव्य विचारों को पकड़ने का प्रयत्न करेगी। भारतीय संस्कृति जड़ लोगों की जड़ संस्कृति नहीं है। वह गतिशील है, आगे वढ़नेवाली है, उसकी गति नहीं रुकती। सत्य के नये-नये दर्शन करने के लिए भारतीय आत्मा व्याकुल रहेगी। सत्य का शोधक कभी नहीं कहेगा कि अब वस करो। उसकी आंखों के सामने अनन्त क्षेत्र खुला पड़ा है। महात्मा गांधी को ही देखिये। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है कि जिसमें वह वुद्धि का दीपक लेकर न घुसे। राजनीति में तो वह नवीन-प्रयोग कर ही रहे थे। लेकिन उद्योग-धंधे, राष्ट्रीय शिक्षा, समाज-सुधार, धर्म, आरोग्य, खान-पीने के प्रयोग, ब्रह्मचर्य आदि प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया था। वह वुद्धि के उपासक थे,

शुद्ध बुद्धि के साथ प्रयोग करते थे। वह सच्चे सनातन धर्म के सच्चे अनुयायी थे।

बुद्धिवादी मनुष्य निर्भय होता है। वह किसीके द्वारा कही हुई बात को बार-बार नहीं दुहराता। वह निश्शंक होकर अपना कदम बढ़ाता रहता है। पुराने लोग कलियुग-कलियुग कहते हैं। नये लोग यन्त्रयुग-यन्त्रयुग कहते हैं । गांधी कहते थे, "मैं अपने युग का निर्माण करूंगा। मैं चर्खे का युग लाऊंगा। ग्रोमोद्योग का युग लाऊंगा।" बुद्धिमान मनुष्य किसीके स्वर में स्वर नहीं मिलाता। वह अपने विचारों का युग अपने आस-पास ही निर्माण करना चाहता है।

संसार में स्वतन्त्र बुद्धि बहुत कम होती है। सनातनी लोग दस हजार वर्ष पूर्व के ऋषियों के गुलाम बनते हैं तो नये लोग पाश्चात्य पण्डितों के। लेकिन भारतीय संस्कृति स्वतन्त्र दीपक प्रज्वलित करने की बात कहती है। अपने देश की स्थिति का विचार करो, परम्परा का विचार करो, आस-पास के देशों का भी विचार करो और देखो कि तुम्हारे समाज के लिए क्या हितकर हो सकता है ?

सत्य की प्यास आज सच्चे कामों की भूमि में से ही उत्पन्न हुई है या नहीं ? मानव-जाति ने जो-जो उद्योग शुरू किये हैं, जो-जो विचार-क्षेत्र उत्पन्न किये हैं, हमें उन सब स्थानों में जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति के उपासकों में यन्त्रशास्त्र, वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र, शिक्षण-शास्त्र, साहित्य-कला-रसायन, व्यायाम, खेल के मैदान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र आदि सत्य के साक्षात्कार के सारे क्षेत्र में बिना थके, बिना विश्राम किये आगे बढ़ते रहनेवाले लोगों का निर्माण होना चाहिए। चाहे सहकारी आन्दोलन हो, मजदूरों का संगठन हो, खेती में सुधार करना हो, नये उद्योग-धन्धे शुरू करने हों, हमें सबमें प्रवेश करना चाहिए। उनका अध्ययन करना चाहिए, प्रयोग करना चाहिए। बस, यही परमेश्वर की पूजा है। ईश्वर की दी हुई चीज को बढ़ाना ही उसकी पूजा है। ईश्वर के द्वारा दी हुई बुद्धि का विकास करना ही मानो सच्चा धर्म है।

समस्याओं का हल उस समय के विचारशील लोगों को ही निकालना चाहिए। अर्वाचीन वुद्धि के सामने अर्वाचीन प्रश्न हैं। क्या भारतीय संस्कृति में उन्हें हल करने की हिम्मत नहीं है? संसार के राष्ट्रों के साथ वैठने का अधिकार वेदों को रटने से नहीं मिलेगा, पूर्वजों के स्तुति-स्तोत्र गाने से नहीं मिलेगा। हमें अपने हाथ में नवीन प्रश्न लेना चाहिए। हमें प्रयोगालय अर्थात् यज्ञशालाएं वनानी चाहिएं। प्रयोग शुरू होने दीजिए—सत्यदेव के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझ लेने के प्रयोग।

अव कहीं रुकने से काम नहीं चलेगा। अपने घोड़े सव तरफ दौड़ने दीजिए। ग्राम-संगठन, खादीशास्त्र, समाजशास्त्र, नवनीतवाद, कोई भी क्षेत्र हो, उसमें प्रवेश कीजिए और नवीन ज्ञान का निर्माण कीजिए। स्थान-स्थान पर संग्रहालय, प्रयोगालय, ग्रंथालय आदि की स्थापना कीजिए। वौद्धिक और वैचारिक सहयोग प्राप्त कीजिए। ज्ञान सहयोग की वस्तु है। इस सहयोग में से ही प्रत्येक विचार का निर्माण हुआ है। सैकड़ों पुराने विचारों के कन्धों पर नवीन विचार खड़े रहते हैं। गांधीजी ने तिलक की कल्पना का विकास किया और जवाहरलाल गांधीजी को आगे वढ़ायंगे। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में यही स्थिति है। वहां अहंकार नहीं है। वहां नम्रता और निष्ठापूर्वक ज्ञान-रूपी ईश्वर की पूजा है।

भारतीय संस्कृति कहती है—मेरे पुत्रो, संसार में ज्ञान के लिए जीवन दे देनेवाले सैकड़ों लोग पैदा होते हैं। यहां भी ऐसे लोगों को जन्म लेने दो। यहां भी विचार-पूजा प्रारम्भ होने दो।

विचार तलवार की अपेक्षा अधिक तेज है। विचार नवजीवन प्रदान करता है। "वह अग्नि प्रज्वलित कर दे।" फिर से विचारों की शिखा प्रज्वलित किये विना गन्दगी जलकर खाक नहीं होगी।

भारत में इस समय क्रान्ति का समय आ गया है। यह केवल राज-नैतिक क्रान्ति नहीं है। यह तो शतमुखी क्रान्ति है। आज सारे संसार में उथल-पुथल होनेवाली है। अतः सारी कल्पना की जांच कर लेनी चाहिए। नया समय, नई दृष्टि। मज़दूरों को पेटभर भोजन किस

प्रकार प्राप्त हो, यह देखना आज का महान् धर्म है। राष्ट्र के किसी नवो
उद्योग में रात-दिन जुटे रहना मानो संन्यासी ही हो जाना है।

आज निर्मल विचार और शुद्ध दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता है
इसमें अधीरता न हो, उतावलापन न हो, स्वार्थ न हो, आलस्य न हो
यदि निर्मलता चाहते हो तो गहन अध्ययन की आवश्यकता है। प्रयत
और कष्ट की आवश्यकता है। समाज के लिए प्रेम और व्याकुलता क
जरूरत है। जब मन में यह व्यग्रता रहेगी कि समाज का भला कि
प्रकार करें तभी आप विचार करने लगेंगे। फिर जो विचार सूझेंग
उसका आचार भी प्रारम्भ हो जायगा और उस विचार एवं आचार क
नाम रखा जायगा 'युगधर्म'।

: ४

प्रयोग करनेवाले ऋषि

भारतीय संस्कृति बुद्धि-प्रधान है। लेकिन यहां केवल बुद्धि की ह
नहीं, हृदय की भी आवाज सुनी जायगी। निर्मल बुद्धि और निर्मल हृदय
वस्तुतः एकरूप ही हैं। निर्मल बुद्धि में कोमलता होती है और निर्मल हृद
में बुद्धि का प्रकाश होता है। निर्मल हृदय और निर्मल बुद्धि के आधार प
भारतीय संस्कृति का निर्माण किया गया है।

यह संस्कृति उदार विचारों के आधार पर बनी है, अतः उसमे
सैकड़ों परिवर्तन हुए हैं। धर्म में दो भाग होते हैं: एक शाश्वत तत्वं
का भाग और एक अशाश्वत तत्वों का भाग। संसार में सब जगह ये
दो बातें ही हमें दिखाई देंगी। हमारा शरीर बदलता है, लेकिन अन्दर
आत्मा वही है। समाज के व्यक्ति पैदा होते हैं और मरते हैं लेकिन समाज
चिरंतन है। नदी के प्रवाह में जल की बूंदें हमेशा बदलती रहती हैं, लेकिन
प्रवाह स्थिर रहता है।

धर्म का यम रूप भाग नहीं बदलता; लेकिन नियम रूप भाग
बदलता रहता है। यम का अर्थ है यह कि धर्म का त्रिकालाबाधित भाग

सत्य, अहिंसा, संयम, दया, प्रेम , परोपकार, ब्रह्मचर्य आदि बातों को यम संज्ञा दी गई है। संध्या करना, स्नान करना, खाना, पीना, जनेऊ पहनना, गंध लगाना, हजामत बनाना, आदि बातें नियम के अन्तर्गत आती हैं। यम का अर्थ है अचल धर्म और नियम का अर्थ है चल धर्म। स्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जब यमों का विचार न करके केवल नियमों को ही महत्त्व दिया जाता है तब समाज का नाश होता है। लेकिन आज तो हमें इस स्मृति-वचन का स्मरण भी नहीं है। आज हमने नियमों को ही महत्त्व दे रखा है। जनेऊ, गंध, चोटी ही धर्म बन गया है। हम यम की कदर नहीं करते। नियम ही मानो हमारे सर्वस्व हो गए हैं।

जब हम चल वस्तु को अचल मानने लगते हैं और जब अचल वस्तु का महत्त्व नष्ट हो जाता है तब धर्म का सुन्दर स्वरूप नष्ट हो जाता है। पद-पद पर हमें नियमों को अलग रखना पड़ता है। लेकिन हम उन्हें अलग नहीं रखते। हमारे पूर्वज ऐसे नहीं थे। वे हमेशा नियमों के ऊपर यम धर्मों का अंकुश लगाते रहते थे।

किसी समय नियोग की प्रथा धर्म के रूप में मानी जाती थी। जब आर्यावर्त में जमीन काफी थी और जनसंख्या बहुत कम थी, उस समय नियोग का नियम बनाया गया। लेकिन बाद में वह नियम बदल दिया गया। यह नियम नष्ट कर दिया गया। विचारक लोग समाज की स्थिति ठीक करने के लिए उस समय के लिए उपयुक्त नियम बनाते हैं। यदि समाज में स्त्रियों की संख्या कम हो तो अनेक पति मिलकर एक पत्नी रखने के नीति-नियम बनाने पड़ेंगे। यदि समाज में स्त्रियों की संख्या अधिक हो और पुरुषों की कम तो एक पुरुष के अनेक स्त्रियां रखने का नियम बनेगा। स्त्रियों की संख्या अधिक होने के कारण अरबस्तान में मुहम्मद साहब को बहुपत्नीत्व की प्रथा शुरू करनी पड़ी। यह प्रथा, यह रूढ़ि, ये नियम समय के अनुरूप होते हैं। समाज की स्थिति बदलते ही ये नियम भी बदलते हैं।

यदि हम प्राचीन काल का इतिहास देखेंगे तो हमें सैकड़ों परिवर्तन दिखाई देंगे। वेद-काल में भाई-बहन के विवाह का उल्लेख है। इसके

लिए यम और यमी का संवाद प्रसिद्ध है। यमी यम से कहती है, "भाई, तू मेरे साथ विवाह-वन्धन में क्यों नहीं वंध जाता ?" यम कहता है, "पहले ऐसा होता था; लेकिन आज तो ऐसा करना अवर्म माना जायगा।" लोग हमारा नाम रखेंगे । इस प्रकार समाज नियमवद्ध हो रहा था। समाज प्रयोग कर रहा था। एक स्थान पर कहा गया है —

"सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः"

समझदार व्यक्तियों ने ये सात मार्यादाएं वना दी हैं। इन सात मर्यादाओं का उल्लंघन करना पाप समझा जायगा। उस समय कवि का अर्थ था विचारशील व्यक्ति। वे समाज की परिस्थिति को विशाल व सूक्ष्म दृष्टि से देखकर, नवीन मर्यादा, नवीन नियम वना देते थे। एक सूत्र में वसिष्ठ ऋषि कहते हैं, **"उपैमि चिकितुषे जनाय"** । मेरी क्या भूल हो गई है, यही पूछने के लिए मैं विद्वान् आलोचक के पास जाता हूं। समाज में ऐसे महात्मा हैं, उनकी सलाह लेते रहो।

नागपुर के विद्वद्रत्न डॉ० दफ्तरी ने एक जगह लिखा है कि उन युगों में सप्तऋषि नवधर्म वताते थे । उस समय मनु और सप्तऋषि युगधर्म वताते थे। मनु का अर्थ है जिज्ञासु जीव । जिज्ञासु जीव उन कालों के सात पूज्य लोगों के पास जाता था । ये सात व्यक्ति एकमत से जो धर्म वताते वही उस काल का धर्म माना जाता था।

यदि स्मृति-ग्रंथों को ऊपर-ऊपर से ही देखें तो हमें सैकड़ों अन्तर दिखाई देंगे। एक समय लड़कों की तरह लड़कियों के भी जनेऊ दी जाती थी। इसका मतलव यह है कि लड़कों की भांति लड़कियों को भी शिक्षा देना उस समय का धर्म था। प्राचीन काल में वादविवाद करनेवाली पंडिता नारी पद-पद पर दिखाई देती है। वेदों में स्त्री-ऋषियों के सूक्त हैं। रामायण में गोदावरी के किनारे संध्या करनेवाली सीता का वर्णन है। स्त्रियों को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार था। वे व्रह्मवादिनी होती थीं। वे सभाओं में चर्चा करती थीं। महाभारत के उद्योग-पर्व में इस वात का उल्लेख है कि सत्तर वर्ष की अवस्था होने तक व्रह्मचारिणी और व्रह्म-वादिनी के रूप में रहनेवाली एक तेजस्वी स्त्री विवाह करना चाहती थी।

संस्कृत नाटकों में इस बात का उल्लेख है कि ऋषियों के आश्रम में विद्यार्थी और विद्यार्थिनियां एक साथ पढ़ते थे। शकुन्तला नाटक में अनसूया, प्रियंवदा, आदि लड़कियां पढ़ने के लिए ही आश्रम में रहती थीं। 'उत्तर रामचरित' में लिखा है कि वाल्मीकि के आश्रम में लड़कियां भी पढ़ती थीं। यह बात भी होती थी कि विद्यार्थी एक पाठशाला से दूसरी में जाते थे और यदि पढ़ाई का क्रम ठीक न लगता तो एक आश्रम से दूसरे आश्रम में भी जाते थे। जब लड़कियों की जनेऊ होती थी और वे पढ़ती थीं उस समय समाज में प्रौढ़ विवाह प्रचलित होते और प्रौढ़ विवाह अवसर प्रेम-विवाह होते होंगे। लेकिन विचारशील लोगों ने यह अनुभव किया कि आगे प्रौढ़ विवाह बदल देना चाहिए। हिन्दुस्तान में प्राचीन काल से ही संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली को सफल बनाने का उत्तर-दायित्व स्त्रियों पर है। प्रौढ़ लड़कियों को ससुराल के सब लोग अपने नहीं लगते। उसका प्रेम पति तक ही रहता है। लेकिन यदि लड़की का विवाह बचपन में ही कर दिया जाय तो वह बचपन में ही बीच-बीच में ससुराल जायगी और बचपन में प्रेम का सम्बन्ध पैदा हो जाता है। देवर के लिए, ससुराल के लोगों के लिए, लड़की के मन में साहचर्य और परिचय के कारण अपनेपन की भावना बचपन में ही पैदा होने की संभावना अधिक रहती है। संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली के प्रयोगकर्त्ताओं ने ही शायद इसलिए प्रौढ़ विवाह रद्द करके बाल-विवाह प्रचलित कर दिया होगा।

अथवा हो सकता है कि लड़के-लड़की पढ़ने के बाद एक साथ भिक्षु-भिक्षुणियां बन जायंगी और कामवासना पर विजय प्राप्त न कर सकने के कारण ये भिक्षु-भिक्षुणियों के संघ व्यभिचारी बन जायंगे, इस भय से समाज के नियम बनानेवालों ने बाल-विवाह प्रचलित किया होगा।

कारण कुछ भी हो। यह सत्य है कि उन्होंने उसमें परिवर्तन अवश्य किया। वे पूर्वज प्रयोगकर्त्ता थे। वे नहीं मानते थे कि नियम अविचल हैं। पहले उच्च वर्ण सारे निम्न वर्णों के साथ विवाह करते थे। बड़े वर्ण के पुरुष के साथ कनिष्ठ वर्ण की स्त्री का धर्ममय विवाह हो जाता था। मनुस्मृति कहती है—**"भार्याः चतस्रो विप्राणाम्"** ब्राह्मण

चारों वर्णों में विवाह कर सकता है। याज्ञवल्क्य ने इसमें कुछ परिवर्तन किया। उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों को तीन वर्णों की लड़कियों से ही विवाह करना चाहिए। शूद्र-वधू से विवाह नहीं करना चाहिए। स्मृतिकार इस प्रकार परिवर्तन करते रहते थे।

कुछ स्मृतियों में पुनर्विवाह की इजाजत दी गई है, कुछ में नहीं। कलियुग के लिए जो पाराशर स्मृति कही गई है उसमें पुनर्विवाह की इजाजत दी गई है। पूना के महान् न्यायाधीश रामशास्त्री प्रभुणे की कथा तो प्रसिद्ध ही है। उन्होंने पुनर्विवाह की राय व्यक्त की थी और तुलसी बाग (पूना) में एक कीर्तन करनेवाली स्त्री ने अपने सामने बैठे हुए रामशास्त्री से प्रश्न किया, "रामशास्त्री, पुरुषों को तो बार-बार पुनर्विवाह करने की इजाजत दी गई है। पहली पत्नी को मरे दस दिन भी न होने पाते हैं कि वह तो दूसरे विवाह की तैयारी कर सकता है। फिर स्त्रियों ने ही ऐसा क्या पाप किया है? पति के मरने पर यदि स्त्री विवाह करना चाहे तो फिर उसको इसकी इजाजत क्यों नहीं दी जाती?" रामशास्त्री ने कहा, "स्मृतियां पुरुषों ने लिखी हैं, अतः उन्होंने पुरुषों की सुख-सुविधा ही देखी है। स्त्रियों के सुख-दुःख की उन्हें क्या कल्पना है?" इसका यही अर्थ है कि रीति-रिवाज बदलते रहते हैं।

लेकिन हमारे समाज के ध्यान में यह बात नहीं आती कि जहां वह परिवर्तन नहीं करता वहां वह बड़ी गलती कर रहा है। पुरानी-पुरानी रूढ़ि-रीतियां आज कैसे चल सकती हैं, बचपन का अंगरखा बड़ेपन में कैसे ठीक हो सकेगा? वह बच्चा कहेगा, "या तो अंगरखा बड़ा कीजिये, या फिर मुझे ही हमेशा छोटा बनाये रखिये।" रूढ़ि के कपड़े हमेशा बदलते रहना चाहिए। यह नियम है कि गर्मी के कपड़े ठंड में काम नहीं दे सकते और ठंड के कपड़े गर्मी में काम नहीं दे सकते। यदि हम ऐसा परिवर्तन नहीं करेंगे तो ठंड में अकड़कर मर जायंगे और गर्मी में गर्मी से मर जायंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दू धर्म डूब रहा है। यदि किसीके सिर पर चोटी नहीं दिखाई दे, ललाट पर तिलक नहीं दिखाई दे, मुंह पर मूंछ

नहीं दिखाई दे, गले में जनेऊ न दिखाई दे तो उन्हें ऐसा लगता है मानो हिन्दू धर्म रसातल में चला गया। यदि चित्रावती न रखी, प्राणाहुति न ली, आचमन, अघमर्षण न किया तो वे कहते हैं कि धर्म डूब गया। लेकिन पहले प्रश्न यह है कि यह धर्म है कितने लोगों का और फिर इस धर्म का महत्त्व क्या है?

ये बाह्य चिह्न बदलते हैं और इन्हें बदलना भी चाहिए। नवीन काल में नवीन चिह्नों का निर्माण होता है। एक समय सिर पर कुछ पहनना मंगल समझा जाता था, लेकिन अब सिर पर कुछ भी नहीं पहनना ही कुछ लोगों को सभ्यता का चिह्न प्रतीत होता है। इसमें धर्म के डूबने ा तैरने की कौन-सी बात है?

हिन्दू धर्म इतना कच्चा नहीं है कि चाय के प्याले में डूब जाय या ूंछ मुंड़वाने से मर जाय। हिन्दू धर्म तो तब मरेगा जब बुद्धि की उपासना रेगी। जब गायत्री-मन्त्र की यह प्रार्थना मर जायगी कि 'हमारी बुद्धि ाजस्वी रहे', तब हिन्दू धर्म मरेगा।

मरते समय प्राण सबसे अधिक महत्त्व की बात साथ ले जाता है। गब हम एक गांव से दूसरे गांव जाते हैं तो हम सबसे ज्यादा महत्त्व की ीजें अपने साथ ले जाते हैं और कूड़ा-कर्कट वहीं छोड़ जाते हैं।

प्रतिदिन हाथ में जनेऊ लेकर गायत्री-मन्त्र का जप करनेवालों को क्या मरते समय गायत्री-मन्त्र की याद आयगी? क्या वह महान् मन्त्र उनके रोम-रोम में विंध गया है? उन्हें जनेऊ तो महत्त्वपूर्ण लगती है; लेकिन गायत्री-मन्त्र का दिव्य विचार महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। विचारों की उपासना करनेवाला ज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहनेवाला ही गायत्री का सच्चा रक्षण करनेवाला है। और इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "पश्चिम में ब्राह्मण अधिक हैं।" क्षण-क्षण आमरण ज्ञान की उपासना करनेवाले हममें कहां हैं? जनेऊ की रक्षा करने से हिन्दू धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। जनेऊ की रक्षा करनेवाले तो कुंजियां और कान-कुतरनी की रक्षा करते हैं, हाथ की अंगूठी और छल्ले की रक्षा करते हैं।

समाज में धर्म है या नहीं यह किससे पहचाना जाय ? त्याग से। जिसमें त्याग है उसमें धर्म की आत्मा है। आज जिन युवकों को धर्म-हीन कहा जाता है यदि उनमें त्याग है तो उनमें धर्म भी है। प्राचीन काल में चोटी के लिए लड़ाइयां हुई। लेकिन 'चोटी न रखनेवाले धर्म-हीन हैं' यह बात आज कहना लड़कपन ही है। क्या चोटी न रखने वाले में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके लिए प्राण दिये जा सकें ? सत्याग्रह-आन्दोलन के समय नियमित कताई करनेवाले को जेल में तकली नहीं मिली, अतः ऐसे लोग भी निकले, जिन्होंने उसके लिए आमरण अनशन किया। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ बात महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। प्राचीन-काल के चित्रों, प्रतीकों, वृत्तों, नियमों में परिवर्तन होगा। नए प्रतीक और नवीन वृत्त प्रचलित होंगे। उन प्रतीकों और वृत्तों के लिए यदि प्राणार्पण करने का तेज हममें है तो यह काफी है।

इंग्लैंड में बर्ट्रेंड रसेल नामक एक बुद्धिमान मनुष्य है। उसने एक स्थान पर लिखा है कि नीति दो प्रकार की होती है। एक ऋण-नीति, और दूसरी धन-नीति। ऋणनीति समाज के लिए कुछ भी नहीं करती। ऋणनीति का उपासक माला जपता है, गायत्री-मंत्र का पाठ करता है, तीन बार स्नान करता है, भस्म लगाता है और गन्ध लगाता है। लेकिन यदि हम उससे पूछें कि समाज की भुखमरी दूर करने के लिए तुमने क्या किया ? समाज को अच्छी शिक्षा देने के लिए क्या किया ? समाज की दासता, अन्याय और युद्ध मिटाने के लिए तुमने क्या किया ? तुमने स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए क्या किया ? इन सब प्रश्नों का उत्तर वे देंगे, "नेति नेति"। इसके विपरीत है धन-नीति। धन-नीति का उपासक जल्दी स्नान-संध्या न करे, देव-दर्शन और कथा-कीर्तन में सम्मिलित न हो, माला, भस्म आदि की उपासना न करे, लेकिन वह समाज के अन्याय को मिटाने के लिए दौड़ता है। वह पददलितों का पक्ष लेता है। वह सारी गन्दगी को जलाने के लिए तैयार रहता है। जहां-जहां विपत्ति होगी, संकट होगा, जुल्म होगा, अशरणता होगी, लाठी-राज्य होगा, वहां-वहां वह वीरों की भांति खड़ा रहेगा। यदि समय आया तो वह अपना बलिदान भी करेगा।

सनातनी लोग ऋणनीति के उपासक होते हैं और नवीन कार्य-कर्ता धननीति के उपासक होते हैं। जिस समाज में कर्मशून्य ऋण-नीति का ही प्रसार दिखाई देता है वह समाज धूल में मिल जाता है। जिस समाज में प्रत्यक्ष सेवा करनेवाले धननीति के उपासक होते हैं वह समाज ऊंचा उठता है।

इन धननीति के उपासकों को समाज के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। शंकराचार्य ने केवल अद्वैत ही सिद्ध नहीं किया। उन्होंने उसे समाज के व्यवहार में लाने के लिए बहुत प्रयत्न भी किया है। दक्षिण देश में भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करनेवाले सम्प्रदाय थे। इन सम्प्रदायों में बड़ी जबरदस्त दुश्मनी रहती थी, लेकिन शंकराचार्य ने कहा, "अरे! सब एक ही शक्ति के रूप हैं। चाहे गणपति हो, चाहे सूर्य हो, चाहे शिव हो, शक्ति हो, चाहे विष्णु हो। इन पांचों देवताओं की एक साथ पूजा करो। पंचायतन-पूजा प्रारम्भ कीजिए। भेद में अभेद पैदा कीजिए। अद्वैत को व्यवहार में लाइये और लड़ाई को भी मिटाइये।"

पंचायतन-पूजा शंकराचार्य ने शुरू की। उन्होंने एक नया प्रयोग शुरू किया—अद्वैत का प्रत्यक्ष प्रयोग। इसके लिए शंकराचार्य को सताया गया। ये सब गोलमाल करनेवाले हैं, ये प्रच्छन्न बुद्धपंथी ही हैं। इस प्रकार कई आरोप उनके ऊपर किये गए। उनका बहिष्कार किया गया। शंकराचार्य अपनी मरणोन्मुख मां से मिलने गये। मां मर गई। उस समय उसके शव को उठानेवाला भी कोई नहीं मिला। शंकराचार्य ने मां के शरीर के तीन टुकड़े किये। वे एक-एक टुकड़ा श्मशान में ले गये और उसका दाह-संस्कार किया। आज मालाबार प्रान्त में मृत व्यक्ति के शरीर पर तीन लकीरें खींची जाती हैं। यह उन तीन टुकड़ों की ठोस निशानी है।

सन्तों ने संस्कृत का ज्ञान जन-साधारण की भाषा में लाने का महान् प्रयत्न किया। मनुष्य बिना ज्ञान के कैसे जीवित रह सकता है? सूर्य-किरणों की जिस प्रकार सबको आवश्यकता रहती है उसी प्रकार ज्ञान की किरणों की भी सारे प्राणियों को आवश्यकता रहती है। ज्ञान का कुछ ही लोगों की जायदाद बन जाना घोर अन्याय है। सन्तों ने विद्रोह किया।

ज्ञानेश्वर, मुकुन्दराय, एकनाथ सब लोग विद्रोह में शामिल हुए। तुकाराम तो कहने लगे—अरे रंडुओ ! पीठ पर बोझा उठाने से उसका स्वाद नहीं मिलता है।

वेद अर्थ हो ज्ञात हमें ही
ढोयें उसका बोझा अन्य।

जो प्रत्यक्ष जीवन में अद्वैत का अनुभव करने लगे, जो उसके लिए सनातनियों के विरोध की परवाह न करके काम करने लगें, वे ही वेद समझते थे। वेद का अर्थ है ज्ञान का साक्षात्कार। ज्ञान साक्षात्कार के लिए है, भरपेट खाकर केवल चर्चा करते रहने के लिए नहीं।

पेशवा बाजीराव प्रथम मस्तानी के गर्भ से जन्म लेनेवाले पुत्र का जनेऊ करना चाहते थे। उनकी इसपर हँसी हुई। उन्हें अपमान सहन करना पड़ा; लेकिन उन्होंने भारतीय संस्कृति की आत्मा पहचान ली थी।

गीता में चार प्रकार के भक्त कहे गये हैं। मेरे मतानुसार उसमें एक महान् दृष्टि है, मानो समाज की उन्नति करनेवाले सारे शास्त्र ही उसमें आ गये हैं।

"आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ !"

आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार भक्त हैं।

आर्त्त भक्त का मतलब क्या है ? आर्त्त का अर्थ है अपना दुःख प्रकट करनेवाला—ईश्वर के सामने अपनी करुण गाथा रखनेवाला। यह दुःख किसका है ? मुझे ऐसा लगता है भक्त कभी अपने दुखड़ों का रोना रोने नहीं लगता है। यह उदार आर्त्त है। इन चारों भक्तों को उदार कहा गया है। वह आर्त्त-भक्त संसार के दुःख से दुखी होता है। सारे संसार में भीषण अन्याय देखकर उसका अन्तःकरण तड़पने लगता है। समर्थ ने बचपन में ही मां से कहा—

"मां, मुझको दुनिया की चिन्ता है"

समर्थ जैसे उदार आर्त्त भक्तों को सबसे पहले समाज की चिन्ता होती है। उन्हें इस बात की चिन्ता रहती है कि समाज का भला किस प्रकार होगा ? समाज संपन्न, सुसंस्कृत एवं सुश्लिष्ट कैसे होगा ? समाज

में अन्न-वस्त्र की, ज्ञान-विज्ञान की विपुलता कैसे होगी? इस बात की ही उन्हें चिन्ता लगी रहती है। इस एक ही चिन्ता से उनके पेट में होली जलती रहती है।

संतों के मार्ग बुहारें हम,
सारा जग घिरा घने वन से।

उसे सारा संसार जंगल से घिरा हुआ दिखाई देता है। उसे दिखाई देता है कि लोग गलत रास्ते से जा रहे हैं और इस कारण मुसीबतों में फंस रहे हैं। इन उदार आर्त्त भक्तों को चन नहीं मिलता। उन्हें कानों में चीत्कार सुनाई देता है। यह भक्त की पहली स्थिति है, वह संसार के दुःखों से एकरूप हो जाता है।

इस उदार आर्त्तता से उदार जिज्ञासा उत्पन्न होती है। दुःख तो है लेकिन यह युद्ध क्यों है? वह आर्त्त-भक्त इसके कारण की मीमांसा करने लगता है। आर्त्त-भक्ति में से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। प्लेग क्यों फैलता है? आइये, उसके कारणों की शोध करें। इन्जेक्शन लगवा लें और प्रयोग करें। पीतज्वर क्यों होता है? उपदंश क्यों होता है? भूकम्प क्यों होते हैं? ज्वालामुखी में विस्फोट क्यों होते हैं? तूफान क्यों उठते हैं? फसल में रोग क्यों होते हैं? समाज में व्यभिचार क्यों है? चोरी क्यों है? समाज में एक ओर बड़े-बड़े महल और एक ओर मिट्टी के झोंपड़े क्यों हैं? किसीके गाल फैले हुए और किसीके पिचके हुए, कुछ नंगे पैर तो कुछ नये बूट पहने हुए, कुछ कराह-कराहकर मरते हैं और कुछ लोग गद्दों के ऊपर मांस के गोलें की भांति लोटते हैं, कुछ अजीर्ण से मरते हैं तो कुछ भूख से। किसीको ज्ञान की हवा भी नहीं लगी और कुछ लोग जीवनभर सीखते रहते हैं। ये अनन्त दुःख क्यों हैं? वह आर्त्त-भक्त इसकी मीमांसा करने लगता है। राष्ट्र आपस में लड़ते क्यों हैं? उनमें भेद क्यों है? साम्राज्यवाद क्यों? गुलामी क्यों? ये सब क्यों हैं?

जब मनुष्य इस प्रकार विचार करने लगता है तो उसे कई कारण दिखाई देते हैं। उन कारणों को दूर करने का उपाय ढूंढने लगता है। लेकिन सच्चा उपाय क्या है? उस जिज्ञासु भक्त को दुःख दूर करने के

अनेक मार्ग दिखाई देने लगते हैं। लेकिन यह बात नहीं है कि वे सारे ही मार्ग हितकर होंगे। वह अब भक्ति की तीसरी स्थिति का अनुभव करता है। अर्थार्थी भक्त भली प्रकार देखता है कि दुःख दूर करने के जो उपाय बताये गए हैं उनमें किस उपाय से सचमुच दुःख दूर होता है। अर्थ का मतलब है कल्याण। मन के मंगल की सिद्धि किस मार्ग से जाने से होगी। अर्थार्थी का मतलब है प्रत्येक बात में अर्थ देखनेवाला, प्रत्येक बात का मूल्यांकन करनेवाला, उसके महत्त्व को भांपनेवाला।

समाज में विरोध व वैषम्य, ये भेद और ये अकाल दूर करने के लिए कोई वाद अच्छा क्यों है? ये यन्त्र अच्छे हैं या बुरे? ग्रामोद्योग प्रारंभ करें या यन्त्रों की पूजा शुरू करें? हिन्दू-मुसलमानों का प्रश्न आर्थिक है या और कोई कारण है? हिंसा का अवलम्बन करें या अहिंसा का? निश्शस्त्र प्रतिकार हितकर है या निरर्थक साम्राज्य के अन्दर रहकर स्वराज्य प्राप्त करना अच्छा है या उससे अलग हो जाना? लड़के-लड़कियों की सहशिक्षा में हित या अहित? शिक्षा स्वभाषा में हो या विदेशी भाषा में? प्रौढ़-विवाह होना चाहिए या बाल-विवाह? पोशाक एक हो या न हो? क्या तलाक आवश्यक है? स्त्रियों को विरासत का अधिकार क्यों नहीं है?

समाज के सैकड़ों दुःखों के सैकड़ों उपाय उस जिज्ञासु आर्त्त को सूझते हैं। उन उपायों में जो उसे हितकर लगते हैं उन्हें वह अपने मन में स्थान देता है। जो नये-नये विचार उसे सूझते हैं उनमें से अत्यन्त हितकर विचारों को वह अपना लेता है। अब अर्थार्थी भक्त ज्ञानी बन जाता है। अर्थात् जो ज्ञान उसे निर्मल प्रतीत होता है, निश्शंक लगता है, अर्थमय लगता है उसी ज्ञान से वह अविच्छेद सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। वह उस ज्ञान का प्रयोग शुरू करता है। उस प्रयोग के लिए अपना सुखी जीवन अर्पण कर देता है। उस प्रयोग के लिए वह सारी निंदा, सारे अपमान, सारे कष्ट हँसते-हँसते सहन करता है। चाहे फांसी हो, चाहे गोली, वह सबके लिए तैयार रहता है। उस ज्ञान की, उस सत्य के प्रयोग की पूजा करने में—उस सत्य की महिमा बढ़ाने में

उसे अपार आनन्द होता है। यही उसका मोक्ष है, यही उसका सर्वस्व है।

लोगों के सुख-दुःख के साथ एकरूप होना, उनकी वेदना से विह्वल होना, उस वेदना की मीमांसा करना, जो उपाय सूझते हैं उनमें कौन अधिक परिणामकारक, अधिक सत्यमय, अधिक मंगलकारी है यह बात देखना और जो ऐसे उपाय दिखाई दें उनके लिए सारा जीवन दे देना ही ऋषियों का महान् ध्येय होता है। इस प्रकार वे प्रयोग करते हैं और प्राण अर्पण कर देते हैं। भारतीय संस्कृति में ऐसे सन्त प्राचीन काल से ही होते आ रहे हैं। वे आज भी दिखाई देते हैं। ऐसे प्रयोग करनेवाले निर्भय, सत्यमय, ध्येयनिष्ठ वीरों ने ही समाज को आगे बढ़ाया है।

"इन विष्णु वीर के चरणों में गिरता रहता है काल स्वयं"

इस प्रकार के ज्ञानोपासक विष्णु वीर किसी से भिक्षा नहीं मांगते। वे किसी भी सत्ता से डरते नहीं। ध्येय-रूपी ईश्वर के सामने ही वे झुकते हैं। ध्येय-देव की ही वे पूजा करते हैं। किसी दूसरे देवता को नहीं जानते।

इस प्रकार ध्येय से जगमगाता महात्मा जब समाज में खड़ा होता है तो आखिर में सारा समाज जगमगाये बिना नहीं रहता। जनता उसके महान् प्रयोग में शामिल होती है। जिस प्रकार कोई बड़ा वृक्ष धीरे-धीरे तपस्या से बढ़ता है, उसमें फल-फूल आते हैं, फिर हवा आती है और दसों दिशाओं में उसके बीज फैला देती है और जंगल-के-जंगल खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार एक दिव्य-भव्य सत्य का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति भी खड़ा रहता है। उसके प्रयोग के बीज लाखों हृदयों में पड़ते हैं, फिर उसके आसपास उसी ध्येय के लाखों उपासक एकत्र हो जाते हैं। क्योंकि आखिर मनुष्य सत्यमय है। उसकी आत्मा का नैसर्गिक स्वभाव जागृत होता है, उसके हृदय में मंगल की आवाज सुनाई देती है।

इस प्रकार महान् आन्दोलन होते हैं, प्रचण्ड क्रांतियां होती हैं। मानव-जाति एक कदम आगे बढ़ाती है। म ष्य-जाति इसी प्रकार प्रयोग

करती जा रही है। जो समाज ऐसा प्रयोग नहीं करेगा वह मर जायगा। जो संस्कृति ऐसे प्रयोग नहीं करेगी उसकी कीमत कौड़ी के वरावर हो जायगी।

: ५ :

वर्ण

'वर्णाश्रम धर्म' हम कई वार सुनते हैं। वर्णाश्रम स्वराज्य संघ आदि संघ भी कायम हो गये हैं। लेकिन वर्ण का अर्थ क्या है? आश्रम का अर्थ क्या है? ऐसा प्रतीत होता है कि इसपर अधिक गंभीर विचार नहीं किया गया है। आइये, इस प्रकरण में हम इस वात का संक्षिप्त विवेचन करेंगे कि वर्ण का अर्थ क्या है?

हमें ऐसा कहा जाता है कि अपने-अपने वर्ण के अनुसार हम सवको आचरण करना चाहिए। लेकिन वर्ण के अनुसार आचरण करने का अर्थ क्या है? इसका स्पष्टीकरण किया जाता है कि ब्राह्मण को ब्राह्मण-धर्म के अनुसार, वैश्य को वैश्य-धर्म के अनुसार और शूद्र को शूद्र-वृत्ति के अनुसार आचरण करना चाहिए।

इस सारे वोलने और कहने में एक वात मान ली जाती है कि माता-पिता के ही सारे गुण-धर्म वच्चों में आते हैं; परन्तु प्रत्यक्ष संसार में इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। यह वात नहीं है कि माता-पिता की रुचि-अरुचि वच्चों में आती ही है। माता-पिता से एकदम भिन्न रुचि के वालक भी हमें दिखाई देते हैं। हिरण्यकशिपु के यहां प्रह्लाद पैदा हुआ।

लेकिन यदि मां-वाप के गुण-धर्म वालक में न आएं तो भी वच्चे वचपन से ही अपने आसपास जो वातें देखते हैं उसका प्रभाव उनके जीवन पर पड़े विना नहीं रहता। उस वातावरण का उनके मन पर असर होगा।

कीर्तनकार का बच्चा बचपन से ही घर पर कविता-आख्यान आदि सुनेगा। गवैये का बच्चा गाने, तानपूरा, तबले, पेटी आदि के सम्पर्क में बड़ा होगा। बुनकर का बच्चा छोटा करघा, पींजन, तानेवाने, घोटे आदि से परिचित रहेगा ही। किसान के लड़के को हल, बक्खर, बोना, नींदना, खोदना, मोट, नाड़े आदि की आदत रहती है। सिपाही का लड़का घोड़े पर बैठेगा, भाला चलायगा, तलवार चलायगा। बनिये का लड़का तराजू तोलेगा, चीजों का भाव बतायगा, अच्छी पुड़िया बांधकर देगा, आय-व्यय का हिसाब रखेगा। चित्रकार का लड़का रंगों में मस्त रहेगा। चर्मकार का लड़का चमड़े से खेलेगा। इस प्रकार जिन बालकों के आसपास जो वातावरण होगा उसके अनुसार ही वे बनेंगे।

क्या मनुष्य केवल परिस्थितियों का दास है? आसपास के वातावरण का असर अवश्य होता है, लेकिन यदि बच्चे में कुछ हुआ तभी तो परिणाम होगा। यदि बीज ही न हुए तो कितना ही पानी डालने से अंकुर थोड़े ही उगेंगे। पहले बीज होने चाहिएं। जन्मतः अन्दर कुछ-न-कुछ होना चाहिए।

प्राचीन काल से ही ऐसा माना गया है कि माता-पिता के ही गुण-धर्म बच्चों में आते हैं। वातावरण के कारण माता-पिता का वर्ण ही बच्चों के जीवन में आना सम्भव दिखाई देता है। लेकिन चूंकि उस समय के प्रयोग और संशोधन के अनुसार उस समय जो निश्चित कर लिया गया था, वह आज भी मानना चाहिए यह बात नहीं है। आज शास्त्र बढ़ गये हैं। आज अधिक शास्त्रीय दृष्टि से वर्ण-परीक्षा की जाती है।

यह सिद्धान्त त्रिकालाबाधित है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार आचरण करना चाहिए। हमने चार वर्णों की कल्पना की है। लेकिन यह कल्पना बहुत व्यापकता से की गई है। ज्ञान की उपासना करनेवाला ब्राह्मण वर्ण। लेकिन ज्ञान सैकड़ों प्रकार का है। वेद अनन्त है। समय के बढ़ने के साथ ज्ञान भी बढ़ता जा रहा है। मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, पुनर्जन्मशास्त्र, सृष्टिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र,

रसायनशास्त्र, वातावरणशास्त्र, विद्युत्शास्त्र, संगीतशास्त्र, शरीरशास्त्र, शल्यक्रियाशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, उदभिज्जशास्त्र इस प्रकार सैकड़ों शास्त्र हैं। अतः ज्ञान की उपासना करना एक वर्ण हो गया। लेकिन ये एक वर्ण के सैकड़ों अंग हैं।

यही बात क्षत्रिय वर्ण की है। विमान-युद्ध, नाविक-युद्ध, जल-युद्ध, वात-युद्ध इस प्रकार सैकड़ों तरह के युद्ध हैं।

वैश्यवर्ण। कृषिगोरक्ष्य-वाणिज्य का अर्थ है वैश्यकर्म। लेकिन इनमें प्रत्येक के सैकड़ों भाग हैं। कोई अफीम पैदा करता है तो कोई तम्बाकू बोता है। कोई कपास उगाता है तो कोई मूंगफली बोता है। कोई संतरे लगाता है तो कोई अंगूर लगाता है। जिस प्रकार खेती के सैकड़ों प्रकार हैं उसी प्रकार व्यापार के भी सैकड़ों प्रकार हैं। यह कपास का व्यापारी है, यह अनाज का व्यापारी है, यह घी का व्यापारी है, यह तेल का व्यापारी है, यह मिल-मालिक है, यह लोहे का व्यापारी है। इस प्रकार वैश्यों के सैकड़ों प्रकार हैं।

हजार तरह के धन्धे होने के कारण हजारों जगह मजदूरी करनेवाले शूद्र भी अनेक कामों में लगते हैं।

इन चार वर्णों में हजारों प्रकार समा जाते हैं। इन हजारों प्रकारों में से बच्चा कौन-सा काम अपने हाथ में ले? बच्चे को किस वर्ण के किस भाग की उपासना करनी चाहिए?

'वर्ण' शब्द का अर्थ है रंग। हम कहते हैं कि आकाश का वर्ण नीला है। मराठी में वर्ण शब्द से वाण बना है। 'गुण नाहीं पण वाण लागला' नामक कहावत में वाण शब्द का अर्थ है रंग। मैं अमुक वर्ण का हूं इसका यही मतलब है कि मैं अमुक रंग का हूं।

ईश्वर ने हमें कौन-सा रंग देकर भेजा है? कौन-से गुण-धर्म देकर मुझे भेजा है? 'कुहु' बोलना कोकिल का जीवन-रंग है। मधुर सुगन्ध देना गुलाब का जीवन-धर्म है। हममें से कौन-सा रंग, कौन-सी गंध बाहर निकलेगी? हमें किस रंग का विकास करना है?

बच्चों के गुण-धर्म की परीक्षा किये बिना यह कैसे मालूम होगा? इस बात की शास्त्रीय शोध की जानी चाहिए कि बालक कौन-सा रंग

लेकर पैदा हुआ है। स्मृति में कहा गया है कि जन्मतः हम सब एक ही वर्ण के होते हैं। पहले हमारा कोई वर्ण नहीं होता है। वर्ण नहीं होता इसका क्या मतलब ? वर्ण होता है लेकिन वह अप्रकट होता है, अस्पष्ट होता है। आठ वर्ष की आयु तक हम वर्णहीन होते हैं। जब वर्ण समझने लगे कि उपनयन करना चाहिए। यह एक प्रश्न ही है कि जबतक वर्ण नहीं मालूम हो, तबतक उपनयन कैसे किया जाय ?

जब बालक आठ-दस वर्ष का होता है तब हमें उसके गुण-धर्म मालूम होने लगते हैं। किसी में पढ़ने का शौक दिखाई देता है, कोई गाता रहता है, कोई बजाता रहता है। कोई घड़ी सुधारा करता है। कोई बगीचे में खेला करता है, कोई कुश्ती लड़ता है। कोई पक्षियों को गोफन से मारता है। इस प्रकार बच्चों की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं। बच्चों के भिन्न-भिन्न गुण-धर्म दिखाई देते हैं।

स्वतन्त्र देशों में शिक्षा में भिन्न प्रकार के प्रयोग होते हैं। बच्चों के वर्ण की शोध करने का प्रयत्न किया जाता है। बैठकखाने में सैकड़ों वस्तुएं रखते हैं। वहां रंग होते हैं, वाद्य होते हैं, यन्त्र होते हैं, पुस्तकें होती हैं; बाहर घोड़े होते हैं, फूल होते हैं, अनाज बोया हुआ होता है, साइकिलें होती हैं। शिक्षक यह देखते हैं कि बच्चे का मन किस बात में लगता है। इन बालक-रूपी तितलियों को वहां छोड़ दिया जाना चाहिए और यह नोट करना चाहिए कि घूम-फिरकर और मग्न होकर वे कहाँ ज्यादा देर तक रहते हैं। बहुत दिनों के निरीक्षण के बाद जाकर कहीं शिक्षक को बालक की रुचि-अरुचि का पता लगता है। फिर वह शिक्षक बालक के अभिभावक को बताता है कि ऐसा लगता है कि तुम्हारा बच्चा चित्रकार बनेगा, तुम्हारा बच्चा उत्कृष्ट माली बनेगा, तुम्हारे बालक की बुद्धि यन्त्रों को सुधारने में रमती हुई प्रतीत होती है। बच्चे के गुण-धर्म मालूम होने के बाद जहां उन गुणों का विकास हो वहां उसे भेजना बालक के अभिभावक एवं शिक्षा-विभाग का कर्त्तव्य हो जाता है।

उपनयन का अर्थ है गुरु के पास ले जाना। कौन-से गुरु के पास ले जाय ? उस गुरु के पास ले जाना चाहिए जो बालक के विशेष गुणों का

विकास कर सके। जिस बालक की रुचि संगीत में हो उसे गणित सिखाने वाले शिक्षक के पास ले जाने से क्या लाभ? वह तो बालक की संगीत की रुचि समाप्त कर देगा। बाल-कोकिल का गला दबा दिया जायगा। यह बात मानो बालक की हत्या करने-जैसी ही होगी।

जिस राष्ट्र में, जिस राज्य-पद्धति में व्यक्ति के वर्ण की शास्त्रीय शोध होती है और उसके वर्ण के विकास के लिए पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है और इस वर्ण-विकास के मार्ग की सारी कठिनाइयाँ दूर की जाती हैं वह राष्ट्र बहुत बड़ा है। वहाँ की राज्य-पद्धति आदर्श समझी जानी चाहिए।

लेकिन यह बिना स्वराज्य के कैसे संभव होगा? इसके लिए ही स्वराज्य की आवश्यकता है। व्यक्ति के विकास के लिए स्वराज्य की जरूरत है। स्वराज्य की इसलिए आवश्यकता है कि उसके द्वारा व्यक्ति की ईश्वरप्रदत्त देन विकास करती है। जबतक स्वराज्य नहीं मिलता तबतक सच्चा वर्ण नहीं बन सकता; तबतक वर्ण नाममात्र के लिए रहेगा। लेकिन व्यक्ति के गुणधर्म का शास्त्रीय परीक्षण और निरीक्षण न हो सकेगा। विकास के मार्ग के रोड़े दूर नहीं होंगे।

आजकल स्कूल में शिक्षक क्या अनुभव करता है? आज भिन्न-भिन्न गुण-धर्मवाले बालकों की वहां हत्या हो रही है। सबको हमेशा एक ही शिक्षा दी जाती है। आज वर्ण-विकास के लिए कोई अवसर नहीं है, दरिद्रता के कारण आज कोई भी बालक अपनी रुचि की शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाता। सच्चा वर्णाभिमानी सबसे पहले स्वराज्य के लिए अपना सर्वस्व देने को तैयार रहेगा।

कोई धनी व्यक्ति ही अपने वर्ण के अनुसार आचरण कर सकता है। लेकिन क्या यह सब लोगों के लिए संभव है? लोकमान्य तिलक का कौन-सा वर्ण था? तत्वज्ञान में मग्न रहना, गणितशास्त्र में डूबे रहना, यही उनकी आत्मा का धर्म था। शायद उनके लिए उन गुण-धर्मों का विकास करना संभव था। लेकिन उन्होंने देखा कि लाखों लोगों के लिए अपने गुण-धर्म का विकास करना इस सर्वभक्षक परतन्त्रता में

संभव नहीं है। अतः उन्होंने कहा—आइये, सबके विकास के लिए मार्ग में रुकावट डालनेवाली परतन्त्रता को सबसे पहले नष्ट कर दें। लोकमान्य स्वराज्य के लिए आगे बढ़े। राष्ट्र का वर्ण-विकास ठीक प्रकार हो। राष्ट्र में, आज नहीं तो कल, कभी भी सच्चे वर्ण-धर्म की स्थापना हो, इसीके लिए वह निरंतर परिश्रम करते रहे।

महात्मा गांधी ने भी एक बार ऐसा ही कहा था। महात्माजी समाज-सुधारक वृत्ति के थे; परन्तु राष्ट्र के विकास में परतन्त्रता को एक बहुत बड़ी रुकावट अनुभव करके वह उसे दूर करने के लिए उठे। इतिहासाचार्य राजवाड़े दुःख और संताप से कहते थे, "कदम-कदम पर स्वराज्य की याद आती है।" यदि स्वराज्य प्राप्त हो गया होता तो राजवाड़े कितना ज्ञानप्रान्त विजय कर लेते इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' गीता का यह चरण बार-बार कहा जाता है। इस चरण में धर्म शब्द का अर्थ हिन्दू-धर्म, मुसलमान-धर्म नहीं है। यहां धर्म शब्द का अर्थ है वर्ण। अर्जुन की वृत्ति क्षात्र थी। उत्तर गोग्रहण तक हजारों शत्रुओं के सिर गेंद की तरह उछालने में उसे आनन्द मिलता था। जन्म से ही उसके हाड़-मांस में रमी हुई यह क्षात्र-वृत्ति अर्जुन मोह के कारण छोड़ना चाहता था। वह संन्यास की बातें करने लगा। कहता था भिक्षा मांगकर जीवित रह लूंगा। लेकिन क्या उसका यह श्मशान-वैराग्य टिक सकता था? वह जंगल में जाता और वहां हरिण, पक्षी आदि मारकर उनका मांस बड़े शौक से खाता। इससे तो उसकी फ़जीहत हो जाती। वृत्ति से, वैराग्य से, चिन्तन से सच्चा वैराग्य प्राप्त न करने के कारण केवल लहर से ही संन्यासी हो जाने से दंभ पैदा होता।

जो वृत्ति अभी अपनी आत्मा की नहीं हुई है उसे एकदम अंगीकार कर लेना भयावह ही है। अंतरंगी आसक्ति होते हुए संन्यासी हो जाना समाज का और अपना अधःपतन ही है। जिसके मन में शिक्षा के प्रति आस्था नहीं है, यदि वह स्कूल में पढ़ाता है तो उससे उसको तो संतोष होता ही नहीं है, राष्ट्र की भावी पीढ़ी की भी अपार हानि होती है।

भले ही समाज में हमारा वर्ण यदि छोटा समझा जाता है तव भी उस वर्ण के अनुरूप समाज की सेवा करते रहने में ही विकास होता है। पानी की अपेक्षा दूध कीमती है; पर मछली पानी में ही वढ़ती है, दूध में तो वह जीवित भी नहीं रहेगी।

"मछली का जीवन तो पानी, पय उसे न जीवित रख सकता।"

प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए। इसका यही अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण के अनुसार आचरण करना चाहिए, अपने गुण-धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए और समाज-सेवा करनी चाहिए।

संस्कृत में न्यायशास्त्र में धर्म शब्द की व्याख्या एक विशिष्ट अर्थ में की जाती है। जिसके विना कोई पदार्थ रह ही नहीं सकता वही धर्म है। उदाहरणार्थ, जलाना अग्नि का धर्म है। विना उष्णता के अग्नि नहीं रह सकती। विना शीतलता के पानी नहीं रह सकता। विना प्रकाश के सूर्य का कोई मूल्य नहीं। यदि हम सूर्य से कहें कि 'तपो मत' तो वह कहेगा, "मेरे न तपने का अर्थ होगा मेरी मृत्यु।" यदि हम वायु से कहें कि 'तुम बहो मत' तो वह कहेगी, "यदि मैं न वहूं तो क्या करूं? वहते रहना ही मेरा जीवन है।" यह है धर्म शब्द का अर्थ।

हम जिसके विना जीवित नहीं रह सकते और जिसके लिए जीने और मरने की भावना पैदा होती है वही हमारा वर्ण-धर्म है। किसान से कहिए कि—"जमीन मत बो, गाय-ढोर मत पाल, मोठ मत चला।" तो वह उकता जायगा। शिक्षक को मई महीने की छुट्टी से घवराहट होती है। शिक्षा प्रदान करना ही उसका परमानन्द होता है। वैश्य से कहिये कि—"दुकान पर मत वैठ, भाव की पूछताछ मत कर।" तो उसे जीवन में कोई मिठास अनुभव न होगी। अपना प्रिय सेवा-कार्य ही मानो हमारा प्राण होता है। उसके लिए ही जीने और उसी के लिए ही मरने की प्रेरणा होती है।

इस प्रकार का हमारा जो सेवा-धर्म हो उसके लिए ही हमें सव-कुछ करना चाहिए। उस वर्ण का, उस रंग का हमें रात-दिन प्रयत्न करके

विकास करना चाहिए और मरने पर भगवान् के पास जाकर कहना चाहिए, "भगवन्! आपने ही यह पूंजी मुझे दी थी। मैंने उसे इतना बढ़ाया है, उस पूंजी को बढ़ाकर मैंने समाज को सुखी किया। मैंने समाज-पुरुष की सेवा की", तो भगवान् को संतोष होगा और वह तुम्हें गले लगा लेगा।

: ६ :

कर्म

भारतीय संस्कृति में व्यक्ति का महत्त्व है या समाज का? व्यक्ति समाज के लिए है। समाज का अर्थ है माया, सत्य तो समाज है। अद्वैत सत्य है, द्वैत मिथ्या है। शंकराचार्य संसार को मिथ्या मानते हैं इसका क्या मतलब? यही कि व्यक्ति की गृहस्थी मिथ्या है। यदि हम केवल अपने पर ही दृष्टि रखें तो वह मिथ्या है। अपने आसपास दुःख रहते हुए भी यदि हम अकेले ही सुखी होने की इच्छा करें तो वह भ्रम है। यदि आसपास आग लगी है तो अकेला हमारा मकान कैसे सुरक्षित रह सकता है? संसार में केवल अपने ऊपर ही दृष्टि रखने से काम नहीं चल सकता। यदि परिवार का हरेक व्यक्ति अपना-अपना ही खयाल रखे तो कुटुम्ब बिखर जायगा। उस कुटुम्ब में आनन्द कैसे दिखाई देगा? वहां समाधान कैसे रह सकेगा? जिस कुटुम्ब में प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के सुख में ही अपना सुख समझता है, वही कुटुम्ब समृद्ध बनेगा, सुखी और आनन्दमय दिखाई देगा।

जो नियम कुटुम्ब पर लागू होता है वही समाज पर, सारे संसार पर लागू होता है। हम समाज के लिए हैं, इस मनुष्य-जाति के लिए हैं, सारे प्राणियों के लिए हैं। यदि पत्थर अलग पड़ा रहे तो उसका कोई महत्त्व नहीं; लेकिन यदि वह संयमपूर्वक इमारत में बैठ जाय तो वह अमर हो जाता है, उसे महत्त्व प्राप्त हो जाता है। हमें इस समाज की इमारत में योग्य स्थान पर बैठना चाहिए और वहां सुशोभित होना चाहिए।

समाज सत्य है, व्यक्ति नहीं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता न हो। व्यक्ति समाज के लिए है, लेकिन वह अपने गुण-धर्म के अनुसार समाज के लिए जीवित रहेगा। हमारा जो वर्ण है उसके विकास के द्वारा हम समाज की सेवा करेंगे। यह ठीक है कि हम समाज की सेवा करेंगे; लेकिन करेंगे अपनी विशेष रुचि के अनुसार ही। समाज हमारा वर्ण नष्ट नहीं करेगा। समाज हमारे विकास की व्यवस्था कर देगा। लेकिन हम अपने विकास से समाज की ही सेवा करेंगे। हमारा विकास समाज को सुशोभित करेगा, सुख पहुंचायगा, प्रसन्नता देगा, पोषण करेगा। हम समाज के लिए हैं और समाज हमारे लिए है। समाज की शोभा मेरे कारण है, मेरी शोभा समाज के कारण है, इस प्रकार यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

मनुष्य को समाज की सेवा तो करनी चाहिए लेकिन कौन-सी? उसका चुनाव कौन करेगा? कौन यह सब निश्चित करेगा?

कर्म के बिना तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। यदि हम सब कर्मशून्य हो जायं तो फिर समाज चलेगा कैसे? सारी सृष्टि कर्म कर रही है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को भी कर्म करना ही चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर, हृदय और बुद्धि है। शरीर को कर्म करना चाहिए। कर्म में हृदय का प्रेम उतरना चाहिए और वह कर्म करते हुए बुद्धि को काम में लाना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को शरीर, हृदय और बुद्धि इन तीनों के योग से समाज के काम में रात-दिन भिड़े रहना चाहिए, आनन्द के साथ मेहनत करते रहना चाहिए।

लेकिन किस काम में तल्लीन रहना चाहिए? अपनी रुचि के काम में। हमारा जो वर्ण हो, जो वृत्ति हो, उसके अनुरूप कर्मों में तल्लीन हो जाना चाहिए। हमें उसी काम में अखंड-रूप से तल्लीन होना चाहिए, जो हमारे ऊपर लादा हुआ न हो और हमारी रुचि का बन सके।

हमें जो काम अपनी इच्छा के विरुद्ध करना पड़ेगा उससे हमारी आत्मा उकता जायगी। उससे हमें कोई आनन्द न होगा। वह कर्म हमसे ठीक तरह नहीं होगा।

अपनी रुचि के अनुसार हमें कोई भी सेवा-कार्य लेना चाहिए और उसके द्वारा समाजरूपी देवता की पूजा करनी चाहिए। सेवा के सारे कर्म पवित्र हैं। कोई भी सेवा-कर्म तुच्छ नहीं है, दीन नहीं है। वर्ण में श्रेष्ठ और कनिष्ठ का भाव नहीं है। भगवान् के यहां सारे वर्ण समान योग्यतावाले हैं। सेवा के सारे कर्मों की कीमत बराबर है।

समाज को समयानुकूल नवविचार देनेवाला मनुष्य जितना बड़ा है समाज को अनाज देनेवाला किसान भी उतना ही बड़ा है। समाज की रक्षा करनेवाला योद्धा जितना बड़ा है उतना ही बड़ा समाज को मोट बनाकर देनेवाला चमार भी है। पाठशाला का शिक्षक जितना बड़ा है उतना ही बड़ा रास्ता साफ करनेवाला मेहतर भी है। सच्चे हृदय से विचारपूर्वक किया हुआ कोई भी सेवा-कार्य मोक्ष दे सकता है।

गीता में स्वकर्म को ही मोक्ष प्राप्त करने का साधन बताया गया है—

"स्वकर्म सुमन से पूजो प्रभु को तभी मिलेगी मुक्ति यहां"

ईश्वर तो दूसरे फूल पसंद ही नहीं करता। आप रात-दिन जो हजारों कर्म करते हो वे ही मानो फूल हैं। ये कर्म-रूपी फूल रसमय, गन्धमय हैं या नहीं, यह देखना ही सच्चा धर्म है।

ये स्वकर्म प्रत्येक व्यक्ति के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और होंगे भी। ईश्वर एक ही तरह के व्यक्ति नहीं बनाता है। छापाखाने में से जिस प्रकार जल्दी-जल्दी आवृत्तियां निकलती हैं वैसा ईश्वर नहीं करता। ईश्वर की प्रतिभा कमजोर नहीं है। वह तो सैकड़ों रंग और गंध के फूल खिलाता है। इस संसार में सैकड़ों गुण-धर्म के व्यक्ति भी भेजता है। बगीचे में सैकड़ों फूल होते हैं, लेकिन कौन-से फूल बड़े हैं, कौन-से अधिक योग्यतावाले हैं? बगीचे में एक ही रंग और एक ही गन्ध के फूल हमें अच्छे नहीं लगते। गुलाब, मोगरा, जुही आदि के साथ-साथ झंडू केवड़ा आदि फूल भी होने चाहिएं। सबका रंग भिन्न है, गन्ध भिन्न है। सबके कारण ही बाग सुंदर दिखाई देता है। उन फूलों के

आसपास हरे-हरे पत्ते भी होने चाहिएं। पत्तों में न फूल होते हैं, न फल, लेकिन वे हरे-हरे पत्ते—वे सादे पत्ते—यदि वहां न होते तो वे फूल सुशोभित नहीं होते।

मानव-समाज में यदि सभी एक ही वर्ण के हों तो वह जीवन कितना नीरस हो जायगा! यदि सारे गानेवाले, सारे बजानेवाले, सारे शास्त्रज्ञ, सारे ही कुम्हार हों तो समाज नहीं चल सकेगा। समाज में कोई आनन्द नहीं दिखाई देगा। विविधता में ही आनन्द है। लेकिन यह विविधता सारे समाज के लिए है।

इस विविधता में तभी आनन्द रहेगा जब कि ऊंच-नीच की बुरी भावना समाज में नहीं रहेगी। भारतीय संस्कृति में जबसे वर्णों में ऊँच-नीच का भाव आया उसी समय से संस्कृति खोखली होने लगी। अज्ञात रूप से अन्दर-ही-अन्दर समाज का अधःपतन शुरू हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस वृत्ति के विरुद्ध विद्रोह किया। श्रीकृष्णजी ने अपने कर्मों से यह दिखा दिया कि समाज-सेवा का प्रत्येक कार्य बड़ा है। श्रीकृष्णजी ने गायें चराईं, घोड़े हांके, जमीन लीपी, जूठन उठाया और गीता का उपदेश भी दिया। उस महापुरुष ने यह घोषणा की कि प्रत्येक कर्म बड़ा है।

"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्"

श्रीकृष्ण ने एकदम सबके लिए मोक्ष के द्वार खोल दिये। कहा जाता है कि स्त्रियों को ज्ञान का अधिकार नहीं है, मोक्ष का अधिकार नहीं है। लेकिन श्रीकृष्ण कहते हैं कि चूल्हे के पास बैठनेवाली, अनाज पीसनेवाली, घर लीपनेवाली, पलना झुलानेवाली स्त्री भी मोक्ष की अधिकारिणी है। जो पति की इच्छा में ही अपनी इच्छा मिला देती है, बाल-बच्चों के पालन-पोषण में अपने को भूल जाती है यदि उस कर्मयोगिनी स्त्री को मोक्ष न मिले तो फिर कौन मोक्ष का अधिकारी है!

समाज-सेवा का कोई भी कार्य लीजिये, आपको उससे मोक्ष मिलेगा। सारे सन्त यह बात कहते आये हैं। सन्त केवल झांझ बजानेवाले ही नहीं थे। वे आलसी भी नहीं थे। वे दूसरों के द्वारा

ोषण प्राप्त करनेवाले भी नहीं थे। उन्होंने कभी समाज पर अपना भार हीं डाला। किसी भी सन्त को लीजिए, वह कोई-न-कोई समाजोपयोगी ाम करता ही है। कबीर कपड़ा बुनते थे, गोरा कुम्हार मटके नाता था, सांवता माली सब्जी बेचता था, सेना नाई हजामत बनाता ा, जनाबाई अनाज पीसती थी, तुलाधार वैश्य बनिये का धन्धा करता ा, सदन कसाई खटीक का काम करता था। ये सारे सन्त मोक्ष के अधि-ारी थे।

कोई प्रश्न कर सकता है कि कसाई को मोक्ष कैसे मिला? जबतक माज में मांस खानेवाले लोग हैं तबतक कसाई का धन्धा करनेवाले ोग भी रहेंगे ही। उस धन्धे को समाज-सेवा का धन्धा ही कहना होगा। ्युनिसिपल कमेटी को कसाईखाने बनवाने पड़ेंगे। जो कसाई जानवर को बना अधिक कष्ट दिये ही मार देगा और कसाई के धन्धे में भी बुद्धि से ाम लेगा वह मोक्ष प्राप्त करेगा। वह गन्दगी नहीं होने देगा। जहाँ ान में आये वहीं पशुहत्या न करेगा, वह छोटे-छोटे बच्चों की आंख बचाकर ो काम करेगा। कसाई स्वयं मांस न खाता हो, लेकिन चूंकि वह धन्धा र्वजों से चलता आया है, समाज को उसकी आवश्यकता है तो फिर उसमें ये आदमी को पकड़कर पशुओं को अधिक कष्ट देने के बजाय उस धन्धे ा अच्छा ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति का ही उसमें पड़ना भूतदया की दृष्टि े अधिक श्रेयस्कर है। वह उस काम को अनासक्त भावना से रेगा।

कसाई की भांति फांसी देनेवाला जल्लाद भी है। समाज में जबतक ांसी का दण्ड है तबतक किसी फांसी देनेवाले की आवश्यकता होगी ही। दि किसी नये आदमी ने कैसी भी टेढ़ी-तिरछी फांसी गले में लगा दी ौर वह अभागा अपराधी तड़पता हुआ अधिक समय तक लटकता रहे तो समें उसे कितना दुःख होगा! यदि फांसी ही देनी है तो अच्छी तरह दो। एकदम गले में फांसी लगे और शीघ्र ही बिना अधिक वेदना और कष्ट हुए प्राण निकल जायं, ऐसा उपाय करना चाहिए। यह बात वही व्यक्ति कर सकेगा जो इस काम में कुशल होगा। इंग्लैंड में कुल्हाड़ी से सिर काटने की सजा दी जाती थी। जिस समय बड़े-बड़े नेताओं को भी यह सजा दी

जाती थी, उस समय खास करके दूर-दूर से कुल्हाड़ीवाले बुलाये जाते थे। ऐसे आदमियों को बुलाया जाता था जो एक ही वार में सिर अलग कर दें। इसमें यही उद्देश्य निहित रहता था कि उस कैदी को कम-से-कम दुःख हो।

फांसी देनेवाला जल्लाद यदि फांसी ठीक तरह दे और यदि कसाई पशु को अधिक कष्ट दिये विना एकदम मार दे तो वह जल्लाद और वह कसाई मोक्ष के अधिकारी हैं। यदि कोई दोषी है तो सारा समाज ही है।

इस प्रकार समाज-सेवा के जो-जो कार्य हैं उन्हें करनेवाले सब मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह बात गीता और महाभारत कहती है। उन कर्मों की योग्यता बराबर है। किसीको भी अहंकार न होना चाहिए। किसीका सिर इस भावना से ऊँचा नहीं होना चाहिए कि मैं उच्च वर्ण का हूं और किसीका सिर इस भावना से नीचा भी नहीं होना चाहिए कि मैं नीच वर्ण का हूं। सबके सिर समान होने दीजिये। सबकी ऊंचाई एक हो, सबकी कीमत एक।

उपनिषद् में एक सुन्दर कहानी है। एक बार इन्द्र, वायु, अग्नि आदि देवों में बड़ा वादविवाद हुआ। प्रत्येक कहता था कि मैं श्रेष्ठ हूं। इन्द्र ने कहा, "मैं वर्षा करता हूं। यदि वर्षा न हो तो पृथ्वी सूख जाय और जीवन असंभव बन जाय।" वायु ने कहा, "यदि पानी न बरसा तो एक बार चल सकता है, लेकिन हवा तो सबसे पहले मिलनी चाहिए। मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूं।" अग्नि ने कहा, "सबसे पहले गर्मी होनी चाहिए। उष्णता होनी चाहिए। जब उष्णता समाप्त होती है तो आदमी ठंडा हो जाता है। लोग कहते हैं—पैर ठंडे हो रहे हैं। अग्नि के बिना, उष्णता के बिना सब मिथ्या है।"

जब यह वादविवाद चल रहा था तब वहां एक तेजस्वी देवी आई। देवता बड़े चक्कर में पड़े कि यह देवी कौन है, कहाँ की है? अग्नि ने कहा, "मैं उस देवी के पास जाकर सारी जानकारी प्राप्त कर आता हूं।" अग्नि उस देवी के पास गया और पूछने लगा, "आप कौन हैं?"

उस देवी ने उल्टे अग्नि से ही प्रश्न किया, "आप कौन ?"

अग्नि ने चिढ़कर कहा, "मेरा नाम मालूम नहीं है! मैं अग्नि हूं।"

देवी ने कहा, "आप क्या करते हैं ?"

अग्नि ने क्रोधित होकर कहा, "मैं सारा ब्रह्माण्ड एक क्षण में जला दूंगा। क्या तुम्हें मेरा पराक्रम मालूम नहीं है ?"

देवी ने कहा, "होगा तुम्हारा पराक्रम; मुझे तो मालूम नहीं है। लेकिन यहां यह तिनका है, उसे जलाकर दिखाओ।"

अग्नि ने अपनी सारी ज्वाला प्रज्वलित की, लेकिन वह तिनका नहीं जला। अग्नि लज्जित हो गया। वह सिर नीचा करके चला गया।

इसके वाद वायु आया।

वायु ने प्रश्न किया, "आप कौन हैं ?"

देवी ने उल्टे पूछा, "आप कौन हैं ?"

वायु ने घमण्ड के साथ कहा, "मैं वायु हूं।"

"आप क्या करते हैं ?"

"पर्वतों को गेंद की तरह उछालता हू। वृक्ष उखाड़ता हूं, पानी को नचाता हूं, प्रचण्ड लहरें पैदा करके जहाजों को डुबो देता हूं। क्या तुम्हें मेरा पराक्रम मालूम नहीं है ?" वायु ने क्रोधित होकर कहा।

देवी ने कहा, "नहीं; यहाँ एक तिनका है; इसे उड़ाकर दिखाइये।"

वायु ने अपनी सारी शक्ति लगा दी; लेकिन क्षुद्र तिनका अपने स्थान से नहीं हिला। वायु लज्जित होकर नीचा सिर किये निकल गया। इस प्रकार सारे घमण्डी देव परेशान हुए। अन्त में वह अध्यात्मदेवी उमा कहने लगी, "अरे पगलो! 'मैं श्रेष्ठ हूं', 'मैं श्रेष्ठ हूं' ऐसा कहकर क्यों लड़ते हो ? न कोई श्रेष्ठ है, न कनिष्ठ। उस विश्वशक्ति ने इन्द्र को पानी वरसाने की शक्ति दी है, अतः इन्द्र पानी वरसा सकता है। अग्नि को जलाने की शक्ति दी है, अतः अग्नि जला सकती है। वायु को वहने की शक्ति दी है, अतः वायु वहता है। वह विश्वशक्ति यदि अपनी शक्ति वापस ले ले तो फिर तुम शून्य हो, मुर्दे हो। उस शक्ति पर घमण्ड मत करो। उस विशेष शक्ति के कारण दूसरों को हीन मत समझो।"

यह कहानी अत्यन्त शिक्षाप्रद है। ज्ञान देनेवाले ऋषि को, रास्ता झाड़नेवाले भंगी को हीन नहीं समझना चाहिए। चित्रकार को, गायक को हीन नहीं समझना चाहिए। कुम्हार को, बुनकर को तुच्छ नहीं समझना चाहिए। हमें एक-दूसरे को राम-राम कहना चाहिए। राम-राम का मतलब क्या है? यह कि तुम भी राम और मैं भी राम। तुम भी पवित्र और मैं भी पवित्र।

"मल-मूत्र ले जानेवाले भंगी दादा! तू राम है। यह प्रणाम स्वीकार कर!" ऋषि यह बात गद्‌गद् होकर कहेगा।

"हे दिव्य ज्ञान देनेवाले ऋषि! मेरा प्रणाम स्वीकार करो! तू ही राम है।" यही बात गद्‌गद् होकर नम्रतापूर्वक भंगी कहेगा।

'राम-राम'; 'सलाम आलेकुम, वालेकुमस्सलाम' यह कहकर सबको खुशी के साथ रहना है।

लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण की यह महान् दृष्टि भारतवर्ष भूल गया। लोग सन्तों का जीवनकर्म भूल गये और ऊँच-नीच की भावना घुसने से सारा समाज खोखला हो गया। बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के रूप में समाज के टुकड़े बना दिये गए। बुद्धिजीवी अपने को श्रेष्ठ समझने लगे और श्रमजीवी लोगों को सब हीन समझने लगे। सम्पत्ति का निर्माण करनेवाला तुच्छ समझा जाने लगा और गद्दी पर बैठकर सम्पत्ति का उपभोग करनेवाले देवता के समान माने जाने लगे।

रामायण में एक छोटी-सी कथा है। यह उस समय का प्रसंग है, जब रामचन्द्रजी शबरी से मिलने गये थे। रामचन्द्रजी जिस वन में बैठे थे वहां चारों ओर फूल खिले थे। वे फूल कुम्हलाते नहीं थे, सूखते नहीं थे। उनसे हमेशा मधुर गन्ध निकलती रहती थी। राम ने शबरी से कहा, "ये फूल किसने लगाये हैं?"

शबरी ने कहा, "राम, इसका एक इतिहास है।"

रामचन्द्रजी ने पूछा, "कौन-सा इतिहास?"

शबरी ने कहा, "राम, सुनो, एक बार आश्रम में लकड़ी न होने के कारण मातंग ऋषि विचार में डूबे हुए थे। यहां मातंग ऋषि का आश्रम था। उनके आश्रम में बहुत-से विद्यार्थी थे। उस आश्रम में दूर-

दूर से वहुत-से ऋषि-मुनि आकर रहते थे। वरसात पास आ रही थी। इतनी लकड़ी की आवश्यकता थी कि वह चार महीने वरसात में काम दे सके। लेकिन विद्यार्थी जा नहीं रहे थे। अन्त में वृद्ध मातंग ऋषि कंधे पर कुल्हाड़ी रखकर निकले। आचार्य को जाते देख सारे विद्यार्थी भी निकले। आश्रम के मेहमान भी निकले। सब लोग दूर जंगल में गये। उन्होंने सूखी हुई लकड़ी काटी और बड़ी-बड़ी मोलियां वांधी। उन मोलियों को सिर पर उठाकर सब लोग लौटे।

"रामचन्द्रजी, वे गरमी के दिन थे। तेज धूप पड़ रही थी। सब लोग पसीने में तर हो रहे थे। उनके अंग-प्रत्यंग से पसीना टपक रहा था। तीसरे पहर के समय सब आश्रम में लौटे। उस दिन फिर छुट्टी हो गई। सब लोग श्रांत थे। थक गये थे। जल्दी ही सो गये।

"प्रातःकाल मातंग ऋषि उठे। सारे विद्यार्थी उठे। सब लोग स्नान के लिए चले। एकदम सुगंध आई। उस मन्द-मन्द उषाकालीन वायु के झोंके के साथ प्रसन्न करनेवाली खुशबू आने लगी। वैसी खुशवू पहले कभी नहीं आई थी। सब लोग आश्चर्य से पूछने लगे, 'यह खुशबू कहाँ से आ रही है?' अन्त में मातंग ऋषि ने कहा, 'जाओ, देख आओ।' हरिणों की तरह छलांग मारते हुए वच्चे निकले। उन्हें क्या दिखाई दिया? जंगल से मोली लाते हुए, जिस-जिस जगह लोगों का पसीना गिरा था, वहां एक-एक सुन्दर खिला हुआ फल दिखाई दिया। हे राम, ये पसीने में से उत्पन्न होनेवाले फल हैं।"

जिस समय मैंने रामायण में यह वात पढ़ी, मैं नाच उठा। मैं गद्गद् हो गया। 'धर्मजानि कुसुमानि' पसीने से पैदा होनेवाले फूल। श्रम से पसीना वहानेवाले अपने वच्चों को देखने के लिए मानो भूमाता शत नेत्र खोलकर देख रही थी। वे फूल नहीं थे। वे तो भूमाता की पवित्र प्रेमल आंखें थीं। वे देखती थीं कि मेरे वच्चे कितनी मेहनत कर रहे हैं। मैं अपने मन में सोचने लगा। मैंने अपने से ही प्रश्न किया कि संसार में कौन-सा पानी श्रेष्ठ है? गंगा-यमुना का, कृष्णा-गोदावरी का, सप्त समुद्रों का पानी क्यों पवित्र है? स्वाति नक्षत्र का पानी मूल्यवान क्यों है? पश्चात्ताप से आंखों में जो पानी आता है वह पवित्र क्यों है? दूसरों का दुःख

देखकर आंखों में जो पानी आता है वह पवित्र क्यों है ? प्रेमीजन की याद में आंखें भर आती हैं, वह अश्रुधारा बड़ी क्यों है ?

मैंने कहा—श्रमजीवी लोगों के शरीर से निकलनेवाले पसीने का पानी ही सबसे बड़ा है। वह पानी मानो संसार का पोषण है। भगवान् तो वर्षा करेगा; लेकिन यदि किसान अपने पसीने का जल खेत में न डाले तो फिर अनाज उत्पन्न कहां से होगा ! फिर लोगों को खाने के लिए दाने नहीं मिलेंगे। पक्षियों को अनाज नहीं मिलेगा। सारी सृष्टि मर जायगी

इंग्लैंड का सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं उदारहृदय कवि शेली एक स्थान पर कहता है, "संसार में सबसे बड़ा कलाकार कौन है ! किसान।" उसका यह कथन कितना सत्य है। बिलकुल उजाड़ दिखाई देनेवाली मरुभूमि को वह हरी-भरी बना देता है। उसे फल-फूलों से सजा देता है, हँसा देता है; लेकिन इस बड़े किसान की आज क्या स्थिति है ! ऋषियों की इस भूमि में आज किसान की क्या दुर्दशा है ! सब उसे तुच्छ समझते हैं। सब उसका अपमान करते हैं। उसे कोई गद्दी पर नहीं बैठाता। उसको सब दरवाजे में बिठाते हैं। जिस दिन सबसे पहले किसान को तकिये के पास बिठाया जायगा उस दिन मैं कहूंगा कि अब भारतीय संस्कृति लोगों की समझ में आ रही है। लेकिन आज सबका पोषण करनेवाले इस किसान के जीवन-वृक्ष पर गुड़बेल की तरह जीवित रहनेवालों को ही मान-सम्मान मिल रहा है। यह दृश्य कितना विद्रूप और नीच है !

आज हमारे समाज में धड़ और सिर अलग-अलग पड़े हैं। धड़ के ऊपर सिर नहीं है, सिर के नीचे धड़ नहीं है। इस प्रकार समाज-पुरुष मृतावस्था में पड़ा है। बुद्धिजीवी लोग, विचारशील लोग आज श्रमजीवी लोगों की कदर नहीं करते। लेकिन जबतक ये सिर धड़ों के पास नहीं जायंगे राष्ट्र में जीवन पैदा नहीं हो सकेगा। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी दोनों को पास-पास आने दीजिये। बुद्धिवादियों को श्रम करने दीजिये और श्रम करनेवालों को विचारों का आनन्द लेने दीजिये। जब एसा होने लगेगा तब वह सुदिन होगा।

भारतीय संस्कृति कर्ममय है। यह संस्कृति कर्म को प्रधानता देने-वाली है। इस संस्कृति में कोई भी सेवा-कार्य तुच्छ नहीं है। जरा देखिये तो कर्म की महिमा भारतीय संस्कृति में कितनी बढ़ गई है! हमने तो कर्म के साधनों को भी पवित्र मान लिया है। यदि साधन पवित्र हैं तो फिर वे कर्म कितने पवित्र होंगे!

स्त्रियाँ झाड़ू को पैर नहीं छूने देतीं। चक्की को पैर नहीं छूने देतीं। चूल्हे को पैर नहीं छूने देतीं। इसका मतलब क्या है? ये स्त्रियों के सेवा-साधन हैं। झाड़ू लगाकर, अनाज पीसकर और भोजन बनाकर वे सेवा करती हैं। वे उस सेवा से मुक्त होती हैं। वे झाड़ू और वे चूल्हे स्त्रियों के मोक्ष के साधन हैं। झाड़ू को पैर लगाना जिस संस्कृति में पाप माना जाता है और जो संस्कृति यह सिखाती है, उस संस्कृति के भक्तों और उपासकों के लिए झाड़ू लगाने का काम तुच्छ समझना, भंगी को पतित मानना, हीन मानना, कितने खेद की बात है!

किसान हल को पैर नहीं लगाता। पंडित पुस्तक को पैर नहीं लगाता। चमार अपने दरवाजे पर चमड़े के टुकड़ों का तोरण लगाता है। महार दरवाजे पर हड्डी लटकाता है। इन बातों में बड़ा अर्थ भरा हुआ है। वे सेवाकर्म पवित्र हैं। ब्राह्मण समाज की सेवा ज्ञानदान के द्वारा करता है, तो जो पुस्तक सेवा का साधन है उसे वह स्वयं पवित्र मानेगा और दूसरे भी उस सेवा-साधन को तुच्छ नहीं मानेंगे। महार और चमार मृत जानवरों को चीरकर समाज की सेवा करते हैं तो वे हड्डियां और वह चमड़ा पवित्र है। वे उसमें से सम्पत्ति का निर्माण कर रहे हैं, श्मशान में शिवजी रहते हैं और उनके गले में हड्डियों की माला है। चमार मानो शिवशंकर की मूर्ति है।

महाभारत में एक कथा है कि अर्जुन को गांडीव धनुष की निन्दा सहन नहीं होती थी। गांडीव की निन्दा करनेवाले धर्मराज को भी वह मारने के लिए दौड़ा था। अर्जुन को गांडीव इतना प्रिय और पवित्र क्यों लगता था? कारण यह कि वह उसका सेवा-साधन था। वह धनुष दुष्टों से समाज की रक्षा करने का, दीन-दुखियों की रक्षा करने का साधन था। अर्जुन को उसकी निन्दा सहन नहीं हो सकती थी।

वे सेवा-साधन भी पवित्र हैं। फिर वे कर्म पवित्र क्यों नहीं हैं! चाहे कलम हो, चाहे तलवार; चाहे तराजू हो, चाहे हल; चाहे चूल्हा हो, चाहे झाड़ू; चाहे आरी हो, चाहें उस्तरा—भारतीय संस्कृति इन सारे सेवा-साधनों को पवित्र मानती है और नये युग में जो नये सेवा-साधन निकलेंगे उनको भी यह भारतीय संस्कृति पवित्र मानगी।

सेवा-साधनों की हिफाजत करने के लिए कितना कहा गया है। हमेशा सेवा-साधनों को स्वच्छ रखना चाहिए, नहीं तो सेवा उत्कृष्ट नहीं हो सकेगी। पंडित की पुस्तकें ठीक तरह व्यवस्थित रूप में होनी चाहिएं। वीरों के शस्त्र घिसकर और साफ करके रखे जाने चाहिएं। चूल्हा लिपा-पुता होना चाहिए। हंसिये और गंडासे धार लगे हुए होने चाहिएं। यदि ये सेवा-साधन अच्छी तरह न रखे जायंगे तो उत्कृष्ट सेवा नहीं हो सकेगी।

लेकिन यहां एक बात कह देना हम ठीक समझते हैं। मनुष्य सेवा-साधनों का उपयोग सावधानी से करता है; लेकिन कुछ साधनों की उपेक्षा करता है। सेवा-साधन दो प्रकार के हैं—सजीव व निर्जीव।

सेवा-साधन

सजीव: मुअक्किल, शिक्षक, मजदूर, हम्माल आदि मनुष्य; गाय, बैल, घोड़े, खच्चर आदि पशु

निर्जीव: पुस्तकें, छापेखाने, कारखाने, यंत्र, हल, मोटर, आदि

हम यह देखते हैं कि मनुष्य सजीव साधनों की अपेक्षा निर्जीव सावनों की बहुत चिन्ता रखता है। कोई भी जमींदार अपनी बैलगाड़ी अच्छी तरह रखता है। यह देखता है कि उसका पहिया अच्छा है या नहीं। यह भी देखता है कि उसमें तेल डाला गया है या नहीं; परन्तु यह नहीं देखता कि बैल को पेटभर चारा-पानी मिला या नहीं। उसी प्रकार बैल हांकनेवाले नौकर का हाल है। यह नहीं देखता कि नौकर को पेट-भर अन्न मिलता है या नहीं और उसके पास पर्याप्त कपड़ा है या नहीं।

किसी बड़े कारखाने में जाइये। वहां यन्त्रों को नियमित रूप से तेल मिलता है। यन्त्रों की काफी चिन्ता रखी जाती है। वह यन्त्र बार-बार साफ किया जाता है; लेकिन इन निर्जीव यन्त्रों के सामने जो एक सजीव यन्त्र है, उसकी कौन फिक्र करता है? उन मजदूरों के शरीर-रूपी यन्त्र को ठीक-ठीक तेल-घी मिलता है या नहीं, इस बात की फिक्र कौन-सा कारखानेदार रखता है?

कारखाना तो सेवा का साधन है। कारखाने से समाज को उपयुक्त वस्तु मिलती है। कारखाना एक पवित्र वस्तु है। इस पवित्र कर्म के सारे साधन भी पवित्र हैं। अतः यन्त्रों की फिक्र रखना एक महान् धर्म है। हमारा सांचा मानो भगवान् की मूर्ति है, उस सांचे को घिसना-पोंछना मानो देवता की मूर्ति को ही घिसना है। लेकिन निर्जीव यन्त्रों की पूजा के साथ ही सजीव यन्त्रों की भी पूजा कारखानेवालों को करनी चाहिए। उन मजदूरों को अच्छा भोजन, पर्याप्त कपड़े, रहने के लिए अच्छे हवादार मकान, पीने के लिए स्वच्छ पानी, दुर्घटना के समय तत्काल डाक्टरी सहायता, मजदूरों का जीवन-बीमा, उनकी सवैतनिक छुट्टी, मनोरंजन आदि प्राप्त होते हैं या नहीं यह देखना महान् धर्म है। इस महान् धर्म का पालन न करनेवाला नरक का स्वामी है। वह सारे समाज में दासता और दरिद्रता का नरक पैदा करेगा—दुर्गुणों का नरक पैदा करेगा। वह व्यभिचार, चोरी, शराब, खून आदि का प्रसार करेगा।

समाज में यह दृश्य बड़ा दुःखप्रद दिखाई देता है। धनवान व्यक्ति मोटर साफ करने के लिए जितने पैसे खर्च करता है, उतने नौकर को नहीं देता। मोटर रखने के लिए जितना सुन्दर कमरा बनवायेगा उतना सुन्दर वह नौकर के रहने के लिए नहीं बनवायेगा। आज मनुष्यों की अपेक्षा मोटरें पूज्य हैं, मजदूरों की अपेक्षा यन्त्र मूल्यवान हैं। लेकिन यदि इन सजीव सेवा-साधनों की उपेक्षा की गई तो सारा संसार भयानक बन जायगा।

गीता के पन्द्रहवें अध्याय में दो तरह के पुरुष बताये गए हैं—क्षर व अक्षर; और इन दोनों में व्याप्त रहनेवाला है पुरुषोत्तम। क्षर सृष्टि व

अक्षर सृष्टि और उसमें व्याप्त रहनेवाला परमात्मा तीनों ही पवित्र हैं। क्षर सृष्टि का अर्थ है आसपास की बदलनेवाली सृष्टि। इस क्षर सृष्टि से हमें सेवा के साधन मिलते हैं। फूल-फल तथा अनाज मिलते हैं; लकड़ी, पत्थर, धातु सब मिलते हैं।

कल चूल्हा फूट गया तो आज नया रख दिया। पहली मोटर बिगड़ गई तो नई ले ली। पहला दीपक बिगड़ा तो दूसरा खरीद लिया। इस प्रकार ये साधन बदलते रहते हैं; लेकिन ये क्षर साधन पुरुषोत्तम के ही स्वरूप हैं। यह क्षर सृष्टि भी पूज्य है।

बड़े-बड़े कारखानों में मजदूर भी एक प्रकार की क्षर सृष्टि ही हैं। कारखाना सौ वर्ष तक चलता है। पुराने मजदूर जाते हैं और नये आते हैं। मजदूर हमेशा बदलते रहते हैं; लेकिन मजदूर कोई भी हो पवित्र ही है। ये बदलनेवाले मजदूर पुरुषोत्तम के ही स्वरूप हैं। उनकी पूजा करना हमारा कर्त्तव्य है।

कारखानेवाले की दृष्टि से मजदूर क्षर है; लेकिन मजदूर अक्षर भी है। उसमें परमात्मा निवास करता है। वह कभी नष्ट नहीं होता। उस अमर परमात्मा की पहचान वह मजदूर अपने सेवा-कार्य से कर लेगा।

यदि सेवा-कर्म उत्कृष्ट करना चाहते हो तो साधनों को पवित्र मानो। सजीव-निर्जीव साधनों को भी पवित्र समझो। उनको प्रसन्न रखो। दूसरा कोई देव नहीं है, दूसरा कोई धर्म नहीं है। जो कारखानेदार मजदूरों को भगवान् की तरह मानेगा—उसे स्वसेवा का पवित्र साधन मानकर सन्तुष्ट रखेगा, भगवान् को उससे ज्यादा प्रिय और कौन होगा?

किसी भी कर्म—सेवा-कर्म को तुच्छ मत समझो। आजन्म सेवा करो। अपनी पसन्द के काम करो। अपना वर्ण पहचानकर उसके अनुरूप आचरण करो। सारे कर्म उत्कृष्ट ढंग से करो। उस कर्म के सजीव-निर्जीव साधनों को पवित्र मानकर उनकी चिन्ता रखो और इस प्रकार स्वकर्म उत्कृष्ट ढंग से करके जनता-जनार्दन या समाजपुरुष की पूजा करो। यह गीता का धर्म है। लेकिन इस धर्म की सच्ची पहचान आज कितने लोगों को है?

: ७ :

भक्ति

हम यह देख चुके हैं कि व्यक्ति को अपने वर्ण अर्थात् गुण-कर्म के अनुसार समाज की सेवा करनी चाहिए। प्रश्न उठ सकता है कि यह सेवा कैसे उत्कृष्ट हो सकती है ? इस सेवा के कार्य से हम किस प्रकार मुक्त हो सकेंगे ?

और फिर मुक्त होने का भी क्या मतलब ? मुक्त होने का अर्थ है बन्धन में न होना । मुक्त होने का अर्थ है अपने को स्वतन्त्र अनुभव करना । यह अनुभव होना कि हमारे ऊपर किसी का दबाव नहीं है मुक्त होना है। न तो वासना के, न संसार की सत्ता के ही गुलाम होना। अपनी आत्मतुष्टि से, आनन्द से, और उत्साह से कर्म करते रहना ही मोक्ष है।

हम हजारों कर्म करते रहते हैं, लेकिन हमारे ऊपर उनका बोझ रहता है, हम उन कर्मों से घबरा जाते हैं, त्रस्त हो जाते हैं, रुआंसे हो जाते हैं। यह सब क्यों होता है ? इसके दो कारण हैं—पहला यह कि हम जो कर्म करते हैं, वे हमारी पसन्द के नहीं होते, वे हमारे वर्ण के नहीं होते । वे परधर्म होते हैं, लेकिन उसे मोह से हम अंगीकार कर लेते हैं। इस प्रकार यह परधर्म भयावह ही होगा, हमें संत्रस्त करेगा। यह बात गीता पुकार-पुकार कर कह रही है।

किसी शिक्षक को ही लीजिये। जिसे शिक्षा के काम में रुचि नहीं होती, बच्चों के हार्दिक एवं बौद्धिक विकास में जिसे दिलचस्पी नहीं होती उसे अध्यापन-कार्य में कैसे आनन्द आ सकता है ? वह बच्चों का होमवर्क (घर का काम) जांचते हुए मन में दुखी होगा।

उनके प्रश्नोत्तरों की जांच करते हुए वह उनपर सरासर लकीरें बनाता जायगा। उनकी शंकाएं सुनकर चिढ़ने लगेगा। उसे नवीन ग्रंथ पढ़ना भारी मालूम होगा। ऐसे शिक्षक के मन में हमेशा यह खयाल रहेगा कि दीवाली की छुट्टियां कब आयेंगी, बड़े दिन की छुट्टियां कब आयेंगी, गर्मी की छुट्टियां कब आयेंगी। वह शिक्षक का काम उसकी छाती पर सवार रहता है। वह भूत हमेशा उसकी गरदन पर सवार रहता है; लेकिन पेट भरने के लिए वह रोते-रोते और चिढ़ते-चिढ़ते सब-कुछ करता रहता है। वह उसका वर्ण नहीं होता।

आज सारे समाज में यही बात दिखाई दे रही है। आज तो वर्ण के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अतः हर कोई काम हर कोई आदमी करने लगा है। आज तो यह हो रहा है कि चाहे आपको यह पसन्द हो या न हो, वह गुण-धर्म आपमें हो या न हो, लेकिन चूंकि पेट के लिए पैसा उससे मिलता है, अतः उस काम को ले लीजिये और किसी तरह भी कीजिये। जिस समाज में इस तरह के कर्म होते हैं वहां तेजस्विता किस प्रकार आ सकेगी? वह समाज सुखी-समृद्ध कैसे हो सकेगा?

जिस समाज के कर्मों में तेजस्विता नहीं, आनन्द नहीं, उत्साह नहीं, श्रद्धा नहीं, उस कर्म से काम करनेवाले को भी संतोष नहीं होता और कर्म के ठीक प्रकार न होने से समाज का भी नुकसान होता है। स्वयं अपना अधःपतन और समाज का भी अधःपतन। अपनी प्रतारणा और समाज की वंचना।

जो काम हमारी पसन्द के होते हैं, हमें उनसे अरुचि नहीं होती। यदि हम कोकिल से कहें कि "तू आज छुट्टी मना। 'कुहू-कुहू' मत बोल।" तो वह कहेगी कि "यदि मुझे एक बार खाना न मिले तो चल सकता है। लेकिन मुझे 'कुहू-कुहू' बोलने ही दो। इसमें मुझे कोई कष्ट नहीं होता। वह तो मेरा आनन्द है। 'कुहू-कुहू' बोलना ही मेरा जीवन है।" सारी दुनिया में यही बात है। सूर्य, चन्द्र, तारे आदि इतवार की छुट्टी नहीं मनाते, समुद्र निरन्तर गर्जना कर रहा है, नदियां जबतक जीवन होता है निरन्तर बहती रहती हैं। जबतक जीवन है तबतक विश्राम

नहीं। विश्राम की आवश्यकता भी नहीं है। कर्म ही मानो विश्रान्ति है, क्योंकि कर्म ही आनन्द है।

बच्चे खेलते हैं। उस समय उन्हें कितनी मेहनत करनी पड़ती है; परन्तु उन्हें उस मेहनत का बोझ अनुभव नहीं होता। लेकिन उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध यदि आधा मील जाने को कहियें; वह उन्हें भारी मालूम देगा। उनके पैर दुखने लगेंगे। जिस कर्म में आत्मा रंग नहीं जाती, हृदय समरस नहीं होता है, वह कर्म मृत्यु-जैसा हो जाता है, वह कर्म मानो शृंखला बन जाता है। हम सब इस प्रकार के वर्ण-हीन कर्म की शृंखला से रात-दिन बंधे हुए हैं, हम सब बंधे हैं, कोई भी मुक्त नहीं है।

यदि कर्म को बोझा अनुभव नहीं करना चाहते तो स्वधर्म की खोज कीजिये। स्वधर्म का मतलब यह है कि अपने-अपने वर्ण की खोज कीजिये। अपनी पसन्द का सेवा-कर्म हाथ में लीजिये। उसमें आपका मन रम जायगा, रंग जायगा। आपके मन में यह खयाल ही नहीं आयगा कि हमने इतने घंटे काम किया है। आपको समय का कोई खयाल नहीं रहेगा। हम काल के भी काल बन जायंगे। आपको यह चिन्ता न होगी, आप इस संकट में न पड़ेंगे कि समय किस प्रकार काटा जाय!

यदि कर्म उत्कृष्ट करना है और उससे परेशान न होना है तो कर्म करने की रुचि होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि हम जिनके लिए काम करें उनके प्रति हमारे मन में प्रेम हो।

मन में कर्म के लिए प्रेम होना चाहिए और वह कर्म जिसके लिए करना हो उसके लिए भी मन में अपार प्रेम होना चाहिए। अध्यापन-कार्य में रुचि होनी चाहिए और बच्चों के प्रति प्रेम होना चाहिए; तभी शिक्षक शिक्षा के कर्म में रंग सकेगा। वह कर्म उसे बांधने के बजाय मुक्त करेगा। वह कर्म उसे सारे बच्चों के हृदय से, सारे छात्रों की आत्मा से जोड़ देगा। उस कर्म से शरीर में बन्द उसकी आत्मा बाहर की अनन्त आत्माओं के साथ समरस बनेगी। बस, यही मोक्ष है।

कर्म जो हमारी छाती पर चढ़ बैठता है उसका एक कारण है उस कर्म से अप्रीति और दूसरा कारण यह कि जिनके लिए कर्म करना

है उनके प्रति अप्रीति। यदि ये दोनों कारण दूर हो जायं तो मोक्ष पास आ जायगा। कर्म के प्रति प्रेम पैदा कीजिये और उस कर्म का जिन लोगों से संबंध है उनके प्रति भी प्रेम पैदा कीजिये।

उदाहरणस्वरूप, दवाखाने को ही लें। वहां कोई परिचारिका तो होगी ही। यदि उसे सुश्रूषा का काम पसन्द है, वह उसका वर्ण है; लेकिन यदि बीमार व्यक्ति के प्रति उसके मन में प्रेम नहीं है तो वह कर्म उतना उत्कृष्ट नहीं हो सकता। जिस रोगी के प्रति उसे अपनापन अनुभव होगा, प्रेम अनुभव होगा, उसकी सेवा करने में उसे घबराहट नहीं होगी। जिसके प्रति उसके मन में प्रेम नहीं है उसकी भी सेवा-सुश्रूषा तो वह करेगी; लेकिन वह सेवा उसे मुक्त नहीं करा सकेगी। उसे वह सेवा बोझा प्रतीत होगी।

माता अपने बच्चों की सेवा कितने प्रेम से करती है! उस सेवा से उसे त्रास नहीं होता। किसी मां के बच्चे को बीमार पड़ने दीजिये। वह रात-दिन उसके सिर और पैरों के पास बैठती है। आप उससे कहिये, "मां, तुमने बहुत तकलीफ सहन की। तुम बहुत थक गई हो। मैं इस बच्चे को अस्पताल में भरती कर देने की व्यवस्था कर देता हूं।" तो वह क्या कहेगी? "मुझे तकलीफ कैसी? यदि दो हाथ के बजाय मेरे दस हाथ होते तो मैं और सेवा करती। यह सेवा ही मेरा समाधान है। यदि आप बच्चे को मुझसे दूर ले जायंगे तो मुझे कष्ट होगा।"

सन्त लोग जो बहुत-से सेवा-कर्म करके मुक्त हो गये हैं उसका यही कारण है। कबीर कपड़ा बुनते थे। उन्हें कपड़ा बुनने में आलस्य नहीं आता था; वह उस कर्म में मग्न हो जाते थे। वह बेगार नहीं टालते थे। "मुझे यह वस्त्र समाजरूपी देवता को अर्पण करना है। इस कर्म-कुसुम से मुझे समाज-देव की पूजा करनी है।" यह भावना उनके मन में रहती थी। इसीलिए उनके वे कर्म उत्कृष्ट होते थे। भक्ति-विजय में लिखा है कि कबीर बाजार में कपड़े सजाकर बैठते थे। लोग कपड़ों के नमूने देखते थे; लेकिन उन्हें खरीदने का साहस उन्हें नहीं होता था। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि इन कपड़ों की कीमत

अनन्त होगी। लोग कहते कि इन नमूनों की कीमत नहीं आंकी जा सकती। उन नमूनों पर लोगों की दृष्टि गड़ जाती थी। वे उन्हें देखते हुए खड़े रहते थे। ठीक भी है; वे साधारण कपड़े नहीं थे। उन कपड़ों में कबीर का हृदय उतर आता था। जिस कर्म में हृदय उतर आता है, आत्मा उतर आती है, उसकी कीमत कौन कर सकता है? उस कर्म से परमेश्वर मिलता है, मोक्ष प्राप्त होती है।

गोरा कुम्हार मटके बनाता था। वह उसका प्रिय कर्म था; लेकिन जिन ग्राहकों को मटके बेचे जाते थे, उनके लिए उसके मन में अपार प्रेम था। जनता में उसे मानो राम का ही रूप दिखाई देता था। लोगों को धोखा देने का विचार तो उसके मन में भी नहीं आता था। वह यह तो सोचता ही नहीं था कि यदि आज बेची हुई मटकी कल फूट जाय तो जल्दी ही नई मटकियां बिक जायंगी। गोरा कुम्हार इस वृत्ति से मटकी बनाता था कि पिता के द्वारा खरीदे हुए मटके बच्चे भी काम में लें।

अतः मटकों की मिट्टी खूंदते हुए उसे आलस्य नहीं सताता था। वह खूंदने का काम उसे वेद लिखने जितना, गणित के गहन सिद्धांतों जितना ही पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता था। उस मिट्टी को खूंदते-खूंदते वह अपने को भूल जाता था। यदि उस मिट्टी में उसका घुटनों के बल चलता हुआ बच्चा आकर कुचलने लगता तब भी उसे खयाल नहीं रहता। उसकी अन्तर्दृष्टि के सामने जनता-जनार्दन का स्वरूप रहता था। उसे मटके खरीदने के लिए आता हुआ परमेश्वर दिखाई देता था। ऐसी ही तन्मयता से मोक्ष मिलता है। जीवन में अखंड आनन्द प्राप्त होता है। उस आनन्द की कमी नहीं रहती। उस आनन्द से अरुचि नहीं होती। वह निर्मल आनन्द रोचक, अनन्त, अखंड होता है।

यह प्रश्न नहीं उठता कि कर्म छोटा है या बड़ा। प्रश्न तो यह है कि वह कर्म करते हुए, तुम अपनेको कितना भूल जाते हो। कर्म की कीमत अपनेको भूल जाने में ही है। किसी म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष को लीजिये। वह लाखों लोगों की सेवा करता है; लेकिन उसका अहंकार भी उतना ही बड़ा हो तो उस कर्म का कोई मूल्य नहीं।

आइये, इसका हिसाब लगायें।

म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष का काम, कितने लोगों की सेवा इसे अंश की जगह पर लिखिये और उसके अहंकार को हर के स्थान पर लिखिये।

तीन लाख जनता की सेवा
उतना ही अहंकार

इस अपूर्णांक की कीमत क्या है? कीमत एक।

आइये, अब एक मां का उदाहरण लीजिये। वह केवल एक बच्चे की सेवा करती है; लेकिन सेवा करते हुए अपने को भूल जाती है। वह उस सेवा की रिपोर्ट लिखकर प्रकाशित नहीं करवाती। यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगे तो महाभारत-जैसी बन जाय। लेकिन इतना करके भी उसे कुछ विशेष अनुभव नहीं होता। उसके कर्मों का हिसाब लगाइये।

एक लड़के की सेवा
पूर्ण निरहंकारिता (स्वयं को शून्य बना देना)

इस अपूर्णांक की क्या कीमत है? यदि एक को शून्य से भाग दें तो भाग कितनी बार जायगा? कितने का भी भाग लगाइये वह अपूर्ण ही रहता है। एक में शून्य का भाग दें तो $\frac{१}{०}$ या अपूर्णांक की कीमत अनन्त रहती है और अनन्त का अर्थ है मोक्ष।

यदि कर्म में प्रेम हो, आत्मा हो तो एक छोटे-से कर्म से भी मोक्ष मिल जाता है। जब हम दक्षिणा देते हैं तब उसे भिगोकर देते हैं। इसका क्या मतलब है? वह दक्षिणा चाहे एक पैसा हो, एक पाई हो; लेकिन उसमें हृदय की कोमलता है, इसीलिए वह पाई धनवानों के लाखों रुपयों के अहंकारपूर्ण दानों की अपेक्षा कई गुना श्रेष्ठ है। रुक्मिणी का भक्ति-भाव से भरा हुआ एक तुलसी-पत्र सत्यभामा के सोने-चांदी व हीरे-माणिक के ढेर से भी भारी सिद्ध होता है। अपने सर्वस्व का त्याग करनेवाले शंकरजी की जटा का एक बाल कुबेर की सम्पत्ति से भी अधिक भारी सिद्ध होता है।

अतः भक्तिमय कर्म कीजिये। जिसके लिए कर्म करना है उसीको भगवान् मानिये। यदि आप ऐसा करने लगें तो आपके जड़ कर्मों से

कितनी सरसता उत्पन्न हो जाती है, जरा इसका भी अनुभव कीजिये। मान लीजिए कि एक हमारा ही भोजनालय है। यदि हमारा कोई प्रिय भोजन करने के लिए आये, तो हम कितनी चिन्ता रखकर भोजन बनायेंगे? कितने प्रेम से भोजन बनायेंगे? रोटियां सेंकते समय हमें कष्ट नहीं होगा, चटनी पीसते हुए हाथों में दर्द नहीं होगा। हम थाली साफ करेंगे, लोटा साफ करके उसमें पानी भरेंगे, साफ रुमाल रखेंगे, मक्खियां दूर रखने का प्रयत्न करेंगे। मन में ऐसा होता रहेगा कि मित्र के लिए क्या-क्या करें और क्या-क्या न करें। यदि अपने मित्र के लिए हम इतना सब करेंगे और ऐसी कामना रखेंगे कि हमारे यहां भोजन करने के लिए आनेवाले मानो भगवान् ही हैं तो हमारे भोजनालय का स्वरूप कितना अच्छा हो जायगा। वह कितनी स्वच्छता, कितना प्रेम, कितना सत्कार, कितना आनन्द और कितना प्रसन्न वातावरण होगा! वह प्रत्यक्ष मोक्ष होगा। वहाँ लक्ष्मी अवतरित होती हुई दिखाई देगी।

समाज-सेवा का कोई भी काम लीजिये—चाहे स्कूल हो, चाहे भोजनालय हो; चाहे दुकान हो, चाहे हजामत बनाने की दुकान हो; चाहे तहसीलदार हो, चाहे म्युनिसिपल-अधिकारी हो—यह मत भूलिये कि आपको इस समाजरूपी ईश्वर की पूजा करनी है। फिर तो आपके कर्म दिव्य हुए बिना न रहेंगे।

लेकिन आज समाज में क्या दिखाई देता है? जब राज्यपाल का आगमन होता है तब म्युनिसिपैलिटी जगती है, तब रास्ते साफ होते हैं, गटर धुलते हैं; लेकिन म्युनिसिपल सीमा में जो लाखों लोग रहते हैं वे क्या मुर्दे हैं? क्या उन्हें सफाई की आवश्यकता नहीं? क्या उन्हें गन्दगी के नरक में रखना है? आज बड़े आदमी हमारे भगवान् हो गये हैं। जब वे आते हैं तो हम अपना काम ठीक तरह करने लगते हैं। लेकिन जब हम इस भावना से कर्म करने लगेंगे कि लाखों लोग भी भगवान् हैं तब हम भाग्यशाली बनेंगे, तब हमें मोक्ष प्राप्त होगा। तब तक सर्वत्र निस्तेजता रहेगी। सारे समाज में मृतकावस्था ही रहेगी। हमारी दुकानें, हमारे होटल, हमारे भोजनालय, हमारी कचहरियां

गन्दगी, अव्यवस्था, लापरवाही और स्वार्थ से ओतप्रोत रहेंगे और सब लोग यही कहेंगे कि भारतीय संस्कृति हीन है, इसमें कोई शक नहीं।

मोक्ष जप-तप में नहीं, धर्म में है, सेवा-कार्य में है, अपनी पसन्द के काम में हृदय उंडेल देने में है। समाजरूपी ईश्वर की यह कर्ममय पूजा रसमय-गंधमय करना है। उस कर्म का ही जप करना है। यह कर्म किस प्रकार उत्कृष्ट होगा, किस प्रकार तन्मयतापूर्वक होगा यही चिन्ता हमें रखनी चाहिए।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि

यह बात गीता कहती है। जप याने निदिव्यास। कल की अपेक्षा आज का कर्म अधिक सुन्दर हो, आज की अपेक्षा कल का काम अधिक सुन्दर हो। इस प्रकार की भावना मन में रखना, इस प्रकार लगातार मन में अनुभव करना ही जप है —इसीसे हम मोक्ष के अधिकारी होते हैं। यही वह व्याकुलता है—निर्दोष सेवा करने की व्याकुलता, निःस्वार्थ सेवा करने की व्याकुलता।

रात्रि के समय प्रतिदिन के कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिएं। इन कर्मों का नैवेद्य लगाकर कहना चाहिए, "भगवान्! अभी ये कर्म निर्दोष नहीं होते। अभी कर्म करते हुए मैं अपनेको भूल नहीं पाता। अभी मेरे मन में कीर्त्ति की, मान की और पैसे की इच्छा है। मैं निन्दा-स्तुति से जर्जर हो जाता हूं। लेकिन कल आज की अपेक्षा अधिक सुन्दर कर्म करूंगा। इसका प्रयत्न करूंगा।"

हमारे हाथ से पूरी तरह निर्दोष कर्म नहीं होता है, यह सोचकर मन में बुरा लगना ही धर्म है। यह जो अपूर्णत्व के आंसू आंखों से निकलते हैं उन्हींमें से भक्ति का जन्म होता है। जर्मन कवि गेटे ने एक जगह कहा है, "जो कभी रोया नहीं उसे ईश्वर नहीं दिखाई देगा।" अपनी अपूर्णता के आंसू से आंखें धुलती हैं, निर्मल होती हैं। सर्वत्र ईश्वर दिखाई देने लगता है और इस भगवान् की सेवामय पूजा करने में अपार उत्साह और उल्लास अनुभव होता है।

इस प्रकार मन लगाकर कर्म कीजिये, फिर आपको कभी थकावट मालूम नहीं होगी। जनाबाई पीसते हुए कभी भी थकती नहीं थीं।

नामदेव के घर हमेशा संत आते थे। लेकिन जनाबाई उनकी प्रेममय भक्ति और ज्ञान की बातें सुनने के लिए नहीं जाती थीं, वह पीसती रहती थीं। "आज मेरे घर भगवान् आये हैं, उनके लिए अच्छी रोटी की जरूरत है। अनाज साफ करके मुझे बारीक आटा पीसना चाहिए।" इस प्रकार की भावना से जनाबाई अनाज पीसती थीं। उनके हाथ थकते नहीं थे, मानो उन हाथों में ईश्वर आकर बैठ जाते थे। वे जनाबाई के हाथ नहीं रहते थे, वे तो भगवान् के हाथ हो जाते थे। वह पिसाई मानो अपौरुषेय वेद हो जाती थी।

भक्तिमय कर्म में ऐसा ही आनन्द है। उस कर्म में बोझ नहीं है। लकड़ी का मोटा-सा लट्ठा कितना भारी होता है? यदि किसीके सिर पर मारा तो उसकी समाप्ति ही समझिये। लेकिन उस लकड़ी के लट्ठे में आग लगा दीजिये, उस दण्ड की चिमटीभर निरुपद्रवी राख बन जायगी। कोमल राख खुशी से शरीर पर लगा लीजिये। वह चुभेगी नहीं, लगेगी नहीं। यही हाल कर्म का भी है। जो कर्म भाररूप प्रतीत होते हैं यदि वे ही भक्ति-भावना से करने लगें तो सहज प्रतीत होने लगते हैं। घर-घर जाकर खादी बेचना कितना कठिन है, लेकिन उस कर्म में भक्ति उंडेलिये, फिर तो वह खादी की गांठ मानो मोक्ष की ही गांठ प्रतीत होगी। फिर हम उस गांठ को जमीन पर नहीं रखेंगे। पुंडलीक के सामने प्रत्यक्ष परमेश्वर प्रकट हो गये। फिर भी उसने माता-पिता के पैर नहीं छोड़े। पुंडलीक जानता था कि इस सेवा-कर्म से ही भगवान् प्रकट हुए हैं। यदि इस सेवा-कर्म को छोड़कर भगवान् की ओर जाऊंगा तो भगवान् चले जायंगे। लेकिन जबतक मैं यह सेवा-कर्म करता रहूंगा तबतक अट्ठाइस युगों तक यह पांडुरंग मेरे ही सामने खड़ा रहेगा और अपनी कृपादृष्टि की वृष्टि करता रहेगा। तुकाराम ने बड़े प्रेम से लिखा है—

"क्यों मत्त बना रे पुंडलीक
जो खड़ा रक्खा है विट्ठल को"

—पुंडलीक, क्या तू मतवाला हो गया है? मेरे विठोबा को तूने निरंतर खड़ा रखा है।

लेकिन तुकाराम ने भी यही बात की। जब भगवान सामने आये तो कहने लगे, "मेरा भजन बन्द नहीं रह सकता। सेवा-कर्म ही सब-कुछ है।

विट्ठल टाळ[1] विट्ठल दिंडी[2]
विट्ठल तोंडी उच्चारा
विट्ठल अवध्या भांडवला[3]
विट्ठल बोला विट्ठल।
विट्ठल नाद विट्ठल भेद
विट्ठल छंद विट्ठल।
विट्ठल सुखा विट्ठल दुःखा
तुकयामखा विट्ठल।

इस अभंग में सारे जीवन का तत्त्वज्ञान आ गया है। हमारे कर्म—हमारे कर्म के साधन मानो सब ईश्वर के ही रूप हैं। हमारा चर्खा ही मानो हमारा ईश्वर है। हमारी चक्की मानो हमारा ईश्वर है। हमारा चूल्हा मानो हमारा ईश्वर है। हमारा कारखाना मानो हमारा ईश्वर है। हमारा खद्दर मानो हमारा ईश्वर है। हमारी व्यायामशाला मानो हमारा ईश्वर है। वहां के उपकरण मानो हमारे ईश्वर हैं। प्रयोगशाला मानो ईश्वर है; वहां के गैस, वहां के एसिड मानो ईश्वर हैं। चारों ओर ईश्वर का ही रूप है।

चाहे कांग्रेस का संगठन हो, मजदूरों का संगठन हो, किसान-संघ हो, युवक-संघ हो, ग्रामोद्योग हो, बड़े-बड़े कारखाने हों; व्यायामशाला खोलिए या औद्योगिक केन्द्र शुरू कीजिये; यदि ये सारे सेवा-कर्म हैं तो ये मन्दिर हैं। उनमें सब जगह विट्ठल है।

ये कर्म करते हुए चाहे सुख मिले चाहे दुःख, वह भी विट्ठल का ही रूप है। ये कर्म करते हुए चाहे गले में फांसी लगे, चाहे फूलों के हार पड़ें, दोनों समान हैं। मन में चंचलता पैदा नहीं होती। भक्ति के प्रकाश में सब सुन्दर और सब मंगल ही है।

---

१. झांझ जैसा एक वाद्य। २. एक वाद्य। ३. पूँजी।

महात्माजी से किसीने एक बार एक प्रश्न पूछा; "आपकी इतनी आलोचना होती है, यह आपको कैसी लगती है?" उस महापुरुष ने कहा, "मेरे हृदय में तम्बूरा बजता रहता है।" महात्माजी के हृदय में अखंड संगीत चलता था, वहां प्रक्षुब्धता नहीं थी। समुद्र में अनन्त लहरें उछलती रहती हैं; लेकिन अंदर समुद्र गम्भीर रहता है। वहां प्रशांत शान्ति रहती है।

महापुरुषों के लिए यह कैसे संभव होता है? बात यह है कि उनमें थोड़ा-सा भी स्वार्थ नहीं होता है। जनता की सेवा ही उनका एकमात्र ध्येय होता है। जब हम समुद्र में गोता मारते हैं तब कितने घनफुट पानी हमारे सिर पर रहता है; लेकिन हमें उस पानी का बोझ नहीं लगता है। हम बराबर गोता लगाते हैं, पानी में छिपते हैं, खेलते हैं, थाह लेते हैं। लेकिन पानी से बाहर आइये। अपने लिए एक घड़ा भरिए, यह घड़ा आपके सिर को कष्ट दिये बिना न रहेगा। आपके सिर को, आपकी कमर को उसका बोझ मालूम हुए बिना न रहेगा।

केवल अपने सुख के लिए किया हुआ प्रत्येक स्वार्थी कर्म भार-स्वरूप है। मन को उसका बोझ लगता है। वह बोझ बन जाता है। लेकिन कहिये कि यह कर्म जनता के लिए है, फिर बोझ नहीं होगा। जन-सागर में डूबिये, अपने बिन्दु को जनता के सिन्धु में मिला दीजिये। फिर तो जीवन में संगीत पैदा हुए बिना न रहेगा।

'शान्ताकारं भुजगशयनम्' कहकर भगवान् का वर्णन किया है। भगवान् सहस्त्र फन वाले शेषनाग के फन पर सोये हुए हैं; लेकिन वह शान्ति-पूर्वक लेटे हुए हैं, इसका क्या अर्थ है? परमेश्वर करोड़ों कर्म करता है। हम सो जाते हैं, लेकिन वह नहीं सोता। वह बादल भेजता है, तारों को हँसाता है, कलियां खिलाता है। यदि परमेश्वर सो जाय तो यह संसार किस प्रकार चल सके?

संसार का इतना पसारा फैलानेवाले ईश्वर को कितनी गालियां मिलती होंगी! यदि इस संसार में सबसे बड़ा हुतात्मा कोई है तो वह है परमेश्वर। लेकिन वह ईश्वर इस गाली और शाप की ओर ध्यान नहीं देता है। उसे जो उचित एवं परिणाम में हितकर प्रतीत होता है उसे

वह कर ही रहा है। उसे वह शान्तिपूर्वक अविरत रूप से कर ही रहा है।

परमेश्वर का यह वर्णन महापुरुषों पर लागू होता है। महापुरुष भी इसी प्रकार शान्तिपूर्वक ध्येय पर नजर रखे हुए आगे बढ़ते जाते हैं। उनकी अपार निःस्वार्थता उनको अपार धैर्य प्रदान करती है। भय तो स्वार्थी को होता है। निःस्वार्थ वृत्ति को भय नहीं होता।

यह नहीं कि हमेशा एक ही कर्म करना पड़ता है। कभी-कभी हमेशा के वर्ण-कर्म दूर रखकर दूसरे कर्म भी अंगीकार करने पड़ते हैं। आग लगने पर सबको दौड़ना चाहिए। भूकम्प आने पर सबको स्वयंसेवक बनना चाहिए। बिहार में भूकम्प हुआ था। जवाहरलालजी दौड़े। वहां स्वयंसेवक घबराये हुए खड़े थे। मिट्टी में से मुर्दे निकालने का साहस उनमें नहीं था। जवाहरलालजी ने हाथ बढ़ाये। उन्होंने कुदाली-फावड़े उठाये और खोदने लगे। अब तो सारे स्वयंसेवकों में स्फूर्ति आ गई। अवसर आने पर कोई भी काम क्यों न आ पड़े, उस कर्म में उतनी ही व्याकुलता से, उतनी ही लगन से जुट जाना चाहिए।

पहले भारतवर्ष गुलाम था। इस पतित राष्ट्र को स्वतन्त्र बनाना ही उस समय सबका धर्म था। सबको अपनी रुचि-अरुचि को क्षणभर के लिए एक ओर रखना पड़ा और स्वतन्त्रता के किसी-न-किसी काम में जुटना पड़ा। लोकमान्य ने वेद-वेदान्त का, गणित-ज्योतिष का आनन्द छोड़ा। यह उनका सबसे बड़ा त्याग है। स्वर्गीय गोखले को अर्थ-शास्त्र पर ग्रंथ लिखना था। उन्हें न्यायमूर्त्ति रानाडे का जीवन-चरित्र लिखना था; लेकिन ये सब एक ओर रखने पड़े। प्रफुल्लचन्द्र राय को शास्त्र प्रिय थे। लेकिन बुढ़ापे में बंगाली ग्रामों में वह लोगों को चर्खा देते हुए घूमते थे। आज जिन-जिन कार्यों से राष्ट्र बलवान बने वे सब कार्य हाथ में ले लीजिए। राष्ट्रोत्थान के अनेक उद्योगों में से आपको जो पसन्द हो उसे ले लीजिये। परन्तु आप जो कुछ करें उसे मन से कीजिये, रात-दिन उसका जप कीजिये। फिर वह उद्योग आपको मोक्ष प्रदान करेगा और आपके राष्ट्र को भी मोक्ष दिये बिना न रहेगा।

एक जापानी मजदूर से किसी ने पूछा, "क्या तुम अच्छे स्क्रू बनाते हो?" उस मजदूर ने उत्तर दिया, "केवल अच्छे ही नहीं, मैं उत्कृष्ट स्क्रू बनाता हूं।" हम सबको भी यही उत्तर दे सकने के योग्य बनना चाहिए। जो यह कह सकता है कि मैं जो काम करता हूं वह सब उत्कृष्ट करता हूं, वह धन्य है।

कर्म चाहे छोटा हो या बड़ा, वह इस प्रकार करो कि उससे समाज को मोक्ष मिले। इस प्रकार करो कि वह समाज के उपयोग में आ सके। इस प्रकार करो कि वह समाज की पूजा के काम में आ सके। चाहे लेख लिखिये, चाहे भाषण दीजिये, मन में यह विश्वास पैदा कीजिये कि आपका बोला हुआ शब्द या लिखी हुई पंक्ति समाज के भले के लिए है। सब लोगों की यह निष्ठा बनने दीजिए कि मेरा दिया हुआ माल समाज को पुष्ट करेगा, उसे रोगी नहीं बनायेगा। चाहे बौद्धिक भोजन हो, चाहे शारीरिक; लेकिन वह एसा हो कि उससे समाज हृष्ट-पुष्ट बने। कृपा कर समाज को विषैला भोजन मत दीजिये।

इस प्रकार के दिव्य कर्ममय जीवन की लगन सबमें पैदा कीजिये। "मोक्ष नहीं है मुश्किल हमको।" मोक्ष दरवाजे में है, खेत में है, कचहरी में है, चूल्हे के पास है, कारखाने में है, स्कूल में है, सर्वत्र है। समाज के नष्टप्राय: उद्योग को सजीव करके उसके द्वारा समाज को रोटी देने का प्रयत्न करनेवाला महापुरुष वास्तव में संत है। वह समाज की गन्दगी दूर करके उसे स्वच्छता सिखानेवाला एक बड़ा ऋषि है। पर पुष्ट, कर्मशून्य लोगों को अब तुच्छता अनुभव करने दीजिये। केवल हरि-हरि बोलनेवाले तथा भोग के लिए ललचाते रहनेवाले लोगों को अपने को कीड़े-जैसा अनुभव करने दीजिये।

"निर्वाह-हेतु तुम करो काम। पर कभी न भजना भूलो राम।"

पेट के लिए कोई भी काम कीजिये, लेकिन उसे करते हुए राम को मत भूलो। राम का स्मरण करने का मतलब है मंगल का स्मरण करना, समाज के कल्याण का स्मरण करना।

कोई-कोई मुंह से राम-राम ही कहते रहते हैं। लेकिन मुंह से राम बोलिये और हाथ से काम कीजिये, सेवा कीजिये। यदि हम केवल

माँ की जय बोलते रहें तो वह उसे पसन्द नहीं आयेगा। माँ कहेगी, "मेरे लिए कुछ काम कर। जा, घड़ा भर ला।" यदि हम माँ की सेवा न करते हुए केवल 'माँ-माँ' कहते हुए बैठे रहें तो क्या वह दम्भ नहीं होगा? भगवान् के नाम का उच्चार कीजिये और हाथ से लगातार सेवा करते रहिये। वह सेवा ही भगवान् का नाम है। महात्माजी ने एक बार कहा था, "चर्खा मेरे ईश्वर का ही एक नाम है।" ईश्वर के हजारों नाम हैं। प्रत्येक मंगल वस्तु मानो उसका ही रूप है, उसका ही नाम है।

मुंह में ईश्वर का नाम और हाथ में सेवा का काम। कभी-कभी ईश्वर के अपार प्रेम की अधिकता से अपने आप कर्म मेरे हाथ से छूट जायगा। मान लीजिये कि यदि मैं अपने भोजनालय में भोजन करनेवाले लोगों को इस दृष्टि से देखने लगा कि ये ईश्वर का ही स्वरूप हैं तो किसी समय यह भावना इतनी बढ़ जायगी कि मैं परोसना भूल जाऊंगा। मेरी आंखों से अश्रु फूट पड़ेंगे। आठों भाव एकत्र हो जायंगे। रोमांच हो जायगा।

इस प्रकार कर्म का छूट जाना ही अन्तिम स्थिति है। वह कर्म की परमोच्च दशा है। उस समय सामने बैठे हुए लोग बिना भोजन किये ही तृप्त हो जाते हैं। परोसनेवाले की आंखों की प्रेम-गंगा से ही वे तृप्त हो जाते हैं। इसीलिए रामकृष्ण परमहंस कहते हैं, "ईश्वर का नाम उच्चारण करते हुए जबतक तुम्हारी आँख नहीं भर आती तबतक कर्म मत छोड़ो।"

लेकिन यह धन्यता की स्थिति प्राप्त किये बिना ही वे पापात्मा मस्त गयन्द की तरह भोजन उड़ाते हैं और मुंह से ऊपर-ऊपर नारायण-नारायण कहते हैं। ऐसे लोगों को समाज को गोबर के गोले की भांति दूर फेंक देना चाहिए। भारतीय संस्कृति उन्हें इस प्रकार फेंक देने की ही बात कहती है।

भारतीय संस्कृति कहती है—किसी भी सेवाकर्म को लीजिये; लेकिन उसमें रम जाइये, निरहंकार बनिये, निःस्वार्थ बनिये। यह मत भूलिये कि आपको उस कर्म से समाज-रूप ईश्वर की पूजा करना है

और उत्तरोत्तर वह सेवाकर्म अधिकाधिक उत्कृष्ट करते हुए इस देह को छूट जाने दीजिये और उसका सोना बन जाने दीजिये। भारतीय संस्कृति का अर्थ है सेवा की, कर्म की अपरंपार महिमा।

लेकिन आज यह संस्कृति नष्ट हो गई है। यदि हम कर्मशून्य होकर रास्ते पर नारायण-नारायण जपते हुए बैठ जाते हैं तो हमारे सामने पैसों का ढेर लग जाता है। लेकिन यदि हम मार्ग की गन्दगी साफ करें, पाखाना उठायें तो हमें पीने के लिए पानी भी नहीं मिलेगा। फिर पेट-भर भोजन करने की बात तो दूर ही है। कर्महीन लोगों की पूजा होती है; लेकिन जिन लोगों का जीवन कर्ममय, श्रममय है उनको ठुकराया जाता है, उनका पद-पद पर उपहास होता है। भारतीय संस्कृति की आत्मा कुचल दी गई है। जिन्हें भारतीय संस्कृति का अभिमान हो उन्हें उन लोगों की पूजा करनी प्रारम्भ करना चाहिए, जिनका जीवन कर्ममय है।

झटक के आलस के सब भाव।
और रख भक्ति-मार्ग पर पांव॥
फिर तू पायगा वह सुधाम।
जो मेरा अपना पुण्य धाम॥

यदि मोक्ष के, आनन्द के परमधाम की आवश्यकता है, जहां किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं है, दुःख नहीं है, वैषम्य नहीं है, दुष्काल नहीं है, दारिद्रय नहीं है, अज्ञान नहीं है, गन्दगी नहीं है, रोग नहीं है, लड़ाई-झगड़ा नहीं है, क्रोध-मत्सर नहीं है, उस परम मंगल स्वतन्त्रता के धाम की आवश्यकता है तो सारे मिथ्याभिमान, सारी श्रेष्ठ-कनिष्ठ की दुर्भावनाएं, सारा आलस्य, सारा स्वार्थ, सारी भ्रामक कल्पना झटककर फेंक दीजिये और इस सेवामय-कर्ममय, वर्ण-धर्ममय भक्ति के मार्ग पर चलिए।

शत-शत भाषण से बहुत बड़ा है
एक हाथ भर भूमि जोतना।
मन्त्र-जाप से बहुत बड़ा है
एक हाथ भर खादी बुनना।

वहुत वड़ा है पाण्डित्य से
　　एक वस्त्र ही रंग देना।
वनो कृषक, वुनकर ऐ भाई और वनो रंगरेज देश के
　　अव आलस का हो काम नहीं।
व्याख्यानों से वहुत वड़ा है
　　अच्छा मटका घड़ लेना।
वड़ा तुम्हारे वैभव से है
　　अच्छा जूता सी लेना।
वहुत वड़ा है विद्वत्ता से, पहिये पर पाट चढ़ा देना
वनो कुम्हार, चमार सभी अव और वनो लोहार देश के
　　अव आलस का हो काम नहीं।

अव यह है हमारा मन्त्र। यह है हमारी भारतीय संस्कृति।

वेंजामिन फ्रैंकलिन जव इंग्लैंड से अमरीका लौटा तव उससे पूछा गया, "आपने इंग्लैंड में क्या देखा?"

वैंजामिन ने कहा, "इंग्लैंड में सारे लोग उद्योगी हैं। वहां प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ करता ही है। इंग्लैंड में हवा, भाप आदि का भी उपयोग कर लिया गया है। पवन-चक्कियां चलती हैं, भाप से यन्त्र चलते हैं। इंग्लैंड में सव लोग श्रमजीवी हैं। वहां मुझे एक ही जेंटलमैन दिखाई दिया।"

सवने एक साथ पूछा, "वह कौन?"

वैंजामिन ने कहा, "सूअर! ये सूअर ही कुछ काम नहीं कर रहे थे। वे घू-घू करके पाखाना खाते हुए घूम रहे थे।"

श्रम न करनेवाले को वैंजामिन सूअर कहता है। देखिये, सभ्य मनुष्य को—जेंटलमैन को—वैंजामिन क्या उपाधि दे रहे हैं? वैंजामिन श्रम न करनेवाले को सूअर कहता है; लेकिन हमारे देश में श्रमहीन व्यक्ति को देवता समझा जाता है। इससे यह वात अच्छी तरह समझ में आ सकती है कि अमरीका वैभवशाली क्यों है और हिन्दुस्तान दरिद्र क्यों है?

पूज्य किसान को हम धिक्कारते हैं। हम हरिजनों का बहिष्कार करते हैं और कर्महीन धनवानों की और धर्म के नाम पर सब लोगों को लूटनेवालों की, स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करनेवालों की, हम पूजा कर रहे हैं। भविष्य में भारतीय संस्कृति के उपासकों को यह पागल-पन, यह मूर्खता, यह दुष्टता दूर कर देनी चाहिए। मिट्टी में काम करके उसमें सन जानेवाले को सबसे अधिक मंगलकारी और पवित्र मानना सीखना चाहिए। हमें लगता है कि धूल में सना हुआ व्यक्ति अमंगल है; लेकिन उसका पेट साफ है। उसकी अन्तःशुद्धि होती है। इसके विरुद्ध ऊपर-ऊपर धोबी के धुले हुए कपड़े पहननेवाला, शरीर पर प्रतिदिन साबुन लगानेवाला, बालों में कंघी करनेवाला बाह्य स्वच्छता की मूर्त्ति बना हुआ व्यक्ति! लेकिन उसके पेट की तो जांच कीजिये। उसके पेट में सारी गन्दगी है। उसे हमेशा बदहज़मी और अजीर्ण रहेगा। उसे हमेशा दस्त की शिकायत रहेगी। उसे कब्जी का कष्ट रहेगा। पेट तो तभी साफ रहेगा न जबकि वह श्रम करेगा।

जरा आप सब लोग विचार कीजिये। भारतीय संस्कृति की आत्मा पहचानिये। गीता का अन्तरंग देखिये। घोड़े को खुर्रा करनेवाले और अपने पीताम्बर का तोबड़ा बनाकर उसमें घोड़ों को दाना खिलाने-वाले उस गोपालकृष्ण को अपनी आँखों के सामने लाइये और जीवन को सही दशा में मोड़िये। आज की इस रोती हुई दुनिया को सुखी और समृद्ध बनाइये। भारतीय संस्कृति की उपासना करनेवाले लोग कभी दरिद्र और दास नहीं होंगे। सच्चे धर्म के पास श्री, वैभव और जय रहती ही है।

: ८ :

ज्ञान

यदि हमने अपनी रुचि के अनुकूल, वर्ण के अनुसार समाज-सेवा का काम प्रारम्भ किया, उसमें हृदय की भक्ति उंडेली और उसमें प्रेम उंडेला तो केवल इतने से काम नहीं चलता। जबतक उस काम में ज्ञान नहीं आता तबतक वह पूर्ण नहीं होता। कर्म में ज्ञान और भक्ति का समन्वय होना चाहिए।

ज्ञान दो प्रकार का है—एक आध्यात्मिक ज्ञान और दूसरा विज्ञान। ठीक कर्म करने के लिए इन दोनों हाथों की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक ज्ञान का ही अर्थ है अद्वैत। सारी मानवजाति मेरी ही है, ये सब मेरे ही भाई हैं और इनकी सेवा करने के लिए ही मुझे विज्ञान की आवश्यकता है, इस प्रकार की दृष्टि ही ज्ञान-विज्ञानात्मक दृष्टि है।

जबतक यह दृष्टि नहीं तबतक विज्ञान सुरक्षित नहीं है। यदि विज्ञान के पीछे यह अद्वैत का तत्त्वज्ञान, यह एकत्व का तत्त्वज्ञान, यह प्रेम का तत्त्वज्ञान न हो तो विज्ञान सारे संसार का नाश कर देगा। विज्ञान से संसार सुन्दर बनने के बजाय भयानक बन जायगा।

टाल्स्टाय इसीलिए कहते थे कि पहले दूसरे शास्त्रों का अध्ययन बन्द करो। अभी पारस्परिक व्यवहार के शास्त्र का निश्चय करो। यह समाजशास्त्र सारे शास्त्रों में मुख्य है। इसीलिए भारतीय संस्कृति अद्वैत शास्त्र को आगे रखकर प्रगति करना चाहती है। इस सिद्धांत की स्थापना पहले होनी चाहिए कि समाज में सबको सुख

मिले, सबको ज्ञान प्राप्त हो, सबको पेटभर भोजन और तनभर कपड़ा मिलना चाहिए, सबको विकास का अवसर मिले, कोई किसीको छोटा समझकर लज्जित न करे, बलवान कमजोर का शोषण न करे और दूसरों को गुलाम न बनाये। जबतक एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ, एक जाति का दूसरी जाति के साथ प्रेम का संबंध नहीं होता तबतक संसार में सच्ची शांति नहीं हो सकती, सच्ची स्वतन्त्रता नहीं आ सकती।

आज संसार में कौन स्वतन्त्र है? कोई भी नहीं है। जबतक एक गुलाम है, तबतक दूसरा स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

हम शेर को पशुओं का राजा मानते हैं; लेकिन शेर बार-बार पीछे देखता है। उसे ऐसा लगता है कि कोई मुझे खाने तो नहीं आ रहा है। वह शेर हाथी का खून पी चुका तो है, लेकिन उसका मन ही उसको खाता है। कोई तुझे खाने आ जायगा, तेरा रक्त पीने आ जायगा।

संसार में यही अवस्था स्वतन्त्र राष्ट्रों की है। चारों ओर भय का साम्राज्य है। सब लोग बन्दूक के ऊपर हाथ रखकर सुख की रोटी खाना चाहते हैं। सब ओर भय, भीति व धोखा है। क्षणभर के लिए भी जीवन सुरक्षित नहीं है। कह नहीं सकते कि कब आग लग जायगी।

जबतक संसार में हिंसा है, स्वार्थ है, तबतक संसार का यही रूप रहेगा। जबतक यह वृत्ति है कि मेरी रोटी पर घी होना चाहिए, मेरा मकान दुमंजिला हो तबतक सब लोग भयभीत ही रहेंगे। हिंसा डरपोक है, हिंसा को हमेशा यह डर लगा रहता है कि कोई हमारी हिंसा न कर दे। संसार में प्रेम ही निर्भय रहता है।

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।" ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला निर्भय रहता है। उसे अपने-पराये की भावना नहीं होती। वह सबके कल्याण की भावना से दौड़धूप करता है।

जबतक अद्वैत की दृष्टि प्राप्त नहीं होती, आत्मोपमता नहीं आती, तबतक विज्ञान व्यर्थ है। ज्ञानहीन विज्ञान के हाथ में समाज को सौंप देना मानो बन्दर के हाथ में जली हुई लकड़ी दे देने जैसा ही है। अतः पहले सब लोग आपस में भाई-भाई बनो, सब एक ईश्वर के बनो। न

तो कोई आर्य है, न कोई अनार्य है; न कोई हिन्दू है, न कोई मुसलमान; सब मानव हैं। इन मानवों की निरपवाद पूजा विज्ञानमय कर्मों से करना है।

हिटलर ने जर्मनी से यहूदियों को निकाल दिया। आर्यों से यहूदियों का संबंध नहीं होना चाहिए। आर्य श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार का पागलपन और जंगलीपन हिटलर दिखा रहा था; लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि कुछ हिन्दू संगठनवाले हिटलर के पदचिह्नों पर चलने की बात कह रहे हैं। यह भारतीय संस्कृति नहीं है। भारतीय संस्कृति संसार के सारे मानवों को पुकारेगी। भारत में 'श्रृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः', 'अमृत-रूपी देवताओं के पुत्रो, सुनो' ऋषि इस प्रकार की गर्जना करेंगे। भारतीय संस्कृति यही करती आ रही है और यही आगे करेगी। चाहे आर्य हों, चाहे अनार्य हों, चाहे काले हों, चाहे पीले हों, चाहे लाल हों, चाहे चपटी नाकवाले हों, चाहे मोटे होंठवाले हों, चाहे ऊंचे हों, सब मानवों को अपने झंडे के नीचे लाने के लिए भारतीय संस्कृति खड़ी है।

तात्कालिक विजयों से गर्वोन्मत्त होकर और हिटलरी बातों का अनुकरण करके पशु बन जाना उचित नहीं है। हमारा उत्तरदायित्व बड़ा है। हम दिव्य मानवता के लिए जियें और मरें। प्रत्येक जाति में बड़े व्यक्ति पैदा हुए हैं। सारे मानव-वंश में ऐसे नर-नारी रत्न पैदा हुए हैं जिनके ऊपर हमेशा मानव-जाति को अभिमान हो। किसीको किसी के ऊपर हँसने की आवश्यकता नहीं।

मानव-ऐक्य की यह भव्य कल्पना भारतीय संस्कृति का प्राण है।

प्रत्येक काम के करते समय यही दृष्टि होनी चाहिए। भक्ति जैसे अद्वैत ज्ञान ही है। जब हम समझने लगते हैं कि दूसरे हमारे जैसे ही हैं—एक ही सत् तत्त्व सबमें है तभी हमें दूसरों के प्रति प्रेम अनुभव होता है। वह मानो मैं ही हूं और इसीलिए मुझे उससे प्रेम करना चाहिए। मैं जो दूसरों पर प्रेम करता हूं वह मानो अपने ऊपर ही करता हूं।

जब कर्म में यह आत्मोपमता आ जाती है तब कर्म मन से होता है। लेकिन उस कर्म को हितकर बनाने के लिए विज्ञान की भी

आवश्यकता होती है। विज्ञान का अर्थ है उन कामों को करने की जानकारी। केवल प्रेम होने से काम नहीं चल सकता। मानिये कि मैं किसी रोगी की सुश्रूषा कर रहा हूं, उसके प्रति मेरे मन में प्रेम है, उसके प्रति मैं अपनापन अनुभव करता हूं; लेकिन यदि मुझे इस विषय का ठीक ज्ञान न हो कि उसकी सुश्रूषा किस प्रकार करनी चाहिए, तो नुकसान होने की संभावना रहेगी। प्रेम के कारण जो नहीं देना चाहिए वही चीज मैं खाने के लिए दे दूंगा, जो नहीं करना चाहिए वही करूंगा, जो नहीं पिलाना चाहिए, वही पिला दूंगा। इस प्रकार मेरा प्रेम तारक होने के बजाय मारक हो जायगा।

प्रेम अन्धा नहीं होना चाहिए। तभी कर्म का परिणाम हितकारक होगा। आजकल विज्ञान कितना अधिक बढ़ गया है! सब कामों में उसकी आवश्यकता रहती है। स्टोव किस तरह जलाना चाहिए, पानी किस प्रकार साफ करना चाहिए, कौन-सा पाउडर डालना चाहिए, बिजली के पास किस तरह रहना चाहिए, टेलीफोन किस प्रकार करना चाहिए, साइकिल किस प्रकार दुरुस्त करनी चाहिए, इन्जेक्शन किस प्रकार लगाना चाहिए, कौन-सी सब्जी अच्छी है, किस चीज में विटामिन्स हैं, किस तरह का व्यायाम अच्छा है, कौन-सी शिक्षा-पद्धति अच्छी है, प्रभावशाली भाषण किस प्रकार देना चाहिए, गांवों में किस प्रकार स्वास्थ्य-सुधार करना चाहिए, खाद किस प्रकार तैयार करनी चाहिए, बीज कितने अन्तर से बोना चाहिए, इस प्रकार एक-दो नहीं सैकड़ों प्रकार के ज्ञान की हमें प्रतिदिन के व्यवहार में आवश्यकता रहती है। अपने प्रतिदिन के काम सुन्दर, जल्दी और अच्छे करने के लिए हमें सब प्रकार के शास्त्रीय ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए।

हम यह ज्ञान तभी प्राप्त कर सकते हैं जबकि हमारे अन्दर प्रेम हो। यदि मेरे मन में अपने भाई के लिए प्रेम हुआ तो उसके लिए मैं जो कर्म करूंगा उसमें विज्ञान का उपयोग करूंगा। जब मेरे मन में स्कूल के विद्यार्थियों के प्रति प्रेम होगा, तभी मैं शिक्षाशास्त्र का अध्ययन करूंगा, बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन करूंगा, मुझे उस ज्ञान से घबराहट नहीं होगी। प्रेम में कभी आलस्य होता ही नहीं है।

आज भारतीय संस्कृति में विज्ञान तो करीब-करीब अस्त हो चुका है। विज्ञान का दीपक बुझ गया है। विज्ञान-पूजा लुप्त हो गई है। यह विज्ञान का अखण्ड दीप फिर से प्रज्वलित करना चाहिए। यदि कोई महापुरुप किसी विशेप क्षेत्र में अनुसंधान करता है तो उसकी वह खोज सर्वसाधारण के प्रतिदिन के व्यवहार में आती है। भारत में ऐसे ही अनुसंधानकर्ता उत्पन्न होने चाहिएं। संसार को सुन्दर बनानेवाले इस विज्ञान में कोई भी डर की बात नहीं है। लोग पश्चिम के निवासियों को भौतिक कहकर तुच्छ मानते हैं और अपने को आध्यात्मिक वृत्ति का समझते हैं; लेकिन आज तो हम न आध्यात्मिक हैं, न भौतिक। केवल मुर्दे हैं।

पश्चिम के निवासियों में भौतिक विज्ञान के पीछे अद्वैत की मानवता की कल्पना न होने के कारण वे संसार में हाहाकार फैलाने का आसुरी कर्म कर रहे हैं। यदि उनकी भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का मेल हो जाय तो सब सुन्दर हो जाय। भारत में बहुत-से भेदभाव हैं। ऊंच-नीच का प्रसार है। मुंह से अद्वैत का जप किया जाता है और कृति से दूसरे को ठुकराया जाता है। अध्यात्म केवल ग्रन्थों में है। आज भारतीय संस्कृति में से अध्यात्म लुप्त हो गया है। आइये, हम उसको अपनी कृति में लायें। सबको सुखी बनाने की इच्छा करें और इस इच्छा को मूर्त्त रूप देने के लिए विज्ञान का आश्रय लें।

पश्चिम के निवासियों में केवल आध्यात्मिकता की कमी है। यहां तो ज्ञान-विज्ञान दोनों ही मर चुके हैं। क्या आर्यभट्ट और भगवान् बुद्ध की इस भारतभूमि में फिर से ज्ञान-विज्ञान का पोषण प्रारम्भ नहीं होगा? क्या अध्यात्म विद्या और भौतिक विद्या का संगम नहीं होगा?

ईशोपनिषद् में यही बात प्रमुखता से कही गई है। ऋषि ने विद्या व अविद्या, संभूति व असंभूति का समन्वय करने की बात कही है:

विद्यां च अविद्यां च यस्तद्वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

अविद्या का अर्थ है भौतिक ज्ञान। इस भौतिक ज्ञान से हम मृत्यु को पार करते हैं; अर्थात् इस मृत्युलोक को पार करते हैं। संसार के दुःख, रोग, संकट आदि का परिहार करते हैं। संसार-यात्रा सुखकर बनाते हैं। और विद्या से अमरत्व मिलता है और आध्यात्मिक ज्ञान से 'इस शरीर के अन्दर—इस आकार के अन्दर—एक ही चैतन्य है' इस बात को मालूम करके अमरता प्राप्त करते हैं।

जो केवल विद्या या केवल अविद्या की उपासना करेगा वह पतित बनेगा। इतना ही नहीं, उपनिषद् तो यह कहते हैं कि केवल अविद्या की उपासना एक बार चल सकती है; लेकिन केवल अध्यात्म में रमने वाला तो घोर नरक में गिरता है; क्योंकि विज्ञान की उपासना करने-वाला संसार को—कम-से-कम अपने राष्ट्र को तो सुशोभित करेगा। कर्मशून्य वेदान्ती सारे समाज को धूल में मिलाता है। वह समाज में दंभ का निर्माण करता है। यदि अध्यात्म या भौतिकशास्त्र में से किसी एक का ही आश्रय लेना है तो ईशोपनिषद् कहता है कि भौतिकशास्त्र का आश्रय लो। केवल भौतिकशास्त्र का आश्रय लेने से पतित हो जाओगे; लेकिन उतने पतित नहीं होओगें जितने केवल अध्यात्मवादी होने से होओगे।

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये उ अविद्यायां रताः।
ततो भूय एव तमः प्रविशन्ति ये उ विद्यायां रताः॥

'कर्म करते हुए सौ वर्ष तक उत्साहपूर्वक जियो' इस प्रकार का महान् संदेश देनेवाले ये उपनिषद् यह बात कह रहे हैं। विज्ञान का मजाक उड़ाना और उसकी उपेक्षा करना भारतीय संस्कृति के उपासकों को शोभा नहीं देता। विज्ञान तुच्छ नहीं है, विज्ञान महान् वस्तु है। इस बात को अब हमें पहचान लेना चाहिए।

गीता में ज्ञान-विज्ञान शब्द हमेशा साथ-साथ आते हैं। विज्ञान के बिना ज्ञान निरुपयोगी है और ज्ञान के बिना—अद्वैत के बिना—विज्ञान भयंकर है। जब ज्ञान की नींव पर विज्ञान की इमारत खड़ी की जायगी तभी कल्याण होगा। पश्चिम के लोग विज्ञान की इमारत बालू पर खड़ी

कर रहे हैं। इसीलिए उनकी यह इमारत ढह जायगी और संस्कृति दब जायगी। विज्ञान की इमारत अध्यात्म की नींव पर खड़ी करना ही भारतीय संस्कृति का भव्य कर्म है। यह महान् कर्म भारत की राह देख रहा है। क्या भारत इस कर्म को नहीं उठायेगा ?

यह प्रपंच और परमार्थ का रमणीय सम्मेलन है। ज्ञान-विज्ञान के इस विवाह से मंगलरूपी बालक का जन्म होगा और पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आयगा।

महात्माजी यही कर रहे थे। महात्मा गांधी नहीं जानते थे कि भेद किसे कहते हैं। उनके रोम-रोम में अद्वैत समाया हुआ था। उन्हें सर्वत्र भगवान् दिखाई देता था; लेकिन इस भगवान् की सेवा वह शास्त्रीय दृष्टि से करना चाहते थे। वह विज्ञान की आवश्यकता का अनुभव करते थे। चरखे में सुधार करनेवाले के लिए उन्होंने एक लाख के पुरस्कार की घोषणा की थी। अर्थशास्त्र के ऊपर निबन्ध लिखनेवाले के लिए उन्होंने एक हजार रुपये के पुरस्कार की घोषणा की थी। वह सुधार चाहते थे, वह कल्याणकारी सुधार चाहते थे। वह खाने-पीने का प्रयोग करते थे। महात्माजी एक-दो नहीं सैकड़ों प्रकार के विज्ञान का विचार कर रहे थे कि गुड़ अच्छा है या शक्कर, पालिश किये हुए चावल अच्छे हैं या बिना पालिश के, हाथ के कुटे हुए चावल शक्तिदायक हैं या मशीन से कुटे हुए, कौन-सी सब्जी खानी चाहिए; नूनिया की सब्जी, नीम की पत्तियां आदि में कौन-से विटामिन्स हैं, इमली का शरबत अच्छा है या बुरा, कच्ची चीज खाना अच्छा है या पका हुआ, शहद का उपयोग क्या है, मधु-संवर्धन विद्या किस प्रकार प्रगति करेगी। बीमारी में पानी, मिट्टी, प्रकाश आदि के प्राकृतिक उपचार का वह उपयोग करना चाहते थे; क्योंकि यह उपाय सस्ता और सुलभ है। अपने भाइयों का जीवन सुन्दर बनाने के लिए महात्माजी ने कितनी परेशानी, कितनी खटपट, कितने प्रयोग और कितने कष्ट उठाये थे !

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह बुद्धि का दीपक लेकर जाते थे, वह विज्ञान लेकर जाते थे। संसार को—सारी जनता को—सौन्दर्य-समृद्धि देनेवाले विज्ञान की उन्हें आवश्यकता थी। ज्ञान-विज्ञान की उपासना

करनेवाले और उसमें भक्ति का प्रेम उतारनेवाले महात्माजी मानो भारतीय संस्कृति की ही मूर्ति थे। भारतीय संस्कृति मानो ज्ञानयुक्त, विज्ञानयुक्त व भक्तियुक्त किये हुए शुद्ध कर्म ही हैं। महात्माजी जसे व्यक्ति से ही सीखना चाहिए कि ऐसे कार्य किस प्रकार करने चाहिएं। मुझे ऐसा लगता है मानो महात्माजी के रूप में भारतीय संस्कृति की आत्मा ने ही अवतार ग्रहण किया था।

इस प्रकार यह भारतीय संस्कृति पूर्ण है। वह किसी एक वात को महत्त्व नहीं दे सकती। वह मेल पैदा करनेवाली है। वह शरीर और आत्मा दोनों को पहचानती है। शरीर के लिए विज्ञान और आत्मा के लिए ज्ञान। शरीर से सुशोभित आत्मा को विज्ञान से सुशोभित अध्यात्म व अध्यात्म से सजे हुए विज्ञान की जरूरत है। जब भारतीय जनता इस दिव्य सूत्र को पहचानेगी तव वह दिन सुदिन होगा।

: ९ :

संयम

यह ठीक है कि ज्ञान-विज्ञानपूर्वक, पूरे हार्दिक प्रेम से और अनासक्त हकर कर्म करना चाहिए। लेकिन यह कहना सरल है। हमेशा ऐसे र्म करते रहने के लिए काफी साधना की आवश्यकता होती है। पने जीवन में संयम करने की आवश्यकता रहती है; क्योंकि बिना संयम उत्कृष्ट कर्म नहीं किये जा सकते।

यदि यह कह दिया जाय कि संयम भारतीय संस्कृति की आत्मा है ो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारतीय संस्कृति का आधार ही ंयम है। हम शंकर के मन्दिर में जाते हैं; लेकिन वहां पहले वाहर छुए की मूर्ति होती है। इस कछुए के दर्शन किये विना शंकरजी के ास, मृत्युंजय के पास नहीं जा सकते। और कछुए का मतलव क्या है? छुए का मतलव है संयम की मूर्ति। एक क्षण में ही कछुआ अपना सारा ारीर अन्दर छिपा लेता है और क्षणभर में वाहर निकाल लेता है।

जब उसके विकास का अवसर होता है, तब वह अपने सारे अवयव बाहर निकाल लेता है; और जब धोखे की संभावना होती है, तब सारे अंग अन्दर ले जाता है। इन गुणोंवाला यह कछुआ भारतीय संस्कृति में गुरु माना गया है। यदि गुरु के पास जाना है तो कछुए की तरह बन कर जाओ। कछुए की भांति अपनी इन्द्रियों के स्वामी बनो। जब इच्छा हो तब इन्द्रियों को स्वतन्त्र करना भी आना चाहिए। जो संसार का स्वामी बनना चाहता है उसे पहले अपना स्वामी बनना चाहिए। जिसे ईश्वर को अपना बना लेना है उसे पहले अपना मन काबू में करना चाहिए।

शंकरजी की मूर्ति की कल्पना कीजिये। उनके तीसरा नेत्र है। यह नेत्र दोनों आंखों के बीच में है, और इस नेत्र का काम प्रहरी का है। आंख, कान, जीभ सारी इन्द्रियों पर इस नेत्र की दृष्टि रहती है। इसी तीसरे नेत्र में अग्नि है। हमारे जीवन के विकास में जो विरोधी हैं, उन सबको भस्म कर देने की शक्ति इस नेत्र में है। जबतक यह तीसरा नेत्र खुला नहीं रखा जाता, जीवन में सफलता नहीं मिल सकती।

हमारी आंखें जहां चाहे वहां न चली जायं, कान जो चाहें वह सुनने न लगें, जबान चाहे जो बोलने न लगे, खाने न लगे, हाथ चाहें जो करने न लगें और पैर जिधर चाहें उधर न जाने लगें। अपनी ध्येयानुकूल बातों की ओर ही हमारी इन्द्रियों को जाना चाहिए। इनमें इन्द्रिय-रूपी बैलों को हमारे जीवन-रथ को गड्ढे में न गिराते हुए लक्ष्य की ओर ही ले जाना चाहिए।

ज्ञानेश्वरी में योग का वर्णन करते हुए एक अत्यन्त सुन्दर ओवी लिखी हुई है :

> युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
> युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

गीता में जो यह श्लोक है उसीके ऊपर यह ओवी है। जिसे कर्मयोग की साधना करनी है उसके लिए यह संयम योग साधना भी आवश्यक है।

नियमों का पालन करो, अगर बनना चाहते हो योगी।

योगी का अर्थ है कर्मयोगी। सतत कर्म में मग्न हो जाना। हाथों से लगातार सेवा करते रहना। इसके लिए क्या करना चाहिए ?

सब बातें नापतोल से करनी चाहिएं। तोलकर खाना चाहिए ; तोलकर पीना चाहिए, तोलकर बोलना चाहिए, तोलकर चलना और तोलकर नींद लेनी चाहिए। इन्द्रियों को सब चीजें देनी चाहिएं; लेकिन नाप-तोल से प्रमाण के साथ। ऐसा करते रहने से जीवन में प्रसन्नता रहेगी। यह बात केवल काल्पनिक नहीं है। यह तो अनुभवसिद्ध है।

मान् लीजिये, हमने ज्यादा खा लिया। अगर पकौड़ी खानी है तो मन में आया उतना खा गये। बासुंदी हुई तो पी गये खूब। तो परिणाम क्या होगा ? आलस्य आयगा। अधिक खाया कि अधिक लेटने की इच्छा होगी और इतने से ही बस नहीं होगा। बदहजमी होगी, अजीर्ण होगा, पेट दर्द करने लगेगा और शायद बीमार भी पड़ना पड़ेगा। थोड़ी देर जबान-का सुख अनुभव किया, लेकिन आगे तो दस दिनों तक अन्न की रुचि ही नहीं रहेगी। इन आगामी दस दिनों में कोई काम भी नहीं किया जा सकेगा।

रात को गाना हुआ। सुनते रहे दो बजे तक। तो नींद पूरी नहीं हुई। जब नींद पूरी नहीं होगी तो पाचन भी अच्छा नहीं होगा। दूसरे दिन काम भी अच्छा नहीं होगा। काम करते आंखें बन्द होने लगेंगी। इस प्रकार कर्म में सफलता नहीं मिलेगी।

जिनके जीवन का कोई लक्ष्य है, जिनका जीवन सेवा के लिए है, उनको सारे काम प्रमाण से करने चाहिएं। प्रमाण में ही सारी सुन्दरता है, प्रमाण में ही शोभा है। संयम में सौन्दर्य है। बहुत से अविवेकी लोग संयम का मजाक उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि 'हम ये बन्धन नहीं चाहते'; लेकिन जो बन्धन अपने आप अपने ऊपर लगाया जाता है वह बन्धन नहीं है। अपनी इच्छा का गुलाम होना कोई स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वेच्छाचार नहीं है। स्वतन्त्रता का अर्थ है विकास, और संयम के बिना विकास नहीं होता।

सारी दुनिया को देखिये। आपको सर्वत्र संयम ही दिखाई देगा। वृक्ष को ही लीजिये। यह वृक्ष जड़ों से बंधा हुआ है। यदि वृक्ष कहे कि मैं पृथ्वी के साथ ऐसे क्यों बांधा जाऊं? मुझे आकाश में उड़ने दो। मेरी जड़ तोड़ दो। तो वह मर जायगा। यदि वृक्ष की जड़ें तोड़ दी जायं तो क्या वह जिन्दा रह सकेगा? वृक्ष जड़ों से बंधा हुआ है। इसी कारण वह ऊंचा होता जाता है। इसी कारण उसमें फल-फूल आते हैं। उसकी सम्पत्ति का रहस्य उस दृढ़ संयम में ही है।

सितार को लीजिये। सितार में तार होते हैं। अकेले उन तारों को ही जमीन पर रखिये। उनपर अंगुली फिराइये। उनसे कोई ध्वनि नहीं निकलेगी; लेकिन उन्हीं तारों को सितार की खूंटी से बांधिये। अब तो उन बन्धनों में जकड़े हुए तारों में से मस्त बना देनेवाला संगीत निकलने लगेगा। वे जड़ तार चैतन्य बन जाते हैं। उनमें से अपार माधुर्य झरने लगता है। संयम में संगीत प्रकट होता है।

नदी को देखिये। यदि पहाड़ों का पानी दसों दिशाओं में बहने लगे तो उससे प्रवाह नहीं बन सकता; लेकिन यदि वह पानी किसी एक खास दिशा में बहने लगे तो उससे प्रवाह प्रकट हो जाता है। प्रवाह को भी किनारों का बन्धन होता है। नदी दो किनारों से बंधी हुई है। उन दोनों किनारों में से वह बहती है। यदि वह कहने लगे कि मुझे किनारों के इस बन्धन की आवश्यकता नहीं है तो क्या होगा? पानी इधर-उधर फैल जायगा और चार दिन में सूख जायगा। नदी को बन्धन है इसीलिए उसमें गति है, गहराई और गम्भीरता है। उसे बन्धन है इसी कारण वह आगे-आगे बहती जाती है और महासागर से मिलती है। उसे बन्धन है इसी कारण तो वह हजारों एकड़ जमीन को उपजाऊ बनाती है, उसे सदैव गीला रखती है। बन्धन के कारण नदी को अमरता प्राप्त हो गई है। संयम के कारण ही नदी समुद्र में मिल सकती है।

भाप को देखिये। यदि भाप बन्धन में न हो तो उसमें शक्ति न रहे। अपनी इच्छा से इधर-उधर जानेवाली भाप कमजोर है। प्रचण्ड नली में बन्द की हुई भाप प्रचण्ड यन्त्र चलाती है, बड़ी-बड़ी गाड़ियां चलाती है।

संयम को तुच्छ मत समझिए। वह आपके विकास के लिए है। वह समाज के हित के लिए है। यदि हम संयम का पालन न करें तो हमारे काम ठीक तरह से नहीं होंगे। यदि काम ठीक तरह नहीं होंगे तो समाज का नुकसान होगा। हम केवल अपने खुद के लिए ही नहीं हैं, यह बात हमें मालूम होनी चाहिए कि हम समाज के लिए हैं। हमारी यह देह, हमारा यह जीवन समाज के लिए है। सारी सृष्टि हमारा पोषण कर रही है। सूर्य प्रकाश देता है, बादल पानी देता है, वृक्ष फल-फूल देते हैं, किसान अनाज देता है, बुनकर वस्त्र देता है, स्कूल शिक्षा देता है। हम इस सारी सजीव-निर्जीव सृष्टि के आभारी हैं। अतः अपना जीवन उनकी सेवा में अर्पण करना हमारा काम है। यह जीवन जिसका है उसी को सेवा के द्वारा अर्पण करना है।

इसलिए इस जीवन में घुन नहीं लगने देना चाहिए। भगवान् की पूजा के लिए बिना सूंघे हुए फूल ले जाने चाहिएं। वे न कुम्हलाए हुए हों, न कीड़े खाये हुए हों। रसमय और गन्धमय, स्वच्छ एवं सुन्दर फूल ले जाने चाहिएं। हमारे इस जीवन-पुष्प को भी समाजरूपी भगवान् को अर्पण करना है। यदि जीवन को रसमय और गन्धमय बनाना है तो संयम की अत्यन्त आवश्यकता है।

इन्द्रियों को उत्तरोत्तर उदात्त आनन्द प्राप्त करने की आदत डालनी चाहिए। खाने-पीने का आनन्द तो पशु-पक्षी भी उठाते हैं। मनुष्य केवल खाने-पीने के लिए ही नहीं है। उसे भोजन अवश्य चाहिए; लेकिन वह किसी ध्येय के लिए। खाना-पीना और सोना पूर्णता के ध्येय के साधन बनने चाहिएं।

न्यायमूर्ति रानाडे की एक बात बताई जा रही है। उन्हें कलमी आम पसन्द थे। एक बार आमों की टोकरी आई। रमाबाई ने आम काटकर न्यायमूर्ति के सामने तश्तरी में रखे। न्यायमूर्ति ने उसमें से एक-दो फांकें खाई। कुछ देर बाद जब रमाबाई ने आकर देखा तो आम की फांकें उसमें रखी हुई थीं। उन्हें अच्छा नहीं लगा। वह बोलीं, "आपको आम पसन्द हैं, इसलिए मैं इन्हें काटकर लाई। फिर खाते क्यों नहीं?" न्यायमूर्ति ने कहा, "आम अच्छे लगते हैं, क्या इसका यह मतलब है

है कि आम ही खाता रहूं ! एक फांक खा ली । जीवन में दूसरे आन
भी हैं।"

खाने-पीने की चर्चा करने में हमारा कितना समय चला जाता है
मानो हम जवान के गुलाम हो गये हैं। लेकिन हमें जानना चाहिए कि
मिठास किसी वस्तु में नहीं, हमारे अन्दर है। हम अपनी मिठास उस वस
में डालते हैं और उस वस्तु को मीठी कहकर खाते हैं । सारी मधुरत
हमारे अन्तरंग में है। जिसे वह मिठास प्राप्त हो गई है उसे कुछ भ
दीजिये, सवकुछ मीठा-ही-मीठा मालूम होगा।

संसार के सारे महापुरुष संयमी थे। उनका भोजन सादा होता था
पैगम्बर मुहम्मद साहब सादी रोटी खाते और पानी पी लेते थे। लेनि
का आहार अत्यन्त सादा था। महात्मा गांधी भोजन में पांच वस्तुओं
अधिक वस्तु नहीं खाते थे । यदि महात्माजी का आहार-विहार इ
प्रकार नियमित न होता तो वह इतना महान् कार्य न कर सके होते। दे
वन्धुदास की पत्नी वासन्तीदेवी उनकी बहुत चिन्ता रखती थीं। व
देशवन्धु के भोजन का काफी ख्याल रखती थीं।

लेकिन इस आहार-विहार के अलावा भी दूसरा संयम है। यदि
समाज में आनन्द फैलाना है तो इस उदात्त संयम का महत्त्व जितन
बताया जाय, उतना कम है,। हमारे भारतवर्ष में प्राचीन काल से संयुक्त
कुटुम्ब-प्रणाली बिना संयम के चल ही नहीं सकती । यदि संयम न हो तो
दस आदमियों के मुंह दस दिशाओं में हो जायेंगे। यदि कुटुम्ब का प्रत्येक
व्यक्ति अपनी इच्छा को ही प्रधानता देने लगे तो सब लोगों की कैसे
पट सकेगी ? मनोमालिन्य बढ़ने लगेगा और झगड़ों का सूत्रपात होने
लगेगा।

संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली में मुखिया पर बहुत जिम्मेदारी होती है
उसे सबकी मरजी रखनी पड़ती है । इसके लिए उसे बहुत त्याग करना
पड़ता है। वह मुखिया अपने बच्चों के लिए अधिक गहने नहीं बनवायेगा
अपनी पत्नी के लिए सबसे पहले अच्छी साड़ियां नहीं खरीदेगा। अपने
छोटे भाइयों के बच्चे और उनकी बहुओं का खयाल वह पहले रखेगा।
वह उनके लिए कपड़े-गहने आदि पहले लायगा । ऐसा करने से ही

उसके शब्दों का मान रहेगा। तभी कुटुम्ब के सब लोगों के मन में उसके लिए अपनेपन और आदर की भावना रहेगी। त्याग से इसी प्रकार वैभव मिलता है।

संध्या के समय एक मन्त्र बोलते हैं। उसका एक चरण निम्नलिखित है—

"सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे।"

अब किसी का विरोध नहीं है। अब मुझे अपना ब्रह्मकर्म प्रारम्भ करने दो। 'सबके साथ अविरोध'—ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहले ब्रह्मचर्य कैसा? पहले स्नान-संध्या कैसे? देवदर्शन कैसा? जप-तप कैसे? पहले समाज में एकता का निर्माण कीजिए, स्नेह का निर्माण कीजिए। मानव-जाति में से विरोध दूर कीजिए। कलह मिटा दीजिए। द्वेष-मत्सर आदि का अन्त कर दीजिए और फिर अपने ब्रह्म-कर्म को प्रारम्भ कीजिए।

इस अविरोध का निर्माण किस प्रकार हो सकेगा? यदि प्रत्येक व्यक्ति संयम के द्वारा अपनी वासना-इच्छा आदि पर जरा लगाम लगाये तो अविरोध का निर्माण होना सुलभ होगा। यदि हारमोनियम का प्रत्येक स्वर जैसा चाहे वैसा चिल्लाने लगे तो संगीत किस प्रकार निकल सकेगा? उन स्वरों को अपनी इच्छा संयत बनानी पड़ेगी। इसी प्रकार यदि मानव-जाति जीवन में ईमानदारी के साथ संगीत-निर्माण करना चाहे तो उसे अपने स्वरों पर संयम रखना चाहिए।

आज भारतीय जीवन में संगीत नहीं है। प्रान्त-प्रान्त में लड़ाई है। मतभेद हो सकते हैं; लेकिन जब मतभेद में से मत्सर का भूत खड़ा हो जाता है तो डर लगता है। भारत संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली का एक प्रयोग है। भारत एक राष्ट्र है। पूर्वजों ने कभी भारत के टुकड़ों की कल्पना नहीं की। उन्होंने हमेशा अपनी आंखों के सामने भारतीय ऐक्य की भव्य कल्पना रखी थी। हम स्नान करते समय केवल महाराष्ट्र की नदियों का ही स्मरण नहीं करते, बल्कि सारे भरतखण्ड की नदियों का स्मरण करते हैं। हम कहते हैं—'हर गंगे यमुने नर्मदे ताप्ती कृष्णा गोदावरी कावेरी।'

है कि आम ही खाता रहूं! एक फांक खा ली। जीवन में दूसरे आनन्द भी हैं।"

खाने-पीने की चर्चा करने में हमारा कितना समय चला जाता है। मानो हम जबान के गुलाम हो गये हैं। लेकिन हमें जानना चाहिए कि मिठास किसी वस्तु में नहीं, हमारे अन्दर है। हम अपनी मिठास उस वस्तु में डालते हैं और उस वस्तु को मीठी कहकर खाते हैं। सारी मधुरता हमारे अन्तरंग में है। जिसे वह मिठास प्राप्त हो गई है उसे कुछ भी दीजिये, सबकुछ मीठा-ही-मीठा मालूम होगा।

संसार के सारे महापुरुष संयमी थे। उनका भोजन सादा होता था। पैगम्बर मुहम्मद साहब सादी रोटी खाते और पानी पी लेते थे। लेनिन का आहार अत्यन्त सादा था। महात्मा गांधी भोजन में पांच वस्तुओं से अधिक वस्तु नहीं खाते थे। यदि महात्माजी का आहार-विहार इस प्रकार नियमित न होता तो वह इतना महान् कार्य न कर सके होते। देशबन्धुदास की पत्नी वासन्तीदेवी उनकी बहुत चिन्ता रखती थीं। वह देशबन्धु के भोजन का काफी ख्याल रखती थीं।

लेकिन इस आहार-विहार के अलावा भी दूसरा संयम है। यदि समाज में आनन्द फैलाना है तो इस उदात्त संयम का महत्त्व जितना बताया जाय, उतना कम है,। हमारे भारतवर्ष में प्राचीन काल से संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली बिना संयम के चल ही नहीं सकती। यदि संयम न हो तो दस आदमियों के मुंह दस दिशाओं में हो जायेंगे। यदि कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा को ही प्रधानता देने लगे तो सब लोगों की कैसे पट सकेगी ? मनोमालिन्य बढ़ने लगेगा और झगड़ों का सूत्रपात होने लगेगा।

संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली में मुखिया पर बहुत जिम्मेदारी होती है। उसें सबकी मरजी रखनी पड़ती है। इसके लिए उसे बहुत त्याग करना पड़ता है। वह मुखिया अपने बच्चों के लिए अधिक गहने नहीं बनवायेगा। अपनी पत्नी के लिए सबसे पहले अच्छी साड़ियां नहीं खरीदेगा। अपने छोटे भाइयों के बच्चे और उनकी बहुओं का खयाल वह पहले रखेगा। वह उनके लिए कपड़े-गहने आदि पहले लायगा। ऐसा करने से ही

उसके शब्दों का मान रहेगा। तभी कुटुम्ब के सब लोगों के मन में उसके लिए अपनेपन और आदर की भावना रहेगी। त्याग से इसी प्रकार वैभव मिलता है।

संध्या के समय एक मन्त्र बोलते हैं। उसका एक चरण निम्नलिखित है—

"सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे।"

अब किसी का विरोध नहीं है। अब मुझे अपना ब्रह्मकर्म प्रारम्भ करने दो। 'सबके साथ अविरोध'—ये शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पहले ब्रह्मचर्य कैसा? पहले स्नान-संध्या कैसे? देवदर्शन कैसा? जप-तप कैसे? पहले समाज में एकता का निर्माण कीजिए, स्नेह का निर्माण कीजिए। मानव-जाति में से विरोध दूर कीजिए। कलह मिटा दीजिए। द्वेष-मत्सर आदि का अन्त कर दीजिए और फिर अपने ब्रह्म-कर्म को प्रारम्भ कीजिए।

इस अविरोध का निर्माण किस प्रकार हो सकेगा? यदि प्रत्येक व्यक्ति संयम के द्वारा अपनी वासना-इच्छा आदि पर जरा लगाम लगाये तो अविरोध का निर्माण होना सुलभ होगा। यदि हारमोनियम का प्रत्येक स्वर जैसा चाहे वैसा चिल्लाने लगे तो संगीत किस प्रकार निकल सकेगा? उन स्वरों को अपनी इच्छा संयत बनानी पड़ेगी। इसी प्रकार यदि मानव-जाति जीवन में ईमानदारी के साथ संगीत-निर्माण करना चाहे तो उसे अपने स्वरों पर संयम रखना चाहिए।

आज भारतीय जीवन में संगीत नहीं है। प्रान्त-प्रान्त में लड़ाई है। मतभेद हो सकते हैं; लेकिन जब मतभेद में से मत्सर का भूत खड़ा हो जाता है तो डर लगता है। भारत संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली का एक प्रयोग है। भारत एक राष्ट्र है। पूर्वजों ने कभी भारत के टुकड़ों की कल्पना नहीं की। उन्होंने हमेशा अपनी आंखों के सामने भारतीय ऐक्य की भव्य कल्पना रखी थी। हम स्नान करते समय केवल महाराष्ट्र की नदियों का ही स्मरण नहीं करते, बल्कि सारे भरतखण्ड की नदियों का स्मरण करते हैं। हम कहते हैं—'हर गंगे यमुने नर्मदे ताप्ती कृष्णा गोदावरी कावेरी।'

कलश की पूजा करते हुए उस कलश में हम सारा हिन्दुस्तान देखते हैं :

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

इस प्रकार प्रमुख नदियों का हम स्मरण करते हैं। अयोध्य मथुरा, माया, काशी, कांची, अवंतिका, पुरी द्वारावती इन पवित्र पुरिय को हमने भारत की चारों दिशाओं में रखा है।

"दुर्लभं भारते जन्म।"

यह बात ऋषि ने बड़े गर्व के साथ कही है। पूर्वजों की आंखों के सामने अंग, बंग, कलिंग न थे। गुर्जर, विदर्भ, महाराष्ट्र न थे। उनकी आंखों के सामने था भारत।

इस विशाल भारत में अनेक प्रान्त हैं। जिस प्रकार बड़े कुटुम्ब में बहुत-से भाई हैं, इन भाइयों को एक-दूसरे के साथ संयमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। यदि एक ही कुटुम्ब में रहना है तो अपनी ढपली अपना राग अलापने से काम नहीं चल सकेगा। अपना-अपना स्वर ऊंचा करने से काम नहीं होगा। यूरोप में बहुत-से छोटे-छोटे देश हैं और वे आपस में मार-काट करते हैं। यदि वैसी ही बातें भारत में न करनी हैं तो भारत को सावधान हो जाना चाहिए और संयुक्त कुटुम्ब में एक को दूसरे की सुख सुविधा का खयाल पहले रखना चाहिए। 'पहले मेरा नहीं, पहले तेरा!' जिस प्रकार हमें यह अपने कुटुम्ब में करना पड़ता है, वैसा ही हमें भारतीय कुटुम्ब में करना पड़ेगा। महाराष्ट्रियों को गुजरातियों को कहना चाहिए "धन्य गुजरात, महात्माजी को जन्म देनेवाला गुजरात धन्य है!" गुजरात को महाराष्ट्र को कहना चाहिए, "धन्य महाराष्ट्र, लोकमान्य को जन्म देनेवाला, छत्रपति शिवाजी को जन्म देनेवाला, बहादुरों का महाराष्ट्र धन्य है!" बंगाल को कहना चाहिए, "हे बंगेश, तू धन्य है। जगदीश चन्द्र, प्रफुल्लचन्द्र, रवींद्र को जन्म देनेवाला, देशबन्धु, सुभाषबाबू को जन्म देनेवाला, श्रीरामकृष्ण व विवेकानन्द को प्रसव करनेवाला, बलिदान देनेवाला, सैकड़ों सत्पुत्रों से सुशोभित होने वाला, तू धन्य है!" पंजाब को कहना चाहिए, "हे पंजाब, तू दयानन्द की कर्मभूमि है, रामतीर्थ की जन्म-

भूमि है, श्रद्धानन्द, भगतसिंह, लालाजी की तू माता है। तू महान् है !" सीमाप्रान्त को कहना चाहिए, "२५ लाख की जनसंख्या में से १६ हजार सत्याग्रही देनेवाले प्रान्त, तू धन्य है ! भगवान् के सैनिक देनेवाले प्रान्त, तू भारत की शोभा और आशा है।" भारत में इस प्रकार का दृश्य दिखाई देना चाहिए कि वे इस तरह एक-दूसरे की मुक्तकण्ठ से स्तुति कर रहे हैं, एक-दूसरे पर गर्व करते हैं, एक-दूसरे से प्रकाश ग्रहण करते हैं, एक-दूसरे से स्फूर्ति प्राप्त करते हैं और एक-दूसरे का हाथ अपने हाथ में लेते हैं; लेकिन इसके लिए बड़े दिल की जरूरत है। इसके लिए संयम की जरूरत है। अपना अहंकार दूर रखना चाहिए।

जो दूसरे के सुख-दुःख का विचार करने लगता है, उसके लिए संयम रखना सरल हो जाता है। 'यदि मैंने ऐसा किया तो दूसरे पर इसका क्या असर होगा, यदि मैं इस प्रकार बोला तो इसका क्या परिणाम होगा, ऐसा लिखने से व्यर्थ ही मन तो न दुखेगा, यदि मैं पैर बजाकर चला तो उससे किसीकी नींद में बाधा तो न आयगी, यदि रात के समय जोर-जोर से बात करते हुए या गाना गाते हुए चला तो उससे किसीको कष्ट तो न होगा, सभा में यदि हम आपस में बातचीत करने लग गये तो उससे दूसरे भाषण सुननेवालों को बाधा तो नहीं होगी ?' इस प्रकार एक-दो नहीं, सब छोटी-से-छोटी बातों पर हमारा ध्यान रहना चाहिए। लेकिन हमारे देश में तो यह आदत ही नहीं है। दूसरों का विचार क्षणभर के लिए भी हमारे मन में नहीं आता। कारण है सहानुभूति की कमी। जहां सहानुभूति नहीं है, वहां संयम नहीं है।

हम लोगों में यह भावना ही नहीं रही है कि हमारे काम से दूसरे को कष्ट होगा। मानो हम अकेले ही जीवित हैं। हमारे आस-पास कोई नहीं है। इसी भावना से हम सारा व्यवहार करते हैं। पश्चिमी देशों में यह बात नहीं है। उन देशों में सार्वजनिक जीवन में अधिक संयम है। वे रास्ते में व्यर्थ हल्ला नहीं करते। ऐसी कोई बात नहीं करते जिससे दूसरों को कष्ट हो। सर्वत्र आपको व्यवस्थितता दिखाई देगी। बिना संयम के व्यवस्थितपन नहीं आ सकता। जहां संयम नहीं है वहां

एकदम अव्यवस्था होगी । अपनी सभा को देखिये, अपने जलूस देखिये, स्टेशन पर टिकट की जगह देखिये, हर जगह आपको संयमहीन जीवन दिखाई देगा । और यदि कोई संयम की बात करता है तो उसकी मजाक उड़ाई जाती है। यदि कोई कहता है कि जरा धीरे बोलिए, तो उसे चट से जवाब दिया जाता है कि चुप रहिये ! बड़े सभ्य आये !

हम कोई शब्द एकदम बोल देते हैं और उससे हमेशा के लिए दिल फट जाते हैं। अपना हम कोई मत बिना सोचे-समझे प्रकट करते हैं और हमेशा के लिए वैर पैदा हो जाता है। एक बार टूटे हुए मनों को जोड़ना कठिन हो जाता है। 'टूटा मोती फूटा मन, जोड़ न सकता स्वयं विधाता ।' संसार में जोड़ना कठिन है, तोड़ना सरल है। वृक्षों का पोषण करना कठिन है, लेकिन उसे एक ही क्षण में तोड़ा जा सकता है घर बनाना कठिन है, उसे गिरा देना सरल है । हमें जीवन जोड़ने हैं वे संयम से ही जोड़े जा सकते हैं । हम भैंसे को छोटा मानते हैं, क्योंकि वह संयमी नहीं है। वह हमेशा मारने के लिए सींग उठाता रहता है हमेशा आंखें दिखाता है। हम उन्हीं पशुओं की कीमत करते हैं, जो संयमी हैं, जो लगाम लगवाते हैं, गाड़ी में अच्छी तरह चलते हैं, हल ठीक तरह चलाते हैं। जो घोड़ा लगाम नहीं लगवाता, उसे कौन अपने पास रखेगा उसके लिए कौन पैसे खर्च करेगा ! पशुओं को चमड़े की लगाम लगाई जाती है; लेकिन मनुष्यों को इस प्रकार की लगाम लगाने की जरूरत नहीं है बुद्धि ही मनुष्य की लगाम है। मनुष्य विचार करके व्यवहार करता है जो विचारपूर्वक व्यवहार नहीं करता वह मनुष्य नहीं है । संयमी होना मनुष्यत्व का पहला चिह्न है; लेकिन यह चिह्न हमें कितने लोगों के पास दिखाई देगा ! संसार में आज लोग शेर और सियार की तरह व्यवहार करते हैं। वे एक-दूसरे को खाने के लिए दौड़ते हैं। अपने को उच्च समझ कर दूसरों को तुच्छ मानते हैं । सर्वत्र संयम का पूरा अभाव दिखाई दे रहा है।

दो पत्थरों को जोड़ने के लिए सीमेंट की जरूरत होती है। जब संयम का सीमेंट लगाया जायगा तभी जीवन जोड़े जा सकेंगे, एक प्रान्त

दूसरे प्रान्त से और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से जोड़े जा सकेंगे, लेकिन यदि अहंकार रहा तो यह नहीं हो सकेगा। किसी प्रान्त का भूतकाल उज्ज्वल होता है; लेकिन यदि उस उज्ज्वल भूतकाल के वल पर हम कदम-कदम पर दूसरों को तुच्छ समझने लगें तो उससे क्या लाभ! ऐसे समय यही अच्छा लगता है कि यदि भूतकाल अच्छा न होता तो ही अच्छा होता। जिस इतिहास से हम घमण्डी वनते हैं, हमें लगता है कि हम ही अच्छे हैं और सव मूर्ख हैं, तो उस इतिहास का न होना ही हमें पसन्द करना पड़ेगा। हमें भूतकाल के इतिहास से स्फूर्ति मिलनी चाहिए; लेकिन वह पड़ोसी भाई को चिढ़ाने के लिए न हो। राष्ट्र को यह वात अपने खयाल में रखनी चाहिए।

संयम का अर्थ शरणता नहीं है। संयम का अर्थ वावलापन नहीं है। संयम का अर्थ है शक्ति। वह जीवन के विकास के लिए है। वह उत्कृष्ट कर्म करने के लिए है। वह अपने हाथों अपार सेवा करने के लिए है। वह समाज में अधिक आनन्द, अधिक संगीत लाने के लिए है। संयम सार्वभौम वस्तु है।

: १० :

कर्म-फल-त्याग

गीता ने कर्म-फल-त्याग सिखाया है। अपनी रुचि का सेवा-कार्य हमें ज्ञान-विज्ञानपूर्वक निष्ठा से, मन से तथा अपने वर्ण के अनुसार करना चाहिए। उस कर्म को उत्कृष्टता के साथ पूरा करने के लिए जीवन को संयत करना चाहिए। आहार-विहार नियमित वनाना चाहिए। शरीर और मन प्रसन्न व निरोगी रखना चाहिए। इस प्रकार जीवन की सार्थकता का लाभ लेना चाहिए। सेवा-कर्म करते-करते, उसे उत्तरोत्तर अधिक तन्मयता के साथ करते-करते एक दिन सारी सृष्टि के साथ स्नेह जोड़ना है, मन को भेदातीत वनाकर केवल चिन्मय साम्राज्य में ही

रमना है।

लेकिन इस सबको साधने के लिए एक और चीज की जरूरत है, एक और दृष्टि की आवश्यकता है। यह दृष्टि है फल की आशा नहीं रखना। कर्म में इतने तल्लीन हो जाना चाहिए कि फल का विचार करने का समय ही न मिले, जीवन कर्ममय ही हो जाय। जनाबाई कहती थीं, "प्रभु ही खाना, प्रभु ही पीना।" प्रभु से यहां मतलब है अपने ध्येय से, अपने सेवा-कर्म से। इस सेवा-कर्म को ही खाना है, सेवा-कर्म को ही पीना है। इसका मतलब यह है कि खाते हुए भी हमें कर्म का विचार हो और पीते हुए भी कर्म का विचार हो। सोते हुए भी कर्म का चिन्तन हो। गांधीजी ने पहले एक बार कहा था कि मुझे हरिजनों की सेवा के ही स्वप्न दिखाई देते हैं। ऐसा दिखाई देता है कि मन्दिर खुल रहे हैं। स्वामी रामतीर्थ को स्वप्न में कठिन प्रश्नों के हल दिखाई देते थे। अर्जुन के बारे में भी ऐसी ही बात कही जाती है। श्रीकृष्ण का अर्जुन पर अधिक प्रेम देखकर उद्धव उससे ईर्ष्या रखता था। यह बात श्रीकृष्ण के ध्यान में आई। श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, "उद्धव, जाओ और यह देख आओ कि इस समय अर्जुन क्या कर रहा है?" उद्धव चले। अर्जुन अपने कमरे में गहरी नींद में सोया था; लेकिन वहाँ 'कृष्ण-कृष्ण' की मधुर ध्वनि सुनाई देती थी। वह ध्वनि कहाँ से आती है, इसकी खोज उद्धव करने लगा। वह अर्जुन के पास गया। उसे क्या दिखाई दिया? अर्जुन के रोम-रोम से 'कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि निकल रही थी। अर्जुन का जीवन कृष्ण के प्रेम से ओत-प्रोत था। नानक ने कहा है, 'हे ईश्वर, आपका स्मरण श्वासोच्छ्वास के साथ-साथ होने दो।' भगवान् के स्मरण के बिना जीवन असह्य होने दो। उनका स्मरण ही मानो जीवन है। उनका विस्मरण ही मानो मृत्यु। उनका स्मरण मानो सारे सुख और उनका विस्मरण मानो सारे दुःख।

"विपद् विस्मरणं विष्णोः संपन्नारायणस्मृतिः।"

और भगवान् का स्मरण ही मानो ध्येय का स्मरण है, स्वकर्म का, स्वधर्म का स्मरण। हममें जिसके लिए जीने और मरने की भावना पैदा होती है वही हमारे लिए ईश्वर-स्वरूप है। वही हमारा ईश्वर

है। और उसके चिन्तन में हमेशा निमग्न रहना ही परम सिद्धि है।

मनुष्य स्वकर्म में इतना निमग्न कब हो सकेगा ? जब वह उस कर्म के फल को भूल जायगा। छोटा बच्चा आम की गुठली को जमीन में गाड़ता है। दूसरे दिन सुबह वह उसे फिर खोदकर देखता है। उसे यह देखने की बड़ी उत्कण्ठा रहती है कि उसमें अंकुर फूटा या नहीं; लेकिन यदि वह गुठली बार-बार खोदकर देखी गई तो उसमें कभी भी अंकुर नहीं फूट सकेगा। उसमें कभी भी बौर न आ सकेंगे, रसवाले फल नहीं लग सकेंगे। इसके विरुद्ध यदि उस गुठली को प्रतिदिन पानी पिलाया गया, उसमें खाद दिया गया, उसके पत्तों को बकरी से बचाने के लिए उसके आस-पास कांटे की बाड़ लगा दी और इस प्रकार यदि कोई आदमी उस आम को उगाने के काम में लग गया तो एक दिन उसमें रसवाले फल आये बिना न रहेंगे।

यदि गहराई से देखा जाय तो यह मालूम होगा कि मनुष्य का सच्चा आनन्द फल में नहीं, कर्म में है। अपने हाथ-पैर, अपना हृदय, अपनी बुद्धि के सेवा-कर्म में मग्न हो जाने में ही आनन्द है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध इतिहास-कार गिबन ने जिस दिन मध्यरात्रि के समय अपना बड़ा इतिहास लिखकर समाप्त किया उस समय वह रोया। बारह बज गये थे। रात्रि का सन्नाटा छाया हुआ था। उसने अन्तिम वाक्य लिख डाले। गिबन पचीस वर्षों से यह काम करता आ रहा था। इन दिनों उसका प्रत्येक क्षण आनन्द से व्यतीत हुआ; लेकिन उस इतिहास के समाप्त होते ही उसे बुरा लगा। वह बोला, "अब कल क्या करूंगा ? अब कल आनन्द कहां रहेगा ? अब क्या पढ़ूं ? क्या लिखूं ?" इस कर्म के करने में ही उसे आनन्द था।

बच्चे खेलते हैं। खेलते समय उनके मन में यह विचार नहीं होता कि इससे हमें इतना व्यायाम होगा, हमारे शरीर सुधरेंगे। यदि बच्चे इस विचार से खेलें तो उनको खेल का आनन्द नहीं मिल सकेगा। क्या आट्या-बाट्या खेलते हुए खिलाड़ी के मन में यह विचार रहता है कि मेरी जांघों का व्यायाम हो रहा है ? इस विचार से तो वे घेरा नहीं तोड़ सकते। बच्चे खेल के लिए खेलते हैं। उससे उन्हें जो व्यायाम का

फ़ल मिलता है, खेलते समय उसकी ओर उनका लक्ष्य नहीं होता।

इसका यह मतलब नहीं कि खिलाड़ी को व्यायाम का फल नहीं मिलता। उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। वह प्रसन्न रहता है। उसका मन प्रफुल्ल रहता है। उसे कितने फल मिलते हैं ! खेलने जाने के पूर्व उसके मन में व्यायाम का विचार रहता है। वह सोचता है कि यदि मैं रोज खेलूं तो मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। पहले मन में फल का विचार रहता है; लेकिन जहां कर्म शुरू हुआ कि फल को भूल जाना चाहिए। तब फिर वह कर्म ही धर्म प्रतीत होना चाहिए। वह साधन ही साध्य-रूप में प्रतीत होना चाहिए। प्रत्येक प्रयत्न मानो कर्मसिद्धि है, प्रत्येक दौड़ मानो विजय है। यह अनुभूति होनी चाहिए कि हमारा प्रत्येक कदम ध्येय-प्राप्ति के लिए है। प्रयत्न ही मानो सफलता है।

वेलदार हाथ में हथौड़ा लेकर पत्थर तोड़ता रहता है। मान लीजिए यदि पत्थर दस चोट में नहीं टूटा और ग्यारहवीं चोट में टूट गया तो क्या पहली दस चोटें व्यर्थ गयीं ? प्रत्येक चोट पत्थर के अणुओं के ऊपर आघात कर रही थी। वह अणुओं को अलग ही कर रही थी। प्रत्येक चोट ध्येय की ओर ले जा रही थी।

कर्म उत्कृष्ट करने के लिए ही कर्म-फल-त्याग की जरूरत होती है। फल का सतत चिन्तन करने की अपेक्षा जो कर्म में ही रम जाता है उसे अधिक बड़ा फल मिलता है, क्योंकि पद-पद पर फ़ल का चिन्तन करते रहनेवाले का बहुत-सा समय चिन्तन में ही चला जाता है। जो किसान पद-पद पर यह चिन्ता करता हुआ बैठा रहे कि यदि वर्षा न हुई तो, अच्छा भाव नहीं हुआ तो, चूहे लग गये तो, और फल की चिन्ता करता रहे तो उसके मन में अनन्त आशा नहीं रह सकेगी, उसके कर्म उत्कृष्ट नहीं हो सकेंगे। इसके विरुद्ध जो किसान कर्म में रंग गया है, खाद डालता है, सिंचाई करता है, निराई करता है और दूसरी बात सोचने का जिसके पास समय ही नहीं है, इसमें कोई शंका नहीं कि उसे अधिक उत्कृष्ट फल मिलेगा।

कमल के फूल को तो आप जानते ही हैं। उसके बारे में रामकृष्ण परमहंस एक बात हमेशा कहते थे। कमल विकास चाहता है। रात-दिन

कीचड़ में पैर गड़ाकर वह इसके लिए प्रयत्न करता रहता है। वह सूर्य की ओर मुंह करके खिलने का प्रयत्न करता है। उस कमल की साधना एक-सी अखण्ड चलती रहती है। वह अपना विकसित होना भूल जाता है। मानो फल को ही भूल जाता है। वह ठंड, धूप, हवा, वर्षा, कीचड़, आदि में रहकर ही प्रयत्न करता रहता है। लेकिन एक दिन आता है जब कि वह कमल अच्छी तरह खिलता है, उसे सूर्य की किरण चूमती है, हवा झुलाती है, गीत सुनाती है। कमल को इस बात का खयाल ही नहीं रहता कि मैं खिल रहा हूं। उसे यह मालूम ही नहीं होता कि मैं सुगन्ध से, पवित्रता से, पराग से भर रहा हूं। अन्त में भ्रमर गुंजार करता हुआ आता है। वह कमल की प्रदक्षिणा करता है और कमल के अन्तरंग में प्रवेश करके कहता है, "पवित्र कमल, तू खिल चुका है। तुझमें कितनी सुगन्ध है, तेरा कैसा सुन्दर रंग है, तुझमें कितना मीठा रस है!"

मनुष्य के संबंध में भी यही बात होनी चाहिए। उसे फल को भूल जाना चाहिए। यदि फल उसके चरणों पर आकर गिर जाय तो भी उसे उस पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए। ध्रुव के सामने प्रत्यक्ष भगवान् आकर खड़े हो गए, फिर भी उसकी आंखें बन्द ही रहीं। वह तो नारायण के चिन्तन में तल्लीन हो गया था। साधना में इतनी समरसता का होना महत्त्व की बात है।

भारतीय संस्कृति साधना सिखाती है। अधीर मत बनो, उल्लू मत बनो, फल के लिए लालायित मत रहो, विह्वल मत बनो। महान् फल चुटकी मारते ही नहीं मिलते। उसके लिए अनन्त साधना और अखण्ड अविरत श्रम की आवश्यकता रहती है। बरगद का बड़ा पेड़ दो दिन में इतना नहीं बढ़ता। मेथी की सब्जी दो दिन में उग आती है और चार दिन में सूख जाती है; लेकिन एक बार बरगद का पेड़ जम जाता है तो फिर हजारों लोगों को छाया देता है। उसकी शाखाएं आकाश को छूने लगती हैं। उसका सिर आकाश से लग जाता है और जड़ पाताल-गंगा से भेंट करती है। लेकिन यह स्पृहणीय और महान् प्रसार, इस महान् वैभव को प्राप्त करने के लिए—पत्थर-कंकर में जड़ें जमाने के

लिए उस वटवृक्ष को कितने वर्षों तक प्रयत्न करना पड़ता है।

विनता और कद्रू की कहानी तो सुप्रसिद्ध है। कद्रू के यहां जब एक हजार सर्प के बच्चे हुए तो विनता अधीर हो गई। उसने एक अण्डा फोड़ा, लेकिन वह परिपक्व नहीं हुआ था। उसमें से लंगड़ा-लूला अरुण निकला। विनता दुःखी हो गई। उसे अपनी जल्दबाजी का इनाम मिल गया, लेकिन अपने अनुभव से वह होशियार बन गई। उसने दूसरा अण्डा नहीं फोड़ा। वह एक हजार वर्ष तक ठहरी रही और एक हजार वर्ष के बाद पक्षिराज गरुड़ बाहर निकले और वह भगवान् विष्णु के वाहन बन गए

यदि अपने कर्म के कमजोर फल नहीं चाहते हो और ऐसे भव्य, दिव्य फल चाहते हो तो उसके लिए सैकड़ों वर्षो तक परिश्रम करना पड़ेगा साधना करनी पड़ेगी। आज भारतीय संस्कृति के उपासक साधना भूल गए हैं। वे चुटकी में फल चाहते हैं। वे जल्दी ही स्वतन्त्रता चाहते हैं लेकिन वे लाखों ग्रामों में जाकर वर्षों तक साधना करना नहीं चाहते क्रांति क्षणभर में नहीं होती। राष्ट्रीय शिक्षा के आचार्य विजापुरक ने एक बार कहा, "अंग्रेजों को राज्य प्राप्त करने में १५० वर्ष लग गए अब उनको निकालने में ३०० वर्ष लगेंगे, इसी विचार से हमको हमेशा प्रयत्न करते रहना चाहिए।"

कर्म-फल-त्यागी मनुष्य कभी निराश नहीं होता, क्योंकि फल प उसकी दृष्टि ही नहीं होती। जो निरन्तर फल का चिन्तन करता रहे वह दुःखी होगा, निराश होगा। भगवान् बुद्ध ने एक-एक गुण प्राप्त करने के लिए एक-एक जन्म लिया था। जीवन की पूर्णता प्राप्त करने में उन्हें सैकड़ों जन्म लेने पड़े।

एक बार दो साधक तपस्या कर रहे थे। वे भगवान् से साक्षात्कार करना चाहते थे। पहले देवदूत एक के पास आया और बोला, "क्यों, तेरी समझ से कब तक तुझे ईश्वर का साक्षात्कार हो जायगा?" उसने कहा, "इसी क्षण। मैं बहुत अधीर हो गया हूं।" देवदूत ने कहा, "हजारों वर्ष होने पर भी तेरा उनसे साक्षात्कार नहीं हो सकेगा।" देवदूत दूसरे के पास गया। उसने उससे भी वही प्रश्न पूछा। उस साधक ने पूछा, "कितने वर्षों में साक्षात्कार हो सकेगा?" देवदूत ने कहा, "दस

हजार वर्षों में।" साधक गद्‌गद् होकर बोला, "क्या इतनी जल्दी मेरा ईश्वर से साक्षात्कार हो सकेगा ? भगवान् के साक्षात्कार में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं। क्या सचमुच मुझे इतनी जल्दी साक्षात्कार हो सकेगा ?" इतने में भगवान् वहां आ गये और बोले, "मैं अभी तुझसे मिलता हूं। तेरे हृदय-मन्दिर में ही आकर रहूंगा।"

भगवान् की प्राप्ति के लिए कितनी ही साधना आप क्यों न करें वह थोड़ी ही है। ध्येय की प्राप्ति के लिए ऐसी ही अमर आशा होनी चाहिए। प्रयत्नों से, कष्टों से और परिश्रम से घबराना नहीं चाहिए। उत्तरोत्तर अधिक उत्कृष्ट कर्म होने चाहिएं। जो हजारों वर्ष तक परिश्रम करने के लिए तैयार है, उसे इसी घड़ी फल मिल जायगा।

लेकिन अपने मन के सन्तोष का फल तो हमेशा मिलता रहता है। "मैं अपनी शक्तिभर प्रयत्न कर रहा हूं, आवश्यकता से अधिक परिश्रम कर रहा हूं, मेरे इस आन्तरिक समाधान को कौन छीन सकेगा ?" हमें यह शरीर, यह बुद्धि और यह हृदय मिला है। ईश्वर ने हमें यह पूंजी पहले से ही दे रखी है। हमें यह जो कुछ मिल रहा है उसके ऋण से मुक्त होने के लिए सेवा करनी चाहिए। समाज हमें बहुत कुछ देता है। सृष्टि भी हमको कुछ दे रही है। उसके ऋण से उऋण होने के लिए काम में जुटे रहना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

और यदि हमें फल न मिले तो भी समाज अमर है। व्यक्ति चला जाता है; लेकिन समाज चिरन्तन है। काम करनेवाले चले जाते हैं; लेकिन काम तो शेष रह ही जाता है। उस काम को पूरा करने के लिए समाज है ही। मेरे शेष हुए काम को कौन अपने हाथ में लेगा ? मेरे हाथों लगाये हुए वृक्ष को कौन पानी पिलायगा ? मेरे श्रम का फल तो किसी-न-किसी को मिलेगा ही और वह जिसको भी मिलेगा वह तो मेरा अपना ही है। उसमें और मुझमें कहां भेद है !

हमारी संस्कृति में अदृष्ट फलों की एक मधुर कल्पना है। उथली बुद्धि के लोग इस कल्पना का मजाक उड़ाते हैं; लेकिन जैसे-जैसे इस कल्पना का विचार करते हैं वैसे-वैसे आनन्द होता है। तुम्हारे प्रयत्नों के फल मिलेंगे; लेकिन वे तुमको प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देंगे। तुम्हारी

कल्पना के दिव्य चक्षुओं से ही वे दिखाई देंगे। न दिखनेवाला फल तुम्हें अवश्य मिलेगा। हिन्दुस्तान के स्वराज के लिए कितने बड़े-बड़े व्यक्ति जन्मभर कष्ट सहन करके चले गये। उन्हें अपने प्रयत्नों के फल नहीं मिले; लेकिन उनको अदृश्य फल तो मिल ही गया था। न्यायमूर्ति रानाडे ने एक बार कहा था, "देखो, मुझे यह सुखी और समृद्ध हिन्दुस्तान दिखाई दे रहा है। मुझे यह देवों की प्रियभूमि स्वतन्त्र और मुक्त दिखाई दे रही है। मुझे ऐसा हिन्दुस्तान दिखाई दे रहा है, जिसमें रोग-अकाल नहीं हैं, अज्ञान नहीं है, रूढ़ि नहीं है, झगड़े नहीं हैं, टण्टे नहीं हैं, द्वेष नहीं है, मत्सर नहीं है। सारी जातियां और धर्म एक-दूसरे से हिल-मिलकर रहते हैं। सबके पास अनाज है, वस्त्र हैं, रहने के लिए घरबार है।" न्यायमूर्ति को अपनी विशाल दृष्टि से, शास्त्रपूत और श्रद्धापूत दृष्टि से, वे अदृश्य फल दिखाई दे रहे थे। लोगों को अपने श्रम का अदृश्य फल मिलेगा, उनका श्रम व्यर्थ नहीं जायगा। संसार में कोई बात व्यर्थ नहीं जाती।

अदृश्य फल का एक और भी अर्थ है। नदी बहती है। कितने ही वृक्षों और बेलों को वह जीवन प्रदान करती है; लेकिन वह यह बात नहीं जानती। उसके उदर में कितने ही जलचर समाये हुए हैं, लेकिन उसे इसकी जानकारी ही नहीं। उसे इस बात की भी जानकारी नहीं होती कि उसने कितनी भूमि उपजाऊ और समृद्ध की है। उसे यह बात भी मालूम नहीं होती कि उसके कारण कितने कुओं में पानी आया है। नदी बहती है। रात-दिन काम करती रहती है। वह नमी पैदा करती है। लेकिन उसे क्या मालूम कि यह नमी कहां, किसे और कितनी मिलती है! इस फल के बारे में उसे क्या मालूम! यह उसे दिखाई ही नहीं देता। लेकिन यह फल उसके नाम पर जमा है। ये उसके कर्मरूपी वृक्ष में लगे हुए अनन्त फल हैं।

सूर्य को यह मालूम नहीं होता कि उसने कितनी जगह का अंधेरा दूर किया है। यदि हम उससे कहें कि "भगवान् सूर्य नारायण, आपका कितना बड़ा उपकार है! आपने सारा अन्धकार दूर किया।" तो सूर्य कहेगा, "मैंने कहां अन्धकार दूर किया? लाओ, मुझे थोड़ा-सा दिखाओ तो।

मैंने तो अंधेरा देखा ही नहीं है, फिर दूर कहां से करूं? मैं तो केवल प्रकाश करना जानता हूं। रात-दिन जलते रहना ही मुझे मालूम है।"

सूर्य ने अपने जीवन का यज्ञकुण्ड सतत प्रदीप्त रखा है। लेकिन क्या उसे अपने कर्म का फल नहीं मिलता है? सूर्य की गर्मी से प्राणी-मात्र जीवित रहते हैं, फल-फूल उत्पन्न होते हैं, वनस्पति बढ़ती रहती है। सारे संसार का काम चल रहा है। वह सारे संसार की आत्मा है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"

इस स्थिर-चर सृष्टि का वह प्राणदाता है। सूर्य को इस महान् फल की कल्पना ही नहीं है। लेकिन यह अदृश्य फल उसे मिल ही रहा है।

बाहर सुन्दर सुगन्धित फूल खिलते हैं। कितने ही लोगों के जीवन में उन फूलों के दर्शन से आनन्द उत्पन्न होता है; लेकिन फूलों को इसकी कल्पना कहां है? वायु के साथ फूल की सुगन्ध वातावरण में फैलती है और लोगों को सुख होता है। बीमार को उससे प्रसन्नता अनुभव होती है। मधुमक्खी, तितली और भ्रमर आते हैं और उसे लूट लेते हैं। उसके साथ गुप्त बातचीत करते हैं। लेकिन फूल को ये बातें याद नहीं रहतीं। उसने अपना जीवन भुला रखा है। परन्तु हजारों जीवों को आनन्द देने का अदृश्य फल उसे मिलता ही है।

छोटा बच्चा हँसता है, खेलता है। जिस टेनीसन की स्थिति यह हो गई थी कि पता नहीं पड़ता था कि वह कब मर जायगा या कब तक जीवित रहेगा उसे फूलों और बच्चों को देखकर आशा का संचार हो जाता था। उस बच्चे को क्या मालूम कि उसका हास्य निराश और निरानन्द जीवन में सुधावर्षण कर रहा है। उस बच्चे को यह मालूम नहीं होता कि उसके माँ-बाप को, भाई-बहन को, अड़ोसी-पड़ोसी को उसके द्वारा सुख और समाधान मिलता है। लेकिन वह अदृश्य फल उसे मिलता है।

हमने खादी खरीदी। हमें यह मालूम नहीं होता कि इससे किस ग्राम के किस भूखे परिवार को दो ग्रास (कौर) मिले; लेकिन यदि हमको न मालूम हो, फिर भी यह सत्य है कि वहां दो प्राणी सुखी हुए हैं। यह सत्य है कि इमली की पत्ती पकाकर खानेवाले लोग अब रोटी

खाने लगे हैं। चाहे हमें दीखे या न दीखे, वह अदृश्य फल हमें मिलता ही है।

प्रत्येक मनुष्य को सेवा करनी चाहिए। सत्कर्म करने चाहिएं। इससे मन को सन्तोष मिलने का दृश्य फल तो पद-पद पर मिलता ही है, लेकिन समाज को आनन्द देने का अदृश्य फल भी उसे मिलता है। यदि इस संसार में कोई बात व्यर्थ नहीं जाती तो फिर सत्कर्म कैसे व्यर्थ जा सकते हैं? यदि हम घर के पास ही गन्दगी करते हैं तो मच्छर हो जाते हैं। और घर के पास स्वच्छता रखी तो वहां आरोग्य और आनन्द रहेंगे। कर्म चाहे अच्छा हो या बुरा, दोनों का फल मिलता ही है। यदि कांटे बोयेंगे तो कांटे मिलेंगे। यदि गुलाब लगायेंगे तो गुलाब मिलेगा। प्रत्येक बात का परिणाम हमारे ऊपर अपने तथा आस-पास के वातावरण पर होता है। आकाश में दूर तारा चमकता है और हमारे जीवन में पवित्रता आती है। ध्रुव तारा दिखाई देता है तो उससे हमारी नाव सुरक्षित चली जाती है। मन की भावनाओं और विचारों का जब परिणाम होता है तो किये हुए कर्मों का परिणाम कैसे नहीं होगा? इसमें कोई शक नहीं कि चाहे यह परिणाम भले ही अदृश्य हो, लेकिन होता अवश्य है।

केवल कर्म में ही रम जाना एकदम नहीं साधा जा सकता। मनुष्य पहले-पहल लोभ से ही कर्म में प्रवृत्त होता है। मां बच्चे से कहती है, "श्रीगणेश लिख तो मैं तुझे छुआरे दूंगी।" वह छुआरों के लालच से पट्टी पकड़ता है। मिठाई के लालच से स्कूल जाता है; लेकिन आगे उसे विद्या का आनन्द मालूम होता है। वह विद्या के लिए ही विद्या सीखता है। यह बात नहीं है कि उस समय उसे दूसरे फल नहीं मिलते। बचपन में उसे छुआरे ही मिलते थे; लेकिन अब फल की आशा छोड़कर विद्या की उपासना शुरू करते ही उसे मान, सम्मान, कीर्त्ति, पद सब कुछ मिलते हैं। उसे निमन्त्रण मिलते हैं। उसका स्वागत होता है। उसके सामने अनन्त फल हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। ऋद्धि-सिद्धि उसके आस-पास खड़ी रहती हैं लेकिन उस विद्या का आनन्द प्राप्त करने वाले व्यक्ति को मान-सम्मान में आनन्द अनुभव नहीं होता।

"विकल छटपटाता है वह ऐसे।
विधा वाण से मृग हो जैसे॥"

जिस प्रकार वाण से हरिण विध जाता है, घायल होता है, उसी प्रकार वह भी मान-सम्मान से घवरा जाता है, परेशान हो जाता है।

तुकाराम महाराज की कीर्त्ति-गाथा सुनकर शिवाजी महाराज ने उनके पास पालकी भेजी। घुड़सवार भेजे। शिवाजी महाराज ने सोचा कि तुकाराम महाराज को पालकी में विठाकर जुलूस के साथ लाया जाय; लेकिन तुकारामजी को इससे दुःख हुआ। अपने सत्कर्म में वैभव के फल लगते हुए देखकर उन्हें बुरा लगा। वह भगवान् से वोले, "भगवन्! ये मशालें, ये घोड़े, ये पालकियां, ये छत्र-चामर, ये सव किसलिए हैं? क्या मैं इनको पसन्द करता हूं?" तुकाराम तो सेवा के लिए सेवा चाहते थे। उनको मोक्ष के फल की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने मोक्ष को भी ठुकरा दिया।

मैंने ठुकराये दंभ मान,
यश के सुख-सुविधा के अवसर।
तुम उन्हें भुलावे में डालो,
जिनको ये लगते मधुर-मधुर।

तुकाराम महाराज यह वात इस प्रकार स्पष्ट रूप से कह रहे हैं। मैंने कीर्त्ति और मान को ठुकरा दिया है। उनके पीछे-पीछे चलकर कर्मच्युत होनेवाले दीन, दुर्वल एवं अपनी ही पूजा करने वाले व्यक्ति हम नहीं हैं। उससे च्युत होनेवाले तो दूसरे लोग हैं।

यह दृष्टि अन्त में मनुष्य को प्राप्त होनी ही चाहिए। कर्म ही मोक्ष है और मोक्ष ही सन्तोष है। कर्म ही सव कुछ है। हमें सत्कर्म की आदत होनी चाहिए। सूर्य जलना जानता है। वादल वरसना जानता है। हवा वहना जानती है। सन्त दूसरे के आंसू पोंछना जानते हैं। जव आदत हो जाती है तो अहंकार चला जाता है। फलेच्छा मर जाती है। नाक लगातार सांस लेती रहती है; लेकिन हम उसका कोई आभार नहीं मानते। नाक भी यह नहीं जानती कि मैं कोई वड़ा काम कर रही हूं। यही हाल हमारा भी होना चाहिए। मां अपने वालक की नाक जितनी सहज और निष्काम

भावना से साफ करती है, उतनी ही सहजता से पड़ोसी के बालक की नाक भी साफ करने की आदत पड़नी चाहिए। पहले पड़ोसी के बालक की नाक साफ करते समय वह इधर-उधर देखेगी। वह इस बात पर ज्यादा ध्यान रखेगी कि उस बालक की माता, "यह क्या, आपने इसकी नाक साफ क्यों की ?" आदि कहकर उसकी प्रशंसा करती है या नहीं। लेकिन आगे चलकर यह इच्छा मिट जानी चाहिए। ऐसा करना हाथों का सहज धर्म हो जाना चाहिए।

"मामनुस्मर युद्धय च"

भगवान् ने यही शिक्षा दी है। चाहे फल मिले चाहे नहीं, हमेशा सत्य की याद रखकर काम करते रहो। भगवान् का स्मरण करते हुए कर्म करना चाहिए। लेकिन भगवान् के स्मरण का क्या अर्थ है ? सच्चिदानन्द का स्मरण। हमारे कर्म सच्चिदानन्द-रूपी भगवान् की पूजा करनेवाले होने चाहिएं। हमारे कम मांगल्य की पूजा करनेवाले हैं या नहीं यह देखना ही सत् स्वरूप की पूजा करना, सत् स्वरूप का स्मरण करना है। इसी प्रकार हमारे कर्म ज्ञान-विज्ञानपूर्वक हैं या नहीं, यह देखना ही चित्-रूपी परमात्मा का स्मरण करना और यह काम करते हुए हमारा हृदय उमड़ता है या नहीं, हमें अपार आनन्द होता है या नहीं, यह देखना आनन्द-रूप परमेश्वर के दर्शन करना है। कर्म में समाज का मांगल्य होना चाहिए, कर्म में ज्ञान होना चाहिए। कर्म हमें भारस्वरूप प्रतीत होने के बजाय आनन्दमय प्रतीत होना चाहिए। इसे कहते हैं सच्चिदानन्द की पूजा।

भारतीय संस्कृति जय या पराजय, सिद्धि या असिद्धि और यश या अपयश की ओर ध्यान नहीं देती। समुद्र की लहरें ऊंची उठती हैं और नीचे आती हैं। ऊपर उठते-उठते और नीचे गिरते-गिरते समुद्र किनारे के पास पहुंचता है। समुद्र में ज्वार आता है और भाटा भी; लेकिन उसकी वीर-गम्भीर गर्जना कभी नहीं रुकती। उसका कर्म चलता रहता है। जीवन और मरण, सम्पत्ति और विपत्ति, गुलामी और आजादी तथा जय और पराजय की ओर ध्यान न देकर हमेशा लक्ष्य की ओर बढ़ते रहना चाहिए। चारित्र्य मुख्य वस्तु है। हमारा अपना विकास मुख्य

वस्तु है। सत्कर्म मुख्य वस्तु है। हम उसके ही लिए हैं। हम विजय-पराजय की लहरों से लड़ते हुए आगे बढ़ते रहेंगे। हम विजय से उन्मत्त नहीं बनेंगे और पराजय से झुलस नहीं जायेंगे। हम सम्पत्ति से मदान्ध नहीं होंगे और विपत्ति से निस्तेज नहीं होंगे। हम अपना कर्म पकड़कर आगे बढ़ेंगे। भारतीय संस्कृति विजय का तत्वज्ञान नहीं बताती। यदि विजय पर ही उसकी नींव खड़ी की जायगी तो यह मानना पड़ेगा कि वह संसार के अधूरे अनुभवों के ऊपर ही खड़ी की गई है। भारतीय संस्कृति सदा सुख के स्वर्ग में ही रहने का प्रलोभन नहीं देती। विजय से उन्मत्त मत बनो और पराजय से दुःखी व उदास मत बनो। यही भारतीय संस्कृति का महान् सन्देश है। हमें विजय-पराजय को काटते-छांटते आगे बढ़ना चाहिए। हमें विजय और पराजय के साक्षी बनना चाहिए। जब ईसा के क्रॉस पर जाने का समय आया तो वह बोला, 'प्रभु, जैसी तेरी इच्छा।" कर्म करनेवाले को चाहे फांसी मिले, चाहे सिंहासन, चाहे फूल की माला मिले, चाहे दुःख मिले, चाहे यश मिले, चाहे अपयश, सच्चे कर्मवीर की श्रद्धा यही रहती है कि हमारी आत्मा मलिन नहीं होगी। उसे अदृश्य फल दिखाई देता है। उसे यह भी दिखाई देता है कि अन्त में सत्य की विजय होगी। भारतीय संस्कृति कहती है कि विजय के नगाड़े मत बजाओ और पराजय का रोना मत रोओ। तुम दोनों के ऊपर पहुंचकर, दोनों के ऊपर सवार होकर, निर्द्वन्द्व होकर सदैव सत्कर्म करते रहो। उसमें तन्मय हो जाओ। यही तुम्हारी मोक्ष है। यही तुम्हारी पूजा है। सच्चा महान् धर्म है। लेकिन इस बात को कौन सुनता है!

: ११ :

गुरु-शिष्य

भारतीय संस्कृति में गुरुभक्ति एक अत्यन्त मधुर काव्य है। ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी के तेरहवें अध्याय में इस गुरुभक्ति की अपार महिमा

गाई है। बहुत-से लोग इस गुरुभक्ति का महान् अर्थ नहीं समझते। आज चारों ओर दम्भ बढ़ चुका है और जहां-तहां दिखावा बढ़ गया है। उच्च गुरुभक्ति का महान् तत्त्व धूमिल हो गया है।

गुरु का अर्थ केवल शिक्षक नहीं है, केवल आचार्य नहीं है। शिक्षक अथवा आचार्य उस ज्ञान विशेष से हमारा थोड़ा-बहुत परिचय करा देते हैं। हम उनका हाथ पकड़कर ज्ञान के आंगन में आते हैं। लेकिन गुरु हमें ज्ञान के सिंहासन पर ले जाता है। गुरु हमें उन ध्येयों के साथ एक-रूप कर देता है। ज्ञान में तन्मय हो जानेवाला गुरु शिष्य को भी समाधि-अवस्था प्राप्त करा देता है। स्कूल में विद्यार्थी प्रश्न पूछते हैं लेकिन वहां गुरु के साथ बहुत-से प्रश्नोत्तर नहीं होते। यहां बिना बोले ही शंकाओं का समाधान हो जाता है, बिना कहे उत्तर मिल जाता है। यहां तो देखना और सुनना है। बिना बोले ही गुरु सिखा देता है और बिना पूछे शिष्य सीख जाता है। गुरु मानो उमड़ता हुआ ज्ञान-सागर है। सत्शिष्य का मुखचन्द्र देखकर गुरु लहराने लगता है। गीता में ज्ञानार्जन के प्रकार बताये गए हैं :

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।"

यह ज्ञान प्रणाम करके, बार-बार पूछकर और सेवा करके प्राप्त करो। हम परिश्रम करके शिक्षक से ज्ञान प्राप्त करते हैं, लेकिन गुरु के पास तो प्रणाम और सेवा ही ज्ञान के दो मार्ग होते हैं। नम्रता ज्ञान का सच्चा आरम्भ है। शिष्य गुरु के पास खाली मन लेकर जाता है। कुएं में अपार पानी है, लेकिन यदि बरतन नहीं झुके तो उस बरतन में एक बूंद भी पानी नहीं आ सकेगा। इसी प्रकार जो ज्ञान के सागर हैं उनके सामने जबतक हम न झुकेंगे, उनके चरणों के पास चुपचाप नहीं बैठेंगे तबतक हमें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा। भरने के लिए झुकना ही पड़ता है। प्रगति करने के लिए झुकना ही पड़ता है।

संगीत सीखने की इच्छा रखनेवाला कोई लड़का किसी संगीत की पाठशाला में जाता है। वहां कुछ वर्षों तक वह संगीत सीखता है। लेकिन उसे संगीत का सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता। संगीत से उसका परिचय होता है; लेकिन संगीत की आत्मा उसे कब दिखाई देगी, कब

समझ में आयगी ? किसी महान् गायक की संगति में जब वह साधक बनकर वर्षों तक रहेगा, उस गुरु की भक्ति और प्रेम के साथ सेवा करेगा, जब-जब गुरु अलापने लगे तब-तब नम्रतापूर्वक सारी इन्द्रियों को एकाग्र करके उस राग को सुनेगा तभी उसको सच्ची विद्या प्राप्त होगी। उसकी ऊबड़-खाबड़ विद्या सुसंस्कृत बनेगी, तेजस्वी बनेगी।

यह ज्ञानोपासक शिष्य जो केवल विनम्र बनकर आता है उसकी जाति और कुल का विचार नहीं करता। गुरु तो केवल एक बात देखता है और वह है लगन। जब शत्रु-पक्ष का कच प्रेमपूर्वक शुक्राचार्य के चरणों में आया तब उन्होंने उसे संजीवनी-विद्या दी। आप कोई भी खाली घड़ा लेकर गुरु के पास जाइये और उसे झुकाइये, आपका घड़ा भर जायगा।

गुरु सम्पूर्ण ज्ञान हमारी भेंट करता है। भिन्न-भिन्न ज्ञान-प्रान्तों के अबतक के सारे ज्ञान से वह हमारा गठबन्धन कर देता है। वह सारा भूतकाल हमें दिखा देता है, वर्तमान से परिचय करा देता है और भविष्य का दिशादर्शन करा देता है। गुरु का मतलब है अबतक का सम्पूर्ण ज्ञान।

गुरु मानो एक प्रकार से हमारा ध्येय है। हमें जिस ज्ञान की पिपासा है वह अधिक यथार्थता से जिसके पास हमें प्रतीत होता है वही हमारा गुरु बन जाता है। गुरु-भक्ति का मतलब है एक प्रकार की ध्येय-भक्ति। गुरु शब्द की अपेक्षा ध्येय शब्द की योजना कीजिए। फिर आपको गुरु-भक्ति पागलपन प्रतीत नहीं होगी। खिले हुए कमल के पास जिस प्रकार रस पीने के लिए गुंजार करता हुआ भौंरा अधीर होकर आता है, धीरे से बैठता है और उसका रस पीते-पीते तल्लीन हो जाता है, यही स्थिति सत्-शिष्य की गुरु के पास होती है। वह गुरु को लूट लेता है। गुरु को छोड़ता नहीं है। वह गुरु को खाली करने के लिए व्याकुल रहता है; लेकिन वह गुरु को उसी समय खाली कर सकेगा जबकि शिष्य स्वयं खाली होगा। अपने जीवन का बरतन जितना बड़ा और गहरा होगा, उतना ही हम गुरु से ले सकेंगे।

समर्थ ने लिखा है, "अपनी लघुता का भान न छोड़ो।" हमें यह

सदैव प्रतीत होना चाहिए कि अभी हम अज्ञान हैं, अभी हम खाली हैं, अभी हमें बहुत सीखना है। हमें सदैव कहनाचाहिए कि "और आगे! और आगे !" यही विकास का मार्ग है। जब हम यह कहते हैं कि मैं सब बात समझ गया हूं, सब-कुछ सीख गया हूं, तो इसके कहते ही हमारा सारा ज्ञान रुक जाता है।

ध्येय सदव बढ़ता ही रहता है। ध्येयरूपी गुरु अनन्त है। उसकी जितनी ही सेवा कीजिए वह अपर्याप्त ही रहेगी । जन्म-जन्म तक भक्ति करने पर ही शायद परिपूर्णता प्राप्त होगी। न्यूटन कहेगा, "मेरा ज्ञान सिन्धु में बिन्दु की तरह है।" सुकरात कहेगा, "मैंने इतना ही समझा कि मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।"

गुरु हमें सिखाता है कि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान के लिए हमें किस प्रकार व्याकुल रहना चाहिए, किस प्रकार पागल-जैसा बनना चाहिए। शिष्य को यह प्रतीत होता है कि गुरु मानो अनन्त ज्ञान की मूर्त्ति है। गुरु मानो एक प्रतीक होता है। गुरु मानो मूर्त ज्ञान-पिपासा है। गुरु मानो अनन्त ज्ञान की विकलता है। गुरु मानो सत्य के ज्ञान की उत्कटता है। हमारे गुरु का न आदि है, न अन्त। हमारे गुरु का न पूर्व है, न पश्चिम। हमारा गुरु है परिपूर्णता।

ऐसे गुरु को कुछ भी देना नहीं पड़ता। उसको आप जितना दें थोड़ा है। जितना दें उतना बहुत है। मनु-स्मृति में कहा है, "अरे, यदि तेरे पास देने के लिए कुछ भी न हो तो खड़ाऊं की एक जोड़ी ही दे दे। एक घड़ा पानी ही भर दे। एक फूल ही दे दे।" यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि शिष्य ने कितना दिया है। वह जो कुछ देता है उसमें कृतज्ञता का सागर भरा रहता है। उसमें उसका हृदय जैसे उंडेला हुआ होता है।

यूरोप में यह बात कहने में बड़ा गर्व अनुभव किया जाता है कि मैं अमुक व्यक्ति का शिष्य हूं, मैंने अमुक व्यक्ति के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की है। सुकरात का शिष्य कहे जाने में प्लेटो अपने को धन्य मानता था प्लेटो का शिष्य कहे जाने में अरस्तू अपने को कृतार्थ मानता था। इब्सन का अनुयायी कहा जाने में शॉ को बड़प्पन का अनुभव होता था

और मार्क्स का शिष्य समझे जाने में लेनिन अपने को गौरवशाली समझता था।

यह भावना बहुत ऊंची है कि हम किसी के हैं। उस भावना में कृतज्ञता है। संसार में अकेले रिसालदार नहीं हैं। संसार में सहयोग है। इसे दूसरों से बहुत सहारा मिलता है और दूसरों को इससे सहारा मिलता है। संसार में ऐसा कोई नहीं है जिसने सारा ज्ञान सम्पूर्ण स्वतन्त्रता से प्राप्त कर लिया हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने आगेवालों के कन्धे पर खड़ा रहता है और दूर की बात देखता है। ज्ञान का इतिहास मानो सहयोग का इतिहास है, अखण्ड परम्परा का इतिहास है।

सच्चा गुरु अपने शिष्य को प्रगति करता हुआ देखकर अपने को गौरवशाली अनुभव करता है। शिष्य से पराजित होने में गुरु को अपार आनन्द मिलता है। बात यह है कि शिष्य की विजय गुरु की ही विजय होती है। गुरु ने जो कुछ बोया है, वह उसी का विकास है। गुरु जिस ज्ञान की उपासना कर रहा था, वह उसी ज्ञान की पूजा होती है। वह उसी ज्ञान का बढ़ता हुआ वैभव होता है।

गुरु अपना सारा ज्ञान शिष्य को दे देता है। वह अपने पास छिपाकर कुछ भी नहीं रखता। अपना महत्त्व कहीं कम न हो जाय इस डर से अपने ज्ञान की सारी पूंजी न देनेवाले अहंभावी गुरु बहुत हैं; लेकिन वे गुरु नहीं हैं। उनका ज्ञान उनके साथ ही मर जाता है। ऐसा कौन चाहेगा कि हमने जिस ज्ञान की उपासना की वह मिट जाय? सच्चा गुरु तो यही चाहता रहता है कि ज्ञान का वृक्ष बढ़ता रहे। गुरु ज्ञान के रूप में अमर रहता है। हमने जो कुछ कमाया है उसे दे डालना चाहिए। एक दिन रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द से कहा, "मैं आज तुझे सबकुछ दे डालता हूं। मैं अपनी सारी साधना आज तुझमें उंडेल देता हूं।" वह क्षण कितना दिव्य होगा जबकि शिष्य को अपने जीवन का सबकुछ अर्पण किया जाता है!

गुरु मानो विशिष्ट ज्ञान का प्रतीक है। यदि गुरु के विचार या सिद्धान्त में कुछ भूल शिष्य को दिखाई दी तो सत्शिष्य उस भूल को नहीं छिपायेगा। गुरु के दिए हुए ज्ञान को अधिक निर्दोष बनाना ही गुरु की

पूजा करना है। गुरु की भूलों को पकड़े नहीं रहना चाहिए। वह तो गुरु का अपमान होगा। ज्ञान की पूजा ही मानो गुरुभक्ति है। यदि गुरु जीवित होते तो उस भूल को दिखाने से उनको गुस्सा न आता। वह तो उल्टे शिष्य को गले लगा लेते। उससे अपने को गौरवशाली अनुभव करते।

गुरु अपनी अन्धभक्ति पसन्द नहीं करते। गुरु के सिद्धांतों को आ बढ़ाना, उनके प्रयोगों को आगे चालू रखना ही उनकी सच्ची सेवा है निर्भयतापूर्वक किन्तु साथ ही नम्रतापूर्वक ज्ञान की उपासना करते रह ही गुरुभक्ति है। एक दृष्टि से सारा भूतकाल हमारा गुरु है। सा पूर्वज हमारे गुरु हैं। लेकिन यदि भूतकाल की बातों में अब कुछ भूल दिखा दे तो उसे दूर न करना मानो भूतकाल का अपमान करना है। भूतका की भ्रामक बातों को वैसी ही चलते रहने देना उचित नहीं। वह भूतका का गौरव नहीं है। वह पूर्वजों का गौरव नहीं है। उल्टे इससे तो हमा बड़े-बड़े पूर्वजों को अपना अपमान ही अनुभव होगा।

यदि अपने कुटुम्ब का प्रिय, पूज्य एवं कर्ता व्यक्ति मर जाता है त हमें बुरा लगता है; लेकिन क्या उस मृत व्यक्ति को हम अपने मोह वश होकर गले लगाये रहेंगे? अन्त में उस प्रिय किन्तु मृत व्यक्ति शव को हमें अग्नि की भेंट करना ही पड़ता है। उस शव को घर रखना मानो उसे सड़ने देना है। यह तो उस शव की फजीहत होगी उसी प्रकार पूर्वजों की मृत रीति व सदोष विचारधारा को नम्रता पूर्वक एवं भक्तिभाव से तिलांजलि देना ही पूर्वजों की सेवा करना है।

यह भूलना नहीं चाहिए कि गुरुभक्ति अन्त में ज्ञानभक्ति ही है पूर्वजों के सदनुभव के प्रति आदर, उनके प्रयत्नों के लिए आदर, उनके साहस, उनकी ज्ञान-निष्ठा के लिए आदर। । गुरु की पूजा मानो सत्य की पूजा, ज्ञान की पूजा, अनुभव की पूजा, विचारों की पूजा है। जबतक मनुष्यों में ज्ञान-पिपासा है, ज्ञान के लिए आदर की भावना है तबतक संसार में गुरुभक्ति रहेगी।

भारत में 'गुरु' शब्द के स्थान पर 'सद्गुरु' शब्द की बड़ी महिमा

है। सद्गुरु का अर्थ क्या है? गुरु विभिन्न ज्ञान-प्रान्तों अथवा विभिन्न कलाओं में हमें आगे ले जाता है। लेकिन सद्गुरु जीवन की कला सिखाता है।

गीता में कहा है, "अध्यात्मविद्या विद्यानाम्" जीवन को सुन्दर बनाना, अपने जीवन को निर्दोष, निष्काम, निरुपाधि करना ही सबसे बड़ी विद्या है और इसे सिखानेवाला ही सद्गुरु है।

संसार में शास्त्रों का चाहे कितना ही विकास क्यों न हो; लेकिन जबतक मनुष्य जीवन-कला नहीं साधता तबतक सबकुछ व्यर्थ होगा। महर्षि टाल्स्टाय कहते थे कि 'पहले यह सीखो कि समाज में एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।' सन्त बताते हैं कि किस प्रकार जीवन मधुर बनाना चाहिए। रेडियो सुनने से संगीत नहीं सीखा जा सकता। तुम्हारे इस बाहरी ठाठ-बाट से रोनेवाला संसार मधुर नहीं हो सकता। संगीत अन्दर अन्तरंग में ही शुरू हो जाना चाहिए। जीवन का यह सागर-संगीत सद्गुरु सिखाते हैं। वे हृदय में प्रकाश करते हैं। बुद्धि को सम बनाते हैं, प्रेम की आंखें देते हैं। वे काम-क्रोध आदि सर्पों के दांत गिराते हैं। वे द्वेष-मत्सर आदि सिंहों को बकरी बना देते हैं। इस प्रकार सद्गुरु एक बड़ा जादूगर है।

इसलिए भारत में सत्संग अथवा सज्जनों की सेवा को बहुत महत्त्व दिया गया है।

बहुत-सा सज्जन का सत्संग। बनता भवसागर की नाव सुरंग।

रवींद्रनाथ सृष्टि को किस प्रकार देखते थे, महात्माजी किस प्रकार शान्तिपूर्वक हमेशा कार्यमग्न रहते थे, यह उनके पास बैठने से ही मालूम हो सकता था।

बड़े आदमियों के पास क्षणभर रहने पर भी उसका संस्कार होता है। भगवान् बुद्ध के चरित्र में एक कहानी है:

एक बार भगवान् बुद्ध नगर के बाहर एक विशाल उद्यान में ठहरे। उनके दर्शन के लिए छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, धनी-गरीब सब जाते थे। एक दिन प्रातःकाल राजा अकेला ही पैदल जा रहा था। उधर से एक अन्य धनी व्यापारी भी जा रहा था।

उन लोगों को रास्ते में एक माली मिला। माली के हाथ में एक सुन्दर सुगन्धित कमल था। शरद् ऋतु समाप्त हो गई थी और शिशिर ऋतु प्रारम्भ हो गई थी। कमल मिलना कठिन हो गया था। राजा और साहूकार दोनों को लगा कि उस कमल को खरीदकर उसे बुद्ध भगवान् के चरणों में चढ़ाएं। साहूकार माली से बोला, "माली भाई, फूल कितने का है?"

माली बोला, "चार पैसे में।"

राजा बोला, "मैं दो आने देता हूं, मुझे दे दे।"

साहूकार बोला, "माली भाई, मैं चार आने देता हूं, मुझे दे।"

राजा बोला, "मैं आठ आने देता हूं।"

साहूकार बोला, "मैं रुपया देता हूं।"

इसपर कमल की कीमत बढ़ने लगी। माली ने मन में कहा, 'ये लोग जिसके पास कमल ले जा रहे हैं यदि उसके पास मैं ही कमल ले जाऊं तो मुझे भी ज्यादा कीमत मिलेगी।' इस विचार से वह माली बोला, "मैं किसी को भी न दूंगा। आप लोग जाइये।"

राजा और साहूकार जाने लगे। माली भी उनके पीछे-पीछे चला। भगवान् बुद्ध एक शिलाखण्ड पर बैठे थे। हजारों लोग उनका उपदेश सुन रहे थे। राजा ने वन्दन किया और वह शान्तिपूर्वक दूर जाकर बैठ गया। साहूकार ने प्रणाम किया और वह भी दूर जाकर बैठ गया। उसके पीछे वह माली भी था। भगवान् बुद्ध के चरणों में कमल रखकर वह भी नम्रतापूर्वक दूर जाकर बैठ गया।

भगवान् बुद्ध को देखते ही पैसों का स्वार्थी विचार माली के मन में आया ही नहीं। उस पवित्र मूर्ति के सामने पवित्र विचारों से ही उसका हृदय भर गया। उस वातावरण में स्वार्थी विचार क्षणभर के लिए भी जीवित नहीं रह सकते थे।

जब एक क्षण की भेंट का इतना असर हुआ तो बारह वर्ष के तप यदि ऐसे महात्मा के सत्संग में व्यतीत किये जायं तो जीवन सोने-जैसा क्यों न होगा? संत कैसे बोलते हैं, कैसे चलते हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार का व्यवहार करते हैं, कैसे निर्भय रहते हैं, किस प्रकार निस्पृह

रहते हैं, कितने इच्छारहित, कितने संयमी, कितने मृदु, लेकिन कितने निश्चयी, कितने निरहंकारी, कैसे सेवा-सागर, कितने निरलस, कितने क्षमाशील, उनका वैराग्य कैसा रहता है, कैसी निर्मल दृष्टि होती है, कैसा विवेक होता है, कैसा अनासक्त व्यवहार होता है; यह सब हमेशा उनके सहवास में रहने से ही समझ में आते हैं।

अपना मटमैला जीवन इस प्रकार के सद्गुरु के सहवास में रहने से निर्मल होने लगता है। पर्दा हटने पर प्रकाश आता है। प्रत्यक्ष प्रायोगिक शिक्षा प्रत्येक क्षण मिलती है। सद्गुरु के श्वासोच्छ्वास के साथ-साथ पवित्रता आती है। माता-पिता शरीर देते हैं—जन्म देते हैं। लेकिन यह बात सद्गुरु ही सिखाते हैं कि इस मिट्टी के शरीर को सोना कैसे बनाया जाय। भौतिकशास्त्र का गुरु मिट्टी से माणिक बना देगा; लेकिन सद्गुरु जीवन की मिट्टी के माणिक-मोती बनाता है। वह पशु से मनुष्य बनाता है, वैचारिक शक्ति प्रदान करता है, सत्य दृष्टि देता है। इस प्रकार के सद्गुरु से किस प्रकार उऋण हो सकेंगे? जिसने बन्दर से मनुष्य बनाये, पशु से पशुपति बनने का जादू सिखाया, उस सद्गुरु का ऋण किस प्रकार चुकाएं? किन शब्दों से उसका स्तवन करें? उसका कितना वर्णन करें? उसे कितना मानें? उसकी कितनी प्रशंसा करें?

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

सद्गुरु का वर्णन करने में वाणी असमर्थ रहती है। गुरु माने भगवान्, महा भगवान्। गुरु माने सब-कुछ।

अपनी तरफ सद्गुरु की परम्परा बताने का रिवाज है। सबका आदि गुरु याने—'कैलाश राजा शिव चन्द्रमौलि'। निर्मल धवल और उच्च कैलाश के ऊपर रहनेवाला, शील का चन्द्र धारण करनेवाला, ज्ञान-गंगा मस्तक पर धारण करनेवाला, सर्पों को निर्विष बनाकर उन्हें फूल की माला की तरह अपने शरीर पर खिलानेवाला, सर्वस्व का त्याग करके भस्म को वैभव माननेवाला, संसार के लिए स्वयं हलाहल पीनेवाला, भूत, प्रेत, पिशाच आदि पाप-योनियों को भी प्रेम से पास लेकर उन्हें मंगल का मार्ग दिखानेवाला, वैराग्य का तीसरा नेत्र खोलकर वासना को

भस्म करनेवाला, पशुपति, मृत्युञ्जय, शिव सबका आदिगुरु है। उन्से ही सबकी ज्ञान-परम्परा प्रारम्भ होती है।

जनक के गुरु याज्ञवल्क्य, जनक शुकाचार्य के गुरु, निवृति के शिष्य ज्ञानदेव, रामानन्द के शिष्य कबीर, इस प्रकार का यह संबंध शब्द में प्रकट नहीं किया जा सकता। जबतक जीवन स्वच्छ, शुद्ध और ज्ञान बनाने की लगन मनुष्य में रहेगी तबतक यह संबंध भी संसार में रहेगा इसमें कोई शंका नहीं कि यह संबंध भारत में ही नहीं—संसार में भी रहेगा इसके रहने में ही संसार का कल्याण है।

: १२ :

चार पुरुषार्थ

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। ये चार वस्तुएं ही संसार में ऐसी हैं जिन्हें प्रयत्न करके प्राप्त करना चाहिए। पुरुषार्थ का अर्थ है वह वस्तु जिसे मनुष्य को अपने प्रयत्नों से प्राप्त करना चाहिए, संपादन करना चाहिए। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ मराठी भाषा में कृतार्थता, पराक्रम, सार्थकता आदि होता है। हम कहते हैं कि 'ऐसा करने में कुछ पुरुषाथ नहीं है।' इसका मतलब यही है कि ऐसा करना मनुष्य को शोभा नहीं देता, अच्छा नहीं लगता। यह मनुष्य के लिए गौरवशाली नहीं है, इसमें कुछ पराक्रम नहीं है।

भारतीय संस्कृति कहती है कि संसार में चार वस्तुएं प्राप्त कीजिये चार वस्तुएं जोड़िये। भारतीय संस्कृति केवल एक वस्तु पर ही जोर नहीं देती। वह व्यापक है, एकाङ्गी नहीं। भारतीय संस्कृति दैन्य और निराशा के गीत गानेवाली नहीं है। भारतीय संस्कृति पैसे को निकृष्ट वस्तु नहीं समझती। यहां अर्थ भी एक पुरुषार्थ है; द्रव्य-सम्पत्ति त्याज्य नहीं है। प्रयत्नों के द्वारा द्रव्य प्राप्त कीजिये, सम्पत्ति जोड़िये। भारतीय संस्कृति में सम्पत्ति से परहेज नहीं है। भारतीय संस्कृति तो सम्पत्ति को हजम कर लेनेवाली है। सम्पत्ति की ही भांति कामोपभोग की बात है।

भारतीय संस्कृति काम को सम्मान का स्थान देती है। काम भी एक पुरुषार्थ की वस्तु मानी गई है। सम्पत्ति पवित्र है और काम भी पवित्र है। मनुष्य को अर्थ और काम प्राप्त करने चाहिएं। सम्पत्ति प्राप्त करनी चाहिए और उसका ठीक-ठीक उपभोग भी करना चाहिए। यहां काम का अर्थ केवल रति-सुख ही नहीं है। काम का अर्थ है उपभोग, सुखोपभोग। काम का अर्थ है विषय-सुख, पंचेन्द्रिय का सुख, पंच-विषयों का सेवन। काम शब्द को इसी व्यापक अर्थ में लेना चाहिए।

तुकाराम के एक अभंग में एक बहुत बड़ी बात कही गई है—

"विधि से सेवन। धर्म का पालन।"

यदि विषयों का सेवन विधिपूर्वक किया जाय तो वह धर्महीन नहीं है। मर्यादित परिमाण में विषयभोग करने से धर्मच्युति नहीं होती। धर्म का अर्थ ही है विधियुक्त ग्रहण। तुकारामजी का एक और चरण है—

"सद्व्यवहारों से जोड़ो धन। उसे व्यय करो बन उदार मन।"

यह महान् संत ऐसा नहीं कहता कि धन मत जोड़ो; लेकिन धन उत्तम व्यवहार से जोड़ो और उस जोड़े हुए धन को विवेक तथा उदारता से खर्च करो, यही बात वह कहता है।

विधि का अर्थ है आज्ञा। स्मृतियों में विधि शब्द अनेक बार आया है। स्मृति कहती है कि प्रत्येक कर्म विधिपूर्वक करो। विधि का मतलब है शास्त्र-वचन। विधि का अर्थ है स्मृति का बताया हुआ विधान। विधि का मतलब है धर्म। स्मृतिकार कहते हैं, कि जो कर्म विधियुक्त नहीं हैं, वे अधार्मिक हैं। परन्तु कौन-सी विधि, किसलिए विधि, किसके लिए आज्ञा, किसके लिए बन्धन, किसके लिए मर्यादा?

भारतीय संस्कृति मानव-मन को पहचानती है। वह मनुष्य के हृदय की भूख पहचानती है। भारतीय संस्कृति इस बात को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करती कि मनुष्य में वासना-विकार हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति का ध्येय परमोच्च है, तथापि वह मर्यादा को पहचानती है। भारतीय संस्कृति इस बात को भी नहीं भूलती है कि मानवी आत्मा इस मिट्टी के शरीर में बन्द हो गई है, यह आत्म-हंस इस कीचड़ में फंस गया

है। उसे इस कीचड़ से धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए।

सारी मानव-संस्कृति कीचड़ में से ही निकलती है। कीचड़ में कीड़े होते हैं, लेकिन कीचड़ में कमल भी खिलते हैं। कीचड़ में कमल खिलाना ही भारतीय संस्कृति का ध्येय है। अन्धकार में प्रकाश का निर्माण करना, मिट्टी से हीरे और माणिक निर्माण करना, मृत्यु से अमरता प्राप्त करना ही भारतीय संस्कृति का ध्येय है।

रवींद्रनाथ की एक सुन्दर कविता है। उसमें कवि कहते हैं, "भगवान् फूल से उसे दी हुई सुगन्ध की, रंग की मांग करता है। कोकिल से वह केवल उसे दी हुई कुहू-कुहू की अपेक्षा रखता है। वृक्ष से वह केवल उसके फल की ही आशा रखता है; लेकिन मनुष्यों के संबंध में भगवान् का नियम निराला है। उसने मनुष्य को दुख दिया है। उसकी इच्छा है कि मनुष्य उसमें से सुख प्राप्त करे। उसने मनुष्य को अन्धकार दिया है। वह कहता है कि 'इस अन्धकार में से प्रकाश उत्पन्न करो'। उसने मनुष्य को मर्त्य बनाया है। वह कहता है कि 'इस मरण में से अमृतत्व प्राप्त करो।' उसने आस-पास चारों ओर गन्दगी फैला रखी है, असत् फैला रखा है। वह कहता है—'इस असत् में से सत् प्राप्त करो, इस विष में से सुधा का सृजन करो, इस अमंगल में मंगल का निर्माण करो।' भगवान् का मनुष्य के संबंध में ही यह पक्षपात क्यों है? मानव के ऊपर ही यह महान् उत्तरदायित्व क्यों है? मानव के लिए ही इतनी कठोरता क्यों है? यह असंभव अपेक्षा क्यों है? नहीं, भगवान् कठोर नहीं हैं, दुष्ट नहीं हैं। वह यह अनुभव करते हैं कि सारी सृष्टि में मानव प्राणी ही बड़ा है। यदि मानव से ऐसी अपेक्षा न करें तो फिर किससे करें? यह मनुष्य के लिए गौरव की बात है। जिस प्रकार किसी वीर से छोटे-से कीड़े को मारने के लिए कहना उसका अपमान करना है, उसी प्रकार मानव से क्षुद्र वस्तु की अपेक्षा करना मानो उसकी शक्ति का अपमान करना है। भगवान् को यह आशा है कि मेरा लाड़ला मनुष्य प्राणी सब-कुछ कर सकेगा। भगवान् को विश्वास है कि चौरासी लाख योनियों के बाद पैदा होनेवाला यह बड़ा मानव प्राणी—यह सारी सृष्टि का मुकुट-मणि—मेरी आशा व्यर्थ नहीं जाने देगा।"

कितनी सुन्दर यह कविता है !। कितना महान् यह विचार है ! यह सृष्टि बड़ी विशाल और गम्भीर है। शेक्सपियर ने एक स्थान पर मानव के बड़ेपन का इसी प्रकार वर्णन किया है कि मनुष्य कैसा बोलता है, कितने सुन्दर ढंग से चलता है, कितना सुन्दर दिखाई देता है, उसका हृदय कितना बड़ा है, उसकी विचारशक्ति कैसी है, कैसी विशाल दृष्टि है मानो मनुष्य भगवान् की मूर्ति ही है।

नर-देह के महत्त्व का भारतीय सन्तों ने भी वर्णन किया है —

धन्य-धन्य है यह नर-देह। यह है अपूर्वता का गेह।

ये उद्गार समर्थ रामदास स्वामी ने प्रकट किये हैं।

"बहुना पुण्य-पण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।"

इसमें कहा गया है कि अरे भाई ! यह मनुष्य-देह तुझे बड़े भाग्य से मिला है। तुकारामजी ने तो नर-देह को 'सोने का कलश' कहा है। भारतीय सन्त कहते हैं कि इस नर-देह में पैदा होकर नर से नारायण होना ही महत्त्वपूर्ण ध्येय है।

मनुष्य से कितनी बड़ी अपेक्षा की गई है! लेकिन मनुष्य इस अपेक्षा को कैसे पूरी करेगा ? पशु की भांति आचरण करनेवाला मनुष्य कैसे देव के समान हो सकेगा ? बर्नर्ड शॉ ने एक स्थान पर कहा है: 'मनुष्यों को पैदा हुए हजारों वर्ष हो गए। भगवान् आशा से प्रतीक्षा कर रहा है। वह अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयोग कर रहा था। वह भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी निर्माण कर रहा था। यह सोचते-सोचते उसने हजारों प्राणियों का निर्माण कर दिया कि यह प्राणी मेरा उद्देश्य पूरा करेगा, मेरी आशा सफल करेगा; लेकिन उसकी आशा अपूर्ण ही रही। पहले के अनुभव से लाभ उठाकर भगवान् नवीन प्राणियों का निर्माण कर रहा था; लेकिन वे नवीन प्राणी भगवान् को निराश ही करते थे। ऐसा करते-करते भगवान् ने मानव का निर्माण किया। अपनी सारी चतुरता खर्च करके, सारे अनन्त अनुभव उंडेलकर भगवान् ने इस दिव्य प्राणी का निर्माण किया और वह रुका। थका हुआ भगवान् सो गया। उसे लगा कि यह मानव-प्राणी मेरी सारी आशाएं पूरी कर देगा, मेरा मनोरथ पूरा कर देगा। वह निःशंक होकर सो गया।

जब मैं जागूंगा तब मुझे मनुष्य की दिव्य कृति देखने को मिलेगी और आंखों की भूख मिटेगी, इसी आशा से भगवान् सो रहा है। लेकिन अब तो हजारों वर्ष हो गए और यदि भगवान् जगा तो उसे क्या दिखाई देगा? क्या भगवान् को अच्छा लगेगा? क्या वह परात्पर पिता अपने को धन्य समझेगा? क्या मानवी संसार का उत्सव देखकर उसकी आंखों में आनन्दाश्रु उमड़ पड़ेंगे? क्या उसका हृदय प्रेम से भर आयगा? क्या वह इस मानव को अपने गले लगाकर प्रेमाश्रुओं से नहला देगा?

"पर यहां क्या हो रहा है? मनुष्य मनुष्य को गुलाम बना रहा है। मनुष्य मनुष्य को सता रहा है, पीड़ा दे रहा है, कष्ट दे रहा है, जला रहा है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को नोच रहा है। दांत किटकिटाकर और होंठ काटकर वे एक-दूसरे को देख रहे हैं। इनसे तो स्यार और व्याघ्र ही अच्छे हैं; सर्प और सिंह ही अच्छे हैं। चील और गिद्ध तक अच्छे हो सकते हैं; लेकिन मनुष्य नहीं। वह तो सारी सृष्टि का संहार करने पर तुला हुआ है। वह पत्ती खाता है, फल-फूल खाता है, पशु-पक्षी मारकर खाता है। कभी-कभी खेल-खेल में उनका शिकार करता है। अरे, वह तो अपनी जाति को ही मिटा रहा है। वाघिन अपने बच्चे खाती है। उसका एक ही बच्चा बचता है। बिल्ली भी अपने बच्चे खा जाती है। प्रसव-वेदना को सहन करनेवाली वह माता अपने ही बच्चे खा जाती है। पर मनुष्य भी तो ऐसा ही कर रहा है। अपने पेट की आग को शान्त करने के लिए वह पड़ोसी राष्ट्रों को खा जाता है। मानव मानव को खा रहा है। मनुष्य का अर्थ हो गया है बुद्धिमान् बाघ। क्रूरता को बुद्धि का साथ मिल गया। अब क्या? बाघ के तो सिर्फ नख और दांत हैं। जब कोई प्राणी उसके पास जाता है तभी वह उसको खाता है। लेकिन बुद्धिमान् मानव-बाघ ने एक आश्चर्य की बात कर दी है। वह पचासों मील दूर से भी मार सकता है। वह आसमान में मार सकता है, पानी में मार सकता है, रात में मार सकता है, हवा से मार सकता है, किरण से मार सकता है। सारे संसार के हिंसक तत्वों की खोज करके वह उनका उपासक बन रहा है। मारने के साधन खोज निकालना ही

उसकी संस्कृति है। यह मानव-संसार खून से सना हुआ है। यहां चीत्कार और पीड़ा है । वली निर्बल को दवा रहा है। विनाशक शक्ति की प्रशंसा की जाती है। पाशविक बल के शास्त्र पढ़ाये जाते हैं । कोई सुख में है तो कोई दुःख में । कोई विलास में है तो कोई विनाश में। कोई महलों में तो कोई रास्तों पर पड़ा है। कोई अजीर्ण से मर रहा है तो सैकड़ों विना अन्न के मर रहे हैं। कोई वस्त्रों की अधिकता से घुट रहा है तो कोई वस्त्र के अभाव में ठिठुर रहा है। कोई सदैव गद्दों पर लोट रहता है, कोई श्रम नहीं करता है, हाथ-पैर मैले होने नहीं देता है। उसे ठंड और धूप नहीं लगती है तो दूसरों को सुख की नींद भी नहीं नसीब है। विश्राम भी नसीव नहीं होता है। चाहे धूप हो, वर्षा हो, दिन हो, रात हो, वीमार हो, अच्छा हो, घर में वच्चे तड़प रहे हों, पत्नी मर रही हो, सदैव काम करना ही पड़ता है। एक ओर संगीत है तो एक ओर कराह है, एक ओर चैन है तो एक ओर अभाव, एक ओर आनन्द तो एक ओर मृत्यु। कैसा है यह मानव-संसार !

"भगवान् को यह हृदयविदारक दृश्य कैसा लगेगा ! अपनी सारी आशा-आकांक्षा को धूल में मिलती हुई देखकर उस जगदीश्वर को क्या महसूस होगा ? वह निराशा से पागल हो जायगा । उसकी अनन्त आशा नष्ट हो जायगी । उसकी सहनशीलता का अन्त हो जायगा । वह मानव की ओर क्रोध से जलती हुई आंखों से देखेगा और मानव जलकर भस्म हो जायगा। वह मानव को संसार से मिटा देगा। वह समझेगा कि यह प्रयोग असफल हो गया । किसे मालूम शायद वह कोई दूसरा प्रयोग शुरू करे।"

वर्नार्ड शॉ को यह प्रतीत होता था कि भगवान् मानव को मिटा देगा; लेकिन भगवान् ऐसा नहीं करेगा। क्योंकि भगवान् ने यह अनुभव कर लिया है कि इसी मानव में सत् शक्ति भी है। इन राक्षसी और निर्लज्ज मानवों में से ही भगवान् वुद्ध पैदा हुए, भगवान् ईसा पैदा हुए, इन्हीं मानव-प्राणियों में से फ्रान्सिस निकले, तुलसीदास निकले, इन्हीं मानव-प्राणियों में से महात्मा गांधी प्रकट हुए, रवीन्द्रनाथ पैदा हुए। भगवान्

को आशा है। खट्टे फल का त्याग नहीं करना चाहिए, वे ही खट्टी अमियां एक दिन पकेंगी और उसका खट्टापन मधुर रस में बदल जायगा। मानव-प्राणी भी एक दिन इसी प्रकार पकेगा। कुछ पके हुए फल बड़े ही मधुर निकले, यह बात भगवान् ने देख ली है। वह अनन्त काल तक आशा से राह देखता रहेगा।

रामतीर्थ कहते थे, "हम सब ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़नेवाले बच्चे हैं। कोई सारी सीढ़ियां चढ़कर ऊपर के दीवानखाने तक पहुंच गये हैं, कोई ऊपर की अन्तिम सीढ़ी पर हैं, कोई बीच में हैं, कोई नीचे की सीढ़ी पर हैं, कोई सीढ़ी के पास खड़े हैं और सीढ़ी की ओर दौड़ रहे हैं। एक दिन सारे बालक दीवानखाने में आ जायंगे। उस दिन अपूर्व उत्सव होगा, मधुरतम संगीत होगा।

"मानव-यात्रा शुरू हो गई है। हम सब लोग यात्री हैं—मांगल्य की ओर जानेवाले यात्री। नदी सागर की ओर जाती है तो क्या वह सीधे जाती है? क्या वह एक ही गति, एक ही वेग से जाती है? नदी कभी टेढ़ी जाती है, कभी ऊंचाई से निश्शंक होकर छलांग मारती है, कभी उच्छृंखल हो जाती है, कभी गांव नष्ट कर देती है; कभी गम्भीर तो कभी उथली, कभी हंसती है तो कभी रोती, कभी भरी हुई तो कभी रीती, कभी जंगल के कांटों में से चलती है तो कभी प्रसन्न मन से मैदान में बहती है। लेकिन अन्त में सागर के चरणों में गिर जाती है। और नदी की राह देखनेवाला, उन हजारों नदियों की रात-दिन राह देखते रहनेवाला वह सागर उसे अपने हजारों हाथों से गले लगा लेता है—अपने में एकरूप कर लेता है।"

वे पर्वत—सरिताओं को जन्म देनेवाले वे पहाड़—अपनी कन्याओं पर क्रोध नहीं करते। वे आशा से बच्चियों की ओर देखते रहते हैं। अपने आशीर्वाद भेजते रहते हैं। वे उनमें जीवन भरते रहते हैं। पर्वत को यह अमर आशा रहती है कि अन्त में मेरी बालिका अनन्त सागर के पास जायगी, वह भले ही टेढ़ी-मेढ़ी जाय, लेकिन अपने ध्येय को अवश्य प्राप्त करेगी। वह हिमालय स्वयं पिघलकर उनको पानी पिलाता है। मूक रहकर वह हिमालय कहता रहता है, "जाओ, बच्चियो, जाओ! मैं

श्रद्धावान् हूं। गंगा-यमुना, जाओ। तुमपर मुझे विश्वास है।"

ऐसी ही है भगवान् की आशा कि अन्त में मानव-प्राणी उसकी ओर आयगा। उसमें यह श्रद्धा है कि वह प्रेम की ओर, सहयोग की ओर, एकता की ओर, मंगल की ओर, पवित्रता की ओर आयगा। इसी श्रद्धा से वह चन्द्र-सूर्य को प्रदीप्त कर रहा है। तारों को प्रदीप्त कर रहा है। बादलों को भेज रहा है। फूल-फल का निर्माण कर रहा है। हवा को नचा रहा है। अनाज उगा रहा है।

मनुष्य को इस ध्येय की ओर ले जाने का काम है धर्म का। यही संस्कृति का प्राप्तव्य है, यही गन्तव्य। इसी ध्येय की ओर समाज को ले जाने के लिए संत व्याकुल रहता है। संत मुक्त होते हैं; लेकिन बन्धन में बंधे हुए लोगों को मुक्त करने के लिए वे स्वयं बन्धन में बंधते हैं। कीचड़ में गड़े हुए लोगों को निकालने के लिए वे खुद कीचड़ में गड़ते हैं। सजे हुए दोमंजिला दीवानखाने में उनसे नहीं बैठा जाता। जंगल में भटकनेवाले बन्धुओं को ज्ञान की सीढ़ी के पास लाने के लिए संत कमर कसकर आशा के साथ प्रयत्न करते हैं। वे अपना बलिदान देते हैं।

संत लोगों को पुचकार-पुचकारकर ध्येय की ओर ले जाते हैं। जिस प्रकार घोड़े को पुचकारना पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी पुचकारना पड़ता है। संत कहते हैं—विषयोपभोग करो, सम्पत्ति जोड़ो—इसमें कोई हर्ज नहीं है, लेकिन थोड़ी मर्यादा का खयाल रखो। मनुष्य को यह बात सिखाने की आवश्यकता नहीं कि खाओ, पियो, सोओ, विषयों का भोग करो, सम्पत्ति प्राप्त करो, मार-काट मचाओ, हिंसा करो। यह तो उसके रक्त में ही है। यह तो उसकी जन्मजात वृत्ति है। धर्म यह बात नहीं कहता है। धर्म इस वृत्ति को मारता भी नहीं है। धर्म कहता है इस वृत्ति को मर्यादित बनाओ। यदि खाना ही है तो भाई खाओ, लेकिन जरा होशियारी से खाओ। तेल-मिर्च मत खाओ। बासी चीजें मत खाओ। मांस-मछली मत खाओ। जो मन में आ जाय वही मत खाओ। जब भूख लगे तभी खाओ। खाने का समय भी निश्चित कर लो। सोने के दो घंटे पहले ही खा लो। खाने के बाद बहुत व्यायाम

मत करो। जिसे हजम कर सकते हो वही खाओ। यदि मांस-मछली ही खाना है तो मन में आया उसी जानवर का मांस मत खाओ। जो हजम हो सके, वही खाओ। इसमें भी नियम का पालन करो। नियमों का विचार करो।

यदि तुम्हें सोना है तो सोओ, लेकिन जल्दी सोओ, और जल्दी उठो। बहुत ज्यादा मत सोओ। इससे आलस आयगा। शरीर भी कमजोर होगा। मुक्त हवा में सोओ। करवट से सोओ। पैर लम्बे करके सोओ। रात में ही सोओ। दिन में मत सोओ। विधिपूर्वक सोओ।

भाई, यदि तुम्हें विषयभोग करना है तो करो, लेकिन प्रतिदिन ही विषयभोग करना तो शोभा नहीं देता। पशु-पक्षी भी संयम रखते हैं, फिर तुम तो मनुष्य हो। अमावस्या वर्ज्य करो, अमुक वार वर्ज्य करो। किसी-न-किसी प्रकार का बन्धन पालो, व्रत रखो। कम-से-कम इसीलि संयम रखो कि तुम ज्यादा दिनों तक विषयभोग कर सको। जिस प्रका एक ही दिन खूब खा लेने से आदमी मर जाता है, लेकिन प्रतिदिन प्रमा से भोजन करने से बहुत वर्षों तक जिह्वा का सुख प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार प्रमाण से विषयभोग करने से तुम्हारी शक्ति बहुत वर्षों त चलती रहेगी। अतः अपने सुख के लिए ही बन्धन में बंधो।

यदि तुम्हें हिंसा ही करनी है तो करो। लेकिन इसमें भी कुछ निय का पालन करो। विषैली गैस मत छोड़ो। बमगोले मत गिराओ। गद युद्ध में कमर के नीचे प्रहार मत करो। रात्रि के समय लड़ाई बन्द कर दो एक आदमी पर बहुत से आदमी आक्रमण मत करो। स्त्रियों, बच्चों अं बूढ़ों को मत मारो। व्यर्थ ही किसी को अन्याय से मत मारो। जब क तुम्हें मारने आये तभी उसका प्रतिकार करने के लिए खड़े होओ। कि को धोखे से मत मारो।

सम्पत्ति प्राप्त करना है, करो। लेकिन प्राप्त करो उत्तम व्यवह से ही। किसी को धोखा मत दो, किसी को लूटो मत। चोरी और म पीट मत करो। गरीबों का शोषण मत करो। बहुत फायदा मत उठाअ बहुत ब्याज मत लो। दूसरे देशों को शराब पिलाकर पैसे मत कमाअ दूसरे देशों को तलवार की नोक के बल पर अफीम मत खिलाओ, दू

देशों के लोगों को बेकार बनाकर, उनके उद्योग-धन्धे मारकर और उन्हें गुलाम बनाकर पैसे मत लूटो। दूसरों के घर गिराकर अपने मकान पर मंजिलें मत बनाओ। दूसरों को लूटकर स्वयं सम्पन्न मत बनो। दूसरों को रुलाकर स्वयं मत हँसो।

धर्म यही बात कहता है। धर्म-स्थापना करनेवाले मनुष्य धीरे-धीरे प्रगति की ओर जाते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। अर्थ और काम के प्रारम्भ में धर्म है और अन्त में मोक्ष। मनुष्य का प्रयत्न मोक्ष के लिए है। मोक्ष का अर्थ है स्वतन्त्रता, आनन्द। मोक्ष का अर्थ है दुःख से, चिन्ता से छुटकारा। मोक्ष का अर्थ है परम सुख, केवल शान्ति। मनुष्य का सारा प्रयत्न मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही है। लेकिन यह मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? वासना और विकार के पुतले इस दुर्बल मानव को यह परम शान्ति किस प्रकार प्राप्त होगी?

क्या केवल भोग से शान्ति मिलेगी? यह मनुष्य भोग भोगते समय हँसता है और भोग लेने पर रोता है। भोग में सच्चा सुख नहीं है। अनिर्बन्ध, अमर्यादित भोग में सुख नहीं है। विधिहीन, व्रतहीन, संयमहीन भोग रुलाता है। वह हमको स्वयं भी रुलाता है और साथ ही समाज को भी। भोग भोगने का प्रयोग समाज ने करके देख लिया है। ययाति ने लगातार भोग का प्रयोग करके देखा। वह बार-बार तरुण बन जाता था। अपने पुत्र की तरुणता ले लेता और बार-बार भोग भोगता था। लेकिन अन्त में बेचारा घबरा गया। हजारों वर्षों तक यह प्रयोग करके उसने मानव-जाति को यह सिद्धांत दिया—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।"

यदि वर्षों तक काम का उपभोग किया जाय तो भी काम शान्त नहीं होता। अग्नि में आहुति डालने से वह बुझती तो नहीं किन्तु अधिकाधिक प्रज्वलित ही होती है।

यह प्रयोग असफल हो गया तो फिर क्या करें? इन्द्रियां तो भोग के लिए ललचाती रहती हैं।

ईश्वर ने हमें बनाया दास इंद्रियों का।

हम इन इन्द्रियों के गुलाम हैं। हम एकदम इन्हें किस प्रकार अपने

काबू में करें? यदि हम इन्हें बिलकुल भोग न दें तो ये अपनी जबान लपलपाने लगती हैं और मौका देखते ही उच्छृंखल बन जाती हैं। उन्हें भूखा रखना, उन्हें जबरदस्ती मनुष्यता सिखाना भी कठिन है। उन्हें बन्धनमुक्त, स्वतन्त्र बनाना भी विनाशकारक है। भारतीय संस्कृति कहती है कि भोग हो, लेकिन प्रमाण से हो, संभलकर हो, गिनकर हो।

अर्थ और काम के पीछे धर्म होना चाहिए। पहले धर्म का अधिष्ठान होना चाहिए। धर्म की नींव पर ही अर्थ-काम के मन्दिर की इमारत बनाइये। यदि अर्थ और काम के साथ धर्म होगा तो वे सुखदायी बनेंगे। वे बन्धनकारक न होकर मोक्षकारक होंगे। अर्थ और काम में भी अर्थ को प्रधानता प्राप्त है; क्योंकि यदि अर्थ न हुआ तो फिर काम कहां रहेगा? यदि खाने-पीने के लिए कुछ न हुआ तो हम मर जायेंगे। फिर काम-भोग कैसा? अर्थ का मतलब है काम की साधना। अर्थ के बिना काम-वासना, भिन्न-भिन्न विषयों की इच्छा कैसे तृप्त होगी? द्रव्य के बिना सब व्यर्थ है। धन-धान्य के बिना काम तड़फड़ाकर मर जायगा।

अर्थ और काम इन दो प्रवृत्तियों में भी अर्थ का पहला स्थान है, यह बात भारतीय संस्कृति ने पहचानी और इन दोनों प्रवृत्तियों को धर्म के बन्धन में बांधा। अर्थ और काम को धर्म के नियन्त्रण में रखिए। लेकिन धर्म के नियन्त्रण में रखने का क्या मतलब है? धर्म का क्या अर्थ है? क्या धर्म का मतलब चोटी है? धर्म का मतलब क्या चन्दन है? धर्म का मतलब क्या माला है? धर्म का मतलब क्या जनेऊ है? धर्म का मतलब क्या 'हरि-हरि' बोलना है? जप करना है? धर्म का मतलब क्या यह है कि बिना कुछ किये भोग भोगना? धर्म का मतलब क्या घंटा या शंख बजाना है? धर्म का मतलब क्या बाजे बन्द कर देना है? धर्म का मतलब क्या बाजे बजाना है? धर्म का क्या मतलब है?

भारतीय संस्कृति ने धर्म की अत्यन्त शास्त्रीय व्याख्या की है। 'धारणात् धर्मः' यह है वह व्याख्या। जो सारे समाज को धारण करता है वह धर्म है। धारण किसका? हमारा, हमारी जाति का, हमारे देश का, मानव-जाति का या चराचर सृष्टि का। सृष्टि में मनुष्य एक बड़ा प्राणी है। बड़प्पन मुफ्त में नहीं मिलता। बड़प्पन का मतलब है उत्तर-

दायित्व । मनुष्य को सबकी व्यवस्था करनी चाहिये । मानव के नीति-शास्त्र में सारी सृष्टि का विचार किया जाना चाहिए। इस बात का विचार तो होना ही चाहिये कि मनुष्य को मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए; लेकिन मानव-नीतिशास्त्र इस बात का भी विवेचन करेगा कि पशु-पक्षियों के साथ, तृण, वृक्ष-वनस्पति के साथ, नदी-नाले के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए।

मनु ने अपनी स्मृति को 'मानव-धर्मशास्त्र' कहा है। उसने 'आर्यों का', 'भारतीय लोगों का' इस प्रकार का नाम नहीं रखा है। मनु मानवों का धर्म बताता है। मनु अपनी दृष्टि से मानवता का आचार बताता है। आज मनु के विचार अच्छे नहीं लगते। आज उसकी दृष्टि सदोष प्रतीत होती है; लेकिन यह बात महान् है कि मनु मानव-जाति का विचार करता है। 'मानव-धर्मशास्त्र' यह शब्द ही हृदय और बुद्धि को आनन्द देता है।

तो फिर जो धर्म को धारण करता है वही मानव है। क्षणभर के लिए मानवेतर सृष्टि का विचार न करें तो कम-से-कम मानव-जाति के कल्याण पर तो विचार करें। मनु कहते हैं कि सारे मानवों का विचार करो। अर्थशास्त्र का आधार सारी मानवजाति का कल्याण ही होना चाहिए। जो अर्थशास्त्र किसी जाति विशेष, धर्म विशेष या राष्ट्र विशेष का ही विचार करता है, वह अर्थशास्त्र धर्म पर आधारित नहीं है। धर्म पर आधारित अर्थशास्त्र सबका विचार करेगा।

अनार्य जातियों को दास बनाकर केवल आर्यों को उन्नत बनानेवाला अर्थशास्त्र सदोष है। मुसलमानों को छोड़कर केवल हिन्दुओं को धनवान बनानेवाला अर्थशास्त्र सनातन संस्कृति का नहीं है। यदि ब्राह्मणेतरों को छोड़कर ब्राह्मण धनवान होना चाहें, हरिजनों को छोड़कर ब्राह्मणेतर धनिक बनना चाहे, महाराष्ट्र को मारकर गुजरात सम्पन्न होना चाहे, बंगाली को डुबाकर मारवाड़ी कुबेर होना चाहे तो यह नहीं कहा जा सकता कि वहां धर्ममय अर्थशास्त्र है। किसानों को मजदूर बनाकर, रात-दिन गुलामों की भांति उन्हें कष्ट देकर, उनके द्वारा पैदा किए हुए मुफ्त के अनाज से अपने कोठे भरकर धनवान् बननेवाला जमींदार पापी है। मजदूरों

से दस-दस घंटे तक वैलों की तरह काम करवाकर उन्हें भरपेट भोजन न देनेवाला, उनके मकान की ठीक व्यवस्था न करनेवाला, उनके वाल-बच्चों की चिन्ता न रखनेवाला, उन्हें सवेतन छुट्टी न देनेवाला, उनके सुख की चिन्ता न रखनेवाला और इस प्रकार वनी वननेवाला कारखानेदार पापी है। इन सवके अर्थशास्त्र अन्याय के ऊपर, अवर्म के ऊपर आवारित हैं। किसान पर, चाहे उसके यहां अनाज हुआ हो या न हुआ हो, मनमानी व्याज की दर लगानेवाला, उसके अनाज को जव्त करवाकर उसके घरवार को नष्ट करवा देनेवाला, उसके प्रिय गाय-वैल-ढोर को वांवकर ले जानेवाला, वाल-वच्चों को अन्न का मोहताज वना देनेवाला, स्वयं मौज उड़ानेवाला, हृदयहीन, कृपण, साहूकार अधर्म का अर्थशास्त्र चला रहा है।

आज सारे संसार में यही अवर्म का अर्थशास्त्र चल रहा है। इसीलिए सर्वत्र विपमता है। इसीलिए दुःख, दैन्य, दारिद्रय की कमी नहीं है। मुट्ठीभर पूंजीपति सारे संसार पर अपनी सत्ता चला रहे हैं। भारतीय संस्कृति इस वात को सहन नहीं करेगी। भारतीय संस्कृति अद्वैत के आवार पर वनी हुई है, समाज-निर्माण पर वनी हुई है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

यह है भारतीय संस्कृति का ध्येय। भारतीय संस्कृति नहीं कहती कि एक व्यक्ति को सुखी वनाने के लिए, एक को मौज उड़ाने देने के लिए लाखों को जैसे-तैसे कीड़े-मकोड़ों की तरह जीना, और वेहद श्रम करना चाहिए।

करूंगा मैं सब जगत् अशोक।
आनन्दपूर्ण होंगे त्रिलोक॥

यह है भारतीय सन्तान की घोषणा। संतों ने सवको सुखी और समृद्ध वनाने का झण्डा उठाया है। मजदूरों के साथ पशु की तरह, गुलाम की तरह व्यवहार करनेवाले ढोंगी कारखानेदार, किसानों का शोषण

करनेवाले ढोंगी साहूकार, आसामियों को सतानेवाले नम्बरदार और जमींदार और इस शोषण को आशीर्वाद देनेवाले ढोंगी सन्त-महन्त भारतीय संस्कृति के उपासक नहीं हैं। उन्हें सनातन संस्कृति का पता नहीं है, वे उसे नहीं समझते।

"दरिद्रान् भर कौन्तेय"

महाभारत में अर्थशास्त्र का यह सिद्धांत बताया गया है। दरिद्रों का भरण-पोषण करना चाहिए। जो गड्ढे हैं, उन्हें भरना चाहिए। लेकिन एक ओर के गड्ढे भरने के लिए दूसरी ओर की टेकरियां मिटानी पड़ेंगी। आज समाज में एक ओर पैसे का ढेर है और दूसरी ओर कुछ नहीं। इस पैसे के ढेर को हर ओर बांट देना चाहिए।

समाज में सम्पत्ति के साधनों पर समाज का स्वामित्व होना चाहिए। इनके ऊपर व्यक्ति का स्वामित्व होना हानिकारक है। खासकर बड़े-बड़े उत्पादन के साधन तो व्यक्तिगत होने ही नहीं चाहिएं। इसके बिना समाज के ये गड्ढे दूर नहीं किये जा सकेंगे। समाज में जितनी सम्पत्ति उत्पन्न हो उसका ठीक-ठीक विभाजन होना चाहिए।

आज तक हरेक व्यक्ति अपने-अपने विशेष गुणधर्म का विशेष मूल्य रखता था; लेकिन किसी भी कर्म की, किसी भी कौशल की कीमत हम कैसे ठहरा सकते हैं? आठ घंटे तक एड़ी-चोटी का पसीना एक करने-वाले मजदूर के काम की क्या दो आने ही कीमत है? और डॉक्टर की ५ मिनट की भेंट (विजिट) की कीमत क्या ५ रुपये हैं? कारकुन के काम की क्या १५) मासिक और मामलेदार के श्रम की ४००) मासिक? प्राथमिक शाला के शिक्षक के अध्यापन की कीमत क्या २०) और प्रोफेसर के केवल २–३ घंटे पढ़ाने की कीमत १०००–५०० रुपये? सर्दी-गर्मी में, रात में, दिन में बत्ती दिखानेवाले रेलवे मजदूर की कीमत क्या १०) ही है? और गाड़ी में घूमनेवाले इंजीनियर के श्रम की कीमत ५००) है? रास्ते की सफाई करनेवाले को ५) और किसी गायक को घंटेभर गाने के ५००)?

ये कीमत कौन निश्चित करता है? इन कीमतों को कैसे निश्चित करना चाहिए? कोई मिल-मालिक कहता है कि 'मैंने पहले अपनी

पूंजी लगाई, इधर-उधर घूमा, शेयर बेचे, पूंजी बढ़ाई, सारी योजना बनाई, संगठन किया तब कहीं जाकर यह मिल खड़ी हुई। मेरे इस काम की कीमत नहीं आंकी जा सकती। मजदूरों को थोड़ी-सी मजदूरी देकर जो कुछ बचे वह सारा लाभ मेरी संगठन-बुद्धि, मेरी कल्पना-शक्ति, मेरी योजना-शक्ति, मेरे व्यवस्था-चातुर्य की कीमत है। उसे मैं लूंगा। इसमें कोई अन्याय नहीं, अधर्म नहीं। अपने विशेष गुणों का प्रतिफल मैं क्यों न लूं?'

लेकिन लोग यह बात नहीं समझते कि वे गुण भी विशेष वातावरण तथा परिस्थिति के कारण उनको मिले हैं। मनुष्य के गुण तो समाज-निर्मित हैं। उन गुणों का श्रेय उन लोगों को नहीं, उस विशेष परिस्थिति को है। अतः मनुष्य में जो भिन्न-भिन्न गुण दिखाई देते हैं, उसके लिए उसे उन गुणों पर घमण्ड नहीं करना चाहिए। उसे तो उन गुणों के लिए समाज का ऋणी होना चाहिए और समाज को उन गुणों का लाभ देना चाहिए। यदि कोई भीम-जैसा बलशाली आकर कहे कि मैं बलवान् हूं। मैं जैसा चाहूंगा, वैसा अपनी शक्ति का उपयोग करूंगा। मैं दूसरों को कुचल दूंगा, डुबाऊंगा, सताऊंगा, शोषण करूंगा तो क्या यह बात ठीक होगी? मेरे पास जो शक्ति है वह दूसरों की रक्षा के लिए है, दूसरों के कल्याण के लिए है; क्योंकि मेरी शक्ति मेरी अपनी नहीं है। वह भी मुझे समाज ने ही दी है। समाज ने मुझे खाने-पीने के लिए दिया है। प्रकृति ने मुझे हवा दी, प्रकाश दिया, तभी मैं जिन्दा रहा, बलवान् बना। मुझे अपनी शक्ति अपने पोषण करनेवाले समाज की सेवा के काम में खर्च करनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति कहती है कि अपने वर्ण के अनुसार सेवा के काम उठा लीजिये। लेकिन उनमें ऊंच-नीच का भेद खड़ा मत कीजिये। यह मत लिखिये कि बौद्धिक कर्म की विशेष कीमत व शारीरिक श्रम की कम कीमत है। किस कर्म की किस क्षण कितनी कीमत हो जायगी, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। हरेक व्यक्ति को अपने विशेष गुणधर्म के अनुसार, अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी पात्रता के अनुसार कर्म करना चाहिए। जो देख-रेख करना जानते हैं उन्हें देख-रेख करनी चाहिए। जो यन्त्र ठीक कर सकते हैं, उन्हें यन्त्र ठीक करना चाहिए। जो यन्त्र

चलाना जानते हैं उन्हें यन्त्र चलाना चाहिए। कर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी उनका मुआवजा कम-अधिक नहीं होना चाहिए।

योग्यतानुसार काम और आवश्यकतानुसार मुआवजा—यह धार्मिक अर्थशास्त्र का सिद्धांत है। दो मजदूर हैं, एक मजदूर अधिक कुशल है, दूसरा इतना कुशल नहीं है। जो कुशल है उसके केवल दो बच्चे हैं और मान लीजिए कि जो कम कुशल है उसके चार बच्चे हैं। तो होशियार मजदूर की अपेक्षा उस कम कुशल मजदूर को अधिक मजदूरी देनी पड़ेगी, क्योंकि उसकी आवश्यकता अधिक है। समाज को या तो उन बच्चों की व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से करनी चाहिए या उस मजदूर को अधिक मजदूरी देनी चाहिए।

यदि किसी कारकुन के चार बच्चे हों और मामलेदार को बच्चे हों ही नहीं तो कारकुन को ५०) वेतन दीजिये और मामलेदार को १५) दीजिये। यह बात तो है नहीं कि मामलेदार होने के कारण वह ज्यादा खाता है। वेतन तो आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है। यदि मामलेदार को दौरा करना पड़ता है तो सरकार उसकी अलग से व्यवस्था करेगी; लेकिन केवल खाने-पीने के लिए बहुत वेतन नहीं मिलना चाहिए। मामलेदार के पास बहुत-से लोगों का आना-जाना रहेगा, अतः यदि उसके लिए स्थायी रूप से एक बंगला बनवा दिया तो काम हो जायगा।

यदि मामलेदार अधिक योग्य हो, अधिक पढ़ा-लिखा हो, कानून का अच्छा अध्ययन कर चुका हो तो उसके हाथ में अधिक सत्ता दे दीजिये। उन्हें अपने योग्यतानुसार काम करने दीजिये। लेकिन वेतन योग्यतानुसार देना उचित नहीं है। यदि योग्यतानुसार काम और आवश्यकतानुसार वेतन का सिद्धांत व्यवहार में लाया गया तो यह कहा जायगा कि वर्ण-धर्म का पालन हो रहा है। वर्ण-धर्म का अर्थ है योग्यतानुसार समाज का काम अपने हाथ में लेना और पेट के लिए जितना आवश्यक हो उतना लेना।

भारतीय संस्कृति में जो यज्ञ-तत्व बताया गया है उसमें महान् अर्थ है। वर्ण-धर्म में यह तत्व है कि योग्यतानुसार काम कीजिये तो यज्ञ-धर्म कहता है कि सबकी चिन्ता रखो।

यज्ञ शब्द का अर्थ बड़ा गहरा है। भगवान् के लिए यज्ञ करना चाहिए। भगवान् हमें वर्षा देता है, प्रकाश देता है, हवा देता है, वह हमारे लिए दुःख सहता है तो हमें उसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिए इसलिए हमें ईश्वर को हविर्भाग देना चाहिए। हमारे पास जो घी की सम्पत्ति है उसका भाग भगवान् को अर्पण करना चाहिए। भगवान् हमारे लिए मुसीबत उठाता है, आइये हम उसके लिए मुसीबत सहें। यज्ञ का अर्थ है एक-दूसरे की क्षतिपूर्ति करना। तुम मेरे लिए मुसीबत उठाओ, मैं तुम्हारे लिए मुसीबत उठाता हूं। मैं तुम्हें जीवन देता हूं, तुम मुझे जीवन दो।

"जीवो जीवस्य जीवनम्"

इस वचन का एक प्रकार से विशेष अर्थ है। प्रत्येक जीव दूसरे जीवन का जीवन है। प्रत्येक प्राणी दूसरे के लिए कष्ट सहन कर रहा है। हम सब एक-दूसरे के लिए कष्ट सहन कर, त्याग कर, एक-दूसरे को जीवन दे रहे हैं।

कारखानेदार मजदूरों के लिए कष्ट सहन करे और मजदूर कारखानेदारों के लिए। किसान जमींदार के लिए कष्ट उठाए, जमींदार किसानों के लिए। किसान साहूकारों के लिए कष्ट उठाए, साहूकार किसानों के लिए। प्रजा सरकार के लिए कष्ट उठाए, सरकार प्रजा के लिए। आइये, एक-दूसरे की क्षतिपूर्ति करें।

हम खेती करते हैं तो पृथ्वी की कुछ क्षति होती है। वह अपनी क्षति करके हमको अनाज देती है। उसका कस, उसका सत्व कम होता है। अतः हमें उसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। हम उसमें हल चलाते हैं। उसके अन्दर सूर्य की उष्णता प्रवेश करती है। हम उसमें खाद डालते हैं। इस प्रकार हम उसमें फिर कस पैदा करते हैं। हमने पृथ्वी के लिए यह जो कष्ट उठाए, गर्मी में हल चलाया, पैसे खर्च करके उसमें खाद डाला, इस प्रकार हमने पृथ्वी के लिए जो क्षति सहन की उसे वह अच्छी फसल देकर पूरी कर देती है। वह हमारे लिए कष्ट उठाती है। हम उसके लिए कष्ट उठाते हैं।

गीता के तीसरे अध्याय में महान् यज्ञ-तत्व बताया गया है। ईश्वर ने

सृष्टि के निर्माण के साथ ही यज्ञ-तत्व का निर्माण किया है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।

ईश्वर ने कहा, "लोगो, तुम्हारे साथ मैंने यज्ञ का भी निर्माण किया है। इस यज्ञ से सब-कुछ प्राप्त कर लो। इस यज्ञ को ही कामधेनु समझो।" ईश्वर ने यज्ञ को, जो सारे सुखों का साधन है, अपने आधीन रखा है। अब परमेश्वर के नाम से रोने का कोई अर्थ नहीं। अब उसका नाम लेकर चिल्लाओ मत। यदि हमें दुःख है, समाज में विषमता है, दुःख-दारिद्रय है, असन्तोष है, अशान्ति है तो उसका यही कारण है कि हमने ठीक तरह यज्ञ-धर्म की उपासना नहीं की है। यदि हम उस दुःख को दूर करना चाहते हैं तो हमें अच्छी तरह यज्ञ-धर्म की उपासना करनी चाहिए। यज्ञ का मतलब है साधन। यज्ञ का मतलब है धर्म। यज्ञ ही मानो ईश्वर है। हमने ईश्वर का वर्णन भी 'यज्ञस्वरूपी नारायण' कह-कर किया है।

आज मानव-समाज में इस यज्ञ-तत्व का पालन नहीं हो रहा है। यही कारण है कि मानव-समाज दुःखी है। कुछ वर्ग दूसरों के लिए निरन्तर क्षति उठा रहे हैं; लेकिन उनकी क्षतिपूर्ति के लिए कोई कष्ट नहीं उठाता। मजदूर पूंजीपतियों के लिए कष्ट सहन करके सत्वहीन हो गए हैं। लेकिन पूंजीपति मजदूरों के लिए कष्ट सहन करके सत्वहीन नहीं होते। वे तो निरन्तर धनी बन रहे हैं। उनकी मोटरें बढ़ रही हैं, उनका आराम बढ़ रहा है। मजदूरों को सुखी बनाने के लिए उनका यह आराम कम नहीं होता। लेकिन सृष्टि कहती है—बादलों के लिए नदियां सूख गयीं, कुएं-तालाब सूख गए, पुष्करिणी सूख गयीं। परन्तु उन्हें फिर से भरने के लिए बादल रिक्त हो जायेंगे। बादल से मिली हुई सम्पत्ति नदी-नालों ने भाप बनाकर दे दी है। उन नदी-नालों की वह तपस्या, वह प्राणमय सेवा बादल नहीं भूलता है। वह कृतज्ञता से झुककर नीचे आता है और सर्वस्व अर्पण करके रिक्त हो जाता है। वे भरी हुई नदियां फिर से प्रेम से सूखकर बादल को भर देती हैं। ऐसा है यह प्रेम का अन्योन्याश्रित धर्म।

मजदूरों को कहना चाहिये, "सेठजी, हम आपके लिए यन्त्र के सामने कष्ट उठाते हैं। लो, हम आपके हाथ में सारी सम्पत्ति देते हैं।" सेठजी को कहना चाहिए, "भाइयो, यह सारी सम्पत्ति मैं तुम्हें वापस देता हूं।" इसी तरह समाज में आनन्द रहेगा।

यदि इस प्रकार समाज में व्यवहार किया जायगा तो समानता रहेगी। फिर एक ओर गड्ढे और दूसरी ओर ऊंची टेकरियां दिखाई नहीं देंगी। एक ओर बड़े-बड़े महल और दूसरी ओर क्षुद्र झोपड़ियां दिखाई नहीं देंगी। एक ओर आनन्दपूर्ण संगीत तो दूसरी ओर से रोने-चिल्लाने का हृदयवेधक स्वर सुनाई नहीं देगा।

पानी का धर्म है सतह में रहना। पानी में से एक घड़ा भर लीजिए उस जगह का गढ़ा भरने के लिए आस-पास के जल-बिन्दु दौड़ते हुए आते हैं और वह गढ़ा क्षणभर में ही भर जाता है। आस-पास के बिन्दुओं को वह गढ़ा देखना अच्छा नहीं लगता। लेकिन इसके विरुद्ध रास्ते में पड़े हुए मिट्टी के ढेर को देखिये। यदि आप एक ओर से एक ढेला उठायें तो आस-पास के ढेले उस गड्ढे को भरने के लिए नहीं दौड़ेंगे। हमें वह गड्ढा दिखाई देता है। पास के दो-चार ढेले ही दौड़ते हैं; लेकिन बहुत-से केवल तमाशा देखते रहते हैं। वे तो पत्थर ठहरे, उनको दुःख किस बात का!

समाज में भी यह पत्थरों-जैसी ही स्थिति है। हम लोग पानी की बूंद की तरह सहृदय नहीं हैं, इसीलिए वह सूखता जा रहा है। हम एक दूसरे के गड्ढे भरकर समता का निर्माण नहीं करते। यहां यज्ञ-धर्म का लोप हो गया है। अग्निहोत्र का यज्ञ और बकरों का यज्ञ विक्षिप्त लोग करते हैं; लेकिन 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ', एक-दूसरे की फिक्र रखकर परस्पर सद्भावनापूर्वक आनन्द प्राप्त नहीं करते; जबकि सच्चा कल्याण, सच्चा श्रेय यही है। इसे प्राप्त कीजिये, भगवद्गीता में कहे हुए इस यज्ञ-कर्म को पुनर्जीवित करो। यह यज्ञ-कर्म करो। कष्ट सहन करनेवाले मजदूरों की, परिश्रम करनेवाले किसानों की क्षति भली प्रकार पूरी करो। जो इस महान् यज्ञ-धर्म की दीक्षा यज्ञहीन लोगों को देते हैं वे महान् हैं। पर जो धर्म इन लाखों लोगों की दुर्दशा

आनन्द के साथ देखता है क्या वह धर्म है ?

उपनिषद् में कहा गया है कि—

"येन ज्ञातं तेन न ज्ञातम्, येन न ज्ञातं तेन ज्ञातम् ।"

जो यह स्वयं कहता है कि 'मैं सब-कुछ समझता हूं', वह कुछ नहीं समझता और जो यह कहता है कि 'मुझे कुछ समझ में नहीं आता', उसे सब समझ में आता है। इसी प्रकार जो लोग 'धर्म-धर्म' चिल्लाते हैं और लाखों लोगों को मरते देखकर भी आनन्द से रहते हैं वे धर्म नहीं जानते। और जो लोग यह कहते हैं कि "हम धर्म-कर्म कुछ नहीं समझते; लेकिन हमें तो इसी बात की धुन लग गई है कि किस प्रकार सारा समाज सुखी, आनन्दी और ज्ञानी हो। हम इसी के लिए जियेंगे और मरेंगे।" और रात-दिन तड़पकर-मरकर काम करते रहते हैं, अपने रक्त की एक-एक बूंद सुखा देते हैं। उनके पास ही धर्म की पवित्र मूर्ति है।

जो दीन-दुःखी जन से प्रतिक्षण, अनुभव करते हैं अपनापनः।
हैं वे ही साधु और सज्जन, समझो उनमें ही है भगवन् ॥

धर्म उसके पास है जो दुःखी और पीड़ित लोगों का पक्ष लेता है, उन्हें गले लगाता है।

जितनी दया पुत्र-पुत्री पर। उतनी करो दास-दासी पर।

इस प्रकार की भेदातीत वृत्ति से सबके दुःखों को दूर करने के लिए वह प्राणों का मोह छोड़कर कष्ट सहन करता है। उनका दुःख उसे अपना ही दुःख लगेगा।

आज सारी सृष्टि पास-पास आ रही है। रेल, जहाज, वायुयान, बेतार के तार, रेडियो, इन सब साधनों से मानव पास-पास आ रहे हैं। दूर-दूर रहनेवाले भाई पास आ रहे हैं। उन्हें पास आने दीजिये। क्या हम उनसे दूर रहें? हमारे हाथ सबके लिए हैं। हमारे अश्रु सबके लिए हैं। हमारा हृदय सारे पददलितों के लिए तड़प रहा है। जो इस प्रकार की बात कहे, जो इस प्रकार का आचरण करे और जिसका ऐसा महान् और प्रशंसनीय ध्येय है, उसी में सन्तपन है, ऋषित्व है, उसी के पास सच्चा धर्म है। यदि ईश्वर कहीं है तो उसकी सम्भावना उसी के पास है।

तीर्थों में है पानी पत्थर। किन्तु ईश सज्जन के अन्दर।

इस प्रकार के महान् सज्जन के हृदय में ही ईश्वर रहता है। हमारे लिए कष्ट सहनेवाले ईश्वर का मुख अग्नि ही है। इस अग्नि में आहुति देने से ही ईश्वर तृप्त होता है।

अग्निर्वै देवानां मुखम्।

यह अग्नि कहां है? परिश्रम करनेवाले लाखों लोगों की जठराग्नि प्रज्वलित हो गई है। उस अग्नि में आहुति डालिए।

धर्ममय अर्थशास्त्र इसी प्रकार का है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में से 'अर्थ' इसी प्रकार के महान् आधार पर प्रस्थापित करना चाहिए। यह अर्थशास्त्र इसी प्रकार का हो कि सारे समाज में अच्छी शक्ति आये और उसका ठीक तरह पोषण हो। फिर यह अर्थ-शास्त्र सारी मानव-जाति का हित देखनेवाला बनेगा। अभी तो इस अर्थशास्त्र का आरम्भ भी नहीं हुआ है। इसीलिए संसार में अभी न कहीं मोक्ष है, न स्वतन्त्रता। मोक्ष का जन्म तो अभी होना है। पहले हम सब गुलाम थे। हिन्दुस्तान ही इंग्लैंड का गुलाम नहीं था, इंग्लैंड भी हिन्दुस्तान का गुलाम था। इंग्लैंड जैसे देश तभी तक जीवित रहेंगे जबतक हिन्दुस्तान जैसे देश उसका माल खरीदेंगे। जिस प्रकार चार नौकर किसी धनी मालिक को लकड़ी का सहारा देकर चलाते हैं, वही हालत इंग्लैंड जैसे देशों की है। वे नौकर उस धनी के गुलाम हैं, और वह धनी उन नौकरों का। यदि वे नौकर सहारा न दें तो वह लूला-लंगड़ा धनी मालिक धूल में मिल जायगा। दूसरों को गुलाम बनानेवाला स्वयं भी अप्रत्यक्ष रूप से गुलाम हो जाता है। जैसा बोते हैं, वैसा ही काटना पड़ता है। एक है धनी गुलाम, दूसरा है गरीब गुलाम। एक है बड़े पेटवाला गुलाम और दूसरा है पेट पीठ से लग जानेवाला गुलाम। एक गाल फूला हुआ गुलाम है और दूसरा गालों में गड्ढे पड़ा हुआ निस्तेज गुलाम; लेकिन आखिर हैं दोनों ही गुलाम।

जबतक संसार में धर्ममय अर्थशास्त्र की प्रस्थापना नहीं होती, सर्वोदय करनेवाले, मानव को शोभा देनेवाले अर्थशास्त्र की स्थापना नहीं होती

तबतक संसार में सच्ची स्वतन्त्रता नहीं आ सकती। आज जो स्वतन्त्रता है वह तो उसका ढोंग है, उसकी परछाईं है, स्वतन्त्रता का भूत है। सच्चे अर्थ में मंगलदायक एवं आनन्ददायक, बिना अपवाद के सबका सर्वाङ्गीण विकास करनेवाली स्वतन्त्रता अभी बहुत दूर है।

"धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !"

जिस प्रकार धर्ममय अर्थशास्त्र है उसी प्रकार धर्ममय कामशास्त्र भी है। भारतीय संस्कृति काम को मिटाना नहीं चाहती। श्रीमद्-भगवद्गीता कहती है—

"जिस काम का धर्म से विरोध नहीं है, वह मर्यादित काम मेरा ही स्वरूप है।"

भारतीय संस्कृति ने काम को भी धर्म का स्थान दिया है और धर्म का अर्थ है समाज का धारण, मानव-जाति का धारण। हमारे विषय-भोग से समाज का स्वास्थ्य बिगड़ना नहीं चाहिए, समाज में अशान्ति नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। समाज में दुःख, दैन्य, दासता, दरिद्रता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। हमारा विषयोपभोग भी समाज के लिए सुखकर होना चाहिए।

काम शब्द में यद्यपि पंचेन्द्रियों का भोग आ जाता है, फिर भी मुख्यतः स्त्री-पुरुष संबंध ही हमारी दृष्टि में रहता है, और स्त्री-पुरुष संबंध भी महत्त्वपूर्ण है। इस संबंध पर समाज का स्वास्थ्य ही नहीं, उसका अस्तित्व भी अवलम्बित है।

"दीन-हीन रहता अति विषयी"

जो हमेशा विषयभोग में ही लगा रहता है, वह दीन-दुर्बल होगा। उसमें उत्साह नहीं रहेगा। फिर वह समाज की सेवा क्या करेगा? समाज के कर्म ठीक तरह पूरे करने के लिए हमें मर्यादित विषय-सुख ही भोगना चाहिए।

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम का होना चाहिए। स्त्री कोई सम्पत्ति नहीं है। उसके हृदय है, बुद्धि है, भावना है, स्वाभिमान है, आत्मा है, सुख-दुःख है—यह बात पुरुषों को मालूम होनी चाहिए।

स्त्री संसार की महान् शक्ति है। इस शक्ति के साथ व्यवहार करनेवाले पुरुष को शिव बनना चाहिए। शिव और शक्ति के प्रेम पर ही समाज का प्राण अवलम्बित है। शिव और शक्ति के प्रेममय किन्तु संयममय सम्बन्ध से ही कर्मवीर कुमारों का जन्म होता है। शूरता-वीरता के सागर, विद्या-आगार सुपुत्रों का जन्म होता है।

मनुष्य को हमेशा यह देखकर काम प्रारम्भ करना चाहिए कि उसका परिणाम क्या होगा। स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में बालकों का जन्म होगा। एक बच्चे को जन्म देना मानो एक देवता की मूर्ति निर्माण करना है। क्या हम इस देवता की ठीक तरह सार-संभाल कर सकेंगे? क्या ठीक तरह हम उसका उदर-पोषण कर सकेंगे? क्या इसके वर्ण का ठीक तरह विकास कर सकेंगे? माता-पिता को इन बातों का विचार कर ही लेना चाहिए, नहीं तो घरों में बहुत-से चिड़चिड़े और रोगी बच्चे दिखाई देंगे। उन्हें न शिक्षा मिलेगी, न संरक्षण। इससे जीवन सुखमय कैसे होगा? और वह समाज भी तेजस्वी कैसे होगा? उस समाज का धारण कैसे होगा?

यदि वास्तव में देखा जाय तो बात यह है कि जबतक अर्थशास्त्र में सुधार नहीं होगा तबतक कामशास्त्र में सुधार नहीं होगा। जबतक समाज का ठीक तरह धारण और पोषण करनेवाला, समाज का विकास करनेवाला अर्थशास्त्र नहीं बनता तबतक कामशास्त्र कैसे तेजस्वी हो सकता है? क्या हम मजदूरों को ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ाते रहें? ऊंचे वर्ग के लोग जैसी चाहें मौज करें और मजदूरों के बच्चे भूखे मरें। धनवान लोग दो तरह से पाप कर रहे हैं। धनी लोग अब सन्ततिनिरोध करके बड़े-बड़े महलों में भोगविलास करते हैं। वे समाज को बच्चे भी नहीं देते, वे समाज के इस महान् काम को टालना चाहते हैं। मजदूर ही समाज में सम्पत्ति का निर्माण करें और बच्चे भी वे ही पदा करके समाज का अस्तित्व टिकाये रहें। लेकिन ये धनवान लोग मजदूरों के बच्चों को पेटभर भोजन भी नहीं देना चाहते। धनवान स्वयं बच्चे पैदा नहीं करते और जो बच्चे पैदा करते हैं वे सम्पत्ति पैदा करके भी उससे वंचित रहते हैं। गरीब ही कष्ट उठाकर सम्पत्ति पैदा करें और गरीबों की स्त्रियां ही कष्ट उठाकर बच्चे

पैदा करें। यदि मोमबत्ती दोनों ओर से जलने लगे तो बेचारी जल्दी ही समाप्त हो जायगी।

मजदूरों के पास न तो पेटभर भोजन है, न सन्ततिनिरोध के साधन ही। पुराने विचार के लोग सन्ततिनिरोध के विरोध में चिल्लाते हैं; लेकिन मजदूरों के बच्चों को पेटभर भोजन मिले, अपने वर्ण के अनुसार उन्हें शिक्षा मिले, इस प्रकार के धर्ममय अर्थशास्त्र का निर्माण करने के लिये वे नहीं चिल्लाते। जबतक समाज में यह विषमता है, तबतक गरीब के लिए भी सिवाय सन्ततिनिरोध के दूसरा कौन-सा मार्ग है? क्या उसे ब्रह्मचर्य का उपदेशामृत पिलाना है? वह जले पर नमक छिड़कना होगा। लेकिन यह सन्ततिनिरोध का ज्ञान मजदूरों को देगा कौन? ज्ञान के साधन भी धनवान लोगों के लिए ही हैं। वे उपाय भी धनी लोग ही कर सकते हैं। जिसके पास दवाई के लिए पैसा नहीं है वह डॉक्टर को कहां से बुलायगा? जिसे साधारण आरोग्य का ज्ञान नहीं है वह इस उलझन से भरे हुए शास्त्र का ठीक तरह आचरण किस प्रकार करेगा? मजदूरों की गृहस्थी में न खाने को है, न पहनने को और न सीखने को। वहां हर तरफ अंधेरा है। बच्चे पैदा होंगे और समाज दिन-प्रतिदिन दीन-दरिद्री और दुःखी होगा।

धर्ममय अर्थशास्त्र की स्थापना होने पर वह इन सब बातों पर विचार करेगा। पृथ्वी पर कितने लोग जीवित रह सकेंगे, कितनों का पोषण हो सकेगा? पड़त जमीन में खेती करना शुरू करें। नए सुधारों के अनुसार खेती करें। बिजली की गर्मी देकर वर्ष में चार-चार, पांच-पांच फसलें तयार करें। रेगिस्तान को भी हरा-भरा बनाएं। बनावटी वर्षा बरसाएं। धर्ममय अर्थशास्त्र इस बात की व्यर्थ बकवास या हो-हल्ला नहीं मचायगा कि जनसंख्या बढ़ रही है। पृथ्वी पर कितनी जनसंख्या की आवश्यकता है यह देखकर ही निरोध प्रारम्भ करेगा। धर्ममय अर्थशास्त्र आदेश देगा कि इतने ही बच्चे पैदा करो। यन्त्र से जिस प्रकार आवश्यकतानुसार कपड़े तैयार किये जाते हैं उसी प्रकार धर्ममय अर्थशास्त्र भी जितने आवश्यक होंगे उतने ही बच्चे समाज को देगा।

जिस समय हिन्दुस्तान में काफी जमीन थी, तब जनसंख्या भी कम थी। उस समय 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव' कहकर आशीर्वाद देना धर्मोचित समझा जाता था। लेकिन जब कि समाज में धर्ममय अर्थशास्त्र न हो और जनसंख्या काफी हो तब 'अष्टपुत्रा भव' कहकर आशीर्वाद देना शाप-समान ही है। हम जो कुछ बोलते हैं उसे समझते नहीं हैं। आज तो इस प्रकार का आशीर्वाद देनेवाले से पानेवाला कहेगा कि आठ पुत्र लेकर क्या करूं ? मुझे तो सन्ततिनिरोध सिखाओ। यदि तुम्हारा आशीर्वाद न मिला तो भी मेरे यहां बच्चे होंगे। परन्तु मैं उनका पोषण कैसे करूंगा ? और जब यह बात कहते हैं कि पोषण करने के लिए समाज को धारण करनेवाला अर्थशास्त्र स्थापित कीजिए तो उसका कोई उपाय नहीं बताते। भला इस प्रकार का भोग कैसे भोगा जा सकता है ? भोग न भोगना तो हो नहीं सकता। यह तो देवताओं के लिए भी संभव नहीं हुआ। ऋषि-मुनियों के लिए भी संभव नहीं हुआ। कोई भीलनी को देखकर मोहित हो गया तो कोई कोलिन को देखकर। तब फिर व्यर्थ ही ब्रह्मचर्य के मन्त्र का जाप मत करो। भोग तो भोगना है; लेकिन समाज में रोती सूरत और निर्बल बच्चे न दिखाई दें। अपने ही बच्चों को वस्त्र-हीन, अन्नहीन, ज्ञानहीन देखना क्या माता-पिता को पसन्द आयगा! अरे, हम तो ठंड के दिनों में गाय-बैलों पर भी झूल डालते हैं। तब आप सन्तति-निरोध का शास्त्र बताइये।

फिर स्त्रियों की मर्जी का तो कोई विचार ही नहीं करता। बेचारी को न भरपेट खाने को मिलता है, न विश्राम; और बार-बार बच्चे पैदा करने पड़ते हैं। इस प्रकार की आसन्नप्रसवा स्त्री को तकलीफ में देखकर किसकी आंखें नहीं भर आयंगी ? स्त्रियों की काम-वासना शान्त हो जाती है, लेकिन पुरुषों की नहीं होती। एक बड़ी-बूढ़ी मां ने मुझसे कहा, "अपनी लड़की और बहू के बच्चों के साथ-साथ अपने बच्चों का पालन-पोषण करने में मुझे शर्म आती है। लेकिन क्या करूं ? उनके लिए सब-कुछ सहना पड़ता है। उनके पैर टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर कहीं न जाने लगें, इसलिए मुझे उन्हें संभालना पड़ता है।"

मैं इन उद्गारों को कभी नहीं भूलूंगा। पुरुष स्त्रियों को आराम भी

नहीं देता है। स्त्रियों को भी काम-वासना होती है; लेकिन जबतक काम-वासना का निरोध नहीं किया जाता, और जबतक समाज में भी विषमता है तबतक सन्तति-निरोध करके भोग भोगना ही मर्यादित धर्म हो जाता है।

धर्ममय अर्थशास्त्र इस बात का ध्यान रखेगा कि समाज में रोगी बच्चे पैदा न हों। पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए हम प्रयत्न करते हैं, लेकिन मनुष्य की नस्ल ठीक करने के लिए शास्त्रीय दृष्टि से कौन प्रयत्न करता है? एक बार विवेकानन्दजी से गो-रक्षा की सभा का अध्यक्ष बनने के लिए कहा गया। उन्होंने कहा, "मैं तो मानव-रक्षा की सभा का अध्यक्ष बनूंगा।" इसका यह मतलब नहीं कि वह गो-रक्षा को हलका मानते थे; लेकिन आज तो मनुष्य ही पशु बन रहे हैं, इसकी चिन्ता कौन करेगा?

यदि मनुष्य समाज के कल्याण के लिए विवेक से अपने ऊपर बन्धन न लगाए तो उसके ऊपर कानून से बन्धन लगाना पड़ता है। जैसे घोड़े को लगाम लगानी पड़ती है, इसी प्रकार मनुष्य-रूपी पशु को भी कानून की कंटीली लगाम लगानी पड़ती है। प्रेम, विवेक, संयम आदि बातें मनुष्य को क्या आखिर कानून से ही सिखानी पड़ेंगी? मनुष्य को सबके लिए कष्ट सहना चाहिए। लेकिन वह कष्ट सहन नहीं करता तो फिर कानून और बन्धन की सरकार आती है और कानून से कष्ट सहन करवाती है। जो लोग रोगी हैं उनको सन्तति पैदा नहीं करनी चाहिए। लेकिन वे सुनते नहीं हैं तो फिर उन्हें कानून के द्वारा खत्म करना पड़ता है।

इसलिए हमारी स्मृति में विवाह करने से पूर्व वर-वधू की भिषग्-रत्नों के द्वारा परीक्षा कर लेने की बात कही गई है।

"स्त्रीत्वे पुंस्त्वे परीक्षितः"

इस बात की परीक्षा पहले ही कर ली जानी चाहिए कि वधू गर्भ-धारण करने के योग्य तो है न? उसमें कुछ दोष तो नहीं है? इसी प्रकार पहले ही यह भी देख लेना चाहिए कि वर नपुंसक तो नहीं है, रोगी तो नहीं है, उत्कृष्ट शक्ति-सम्पन्न तो है न? और फिर विवाह करना

चाहिए। तभी वह विवाह समाज के लिए कल्याणकारक तथा वर-वधू के लिए आनन्ददायक होगा।

विवाह करानेवाले आचार्य को पहले पूछ लेना चाहिए कि "क्या इन वर-वधू की ठीक तरह परीक्षा कर ली गई है? तभी यह धार्मिक विवाह होगा।" लेकिन इस प्रकार की बात पूछना आचार्य को अब्रह्मण्यम् प्रतीत होता है। दूसरी सब बातों की जांच-पड़ताल की जाती है। हुण्डी की, शिक्षण की और दूसरी सब पूछताछ होती है; लेकिन वैद्यकीय जांच-पड़ताल नहीं होती।

वर-वधू के गुण-धर्म का अर्थ है उनकी मानसिक परीक्षा; और वर-वधू के आरोग्य का अर्थ है उनकी शारीरिक परीक्षा। ये दोनों परीक्षाएं हो जानी चाहिएं। समान वर्णवालों के विवाह होने चाहिएं और हमने पहले यह देख ही लिया है कि वर्ण का अर्थ है रुचि, रंग। यह देख लेना चाहिए कि लड़की की रुचि क्या है, उसे कौन से काम आते हैं, उसकी बुद्धि व हृदय का कौन-सा रंग है। लेकिन लड़की के शरीर का रंग देखा जाता है। उसकी बुद्धि और हृदय के वर्ण, उसकी अन्तरात्मा के वर्ण की ओर किसी का ध्यान ही नहीं होता। उलटे यह समझा जाता है कि स्त्रियों के आत्मा ही नहीं होती याने एक प्रकार से उनका वर्ण ही नहीं होता। अत: आज के सारे विवाह अशास्त्रीय एवं अधार्मिक हैं। जिस विवाह में स्त्री-पुरुष के हृदय व बुद्धि का वर्ण देखा जायगा, उनके शरीर की नीरोगिता देखी जायगी वही सच्चा शास्त्रीय विवाह होगा।

आज पंचांग से जाना जाता है कि किसी का राक्षसगण है या देवगण। लेकिन किसी का राक्षसगण है या देवगण, क्या यह पंचांग से मालूम हो सकता है? जो अपने लिए जमा करता है, वह राक्षस है और जो दूसरों को देता है वह देव है। वर्ण की पहचान तो कर्म से होती है। उसे पंचांग में देखने की आवश्यकता नहीं होती।

इसी प्रकार कुछ छोटी जातियों का अपनी ही जाति में विवाह होता है। इससे सबका रक्त एक हो जाता है। सब एक-दूसरे के रिश्तेदार होते हैं। इस प्रकार के रक्त के अशास्त्रीय विवाह ये सनातनी ब्राह्मण प्रत्येक साल कराते रहते हैं। कितना बड़ा अधर्म! कितनी बड़ी

अशास्त्रीयता !

आचार्य विनोवा ने एक वार कहा था, "विवाह न तो समुद्र में होना चाहिए, न छोटे गढ़े में।" उन्होंने यह एक वहुत वड़ा सूत्र वताया है। किसी भारतीय का एकदम अमरीका जाकर किसी से विवाह करना भी सदोष है और अपनी छोटी-सी जाति में ही हमेशा विवाह करते रहना भी सदोष है। महाराष्ट्रीय गाय के लिए यूरोपियन सांड उपयुक्त नहीं होगा। महाराष्ट्रीय गाय के लिए पंजाव या गुजरात का सांड उपयुक्त रहेगा। दूर का भी न होना चाहिए क्योंकि सारा वातावरण एकदम भिन्न होता है; और वहुत पास का भी नहीं चाहिए क्योंकि वातावरण वही होता है।

और कभी-कभी मिश्र विवाह समाज के लिए हितकारक भी होता है। भूमि में एक ही फसल लगातार पैदा नहीं होती। बीच-बीच में रोटेशन के द्वारा दूसरी फसल भी ली जाती है। रोटेशन से ही दूसरी फसल प्राप्त होती है। बीच में जव दूसरी फसल ले ली जाती है तव वह पहली फसल जोरदार आती है। समाज के सन्ततिशास्त्र में भी शायद कभी ऐसा समय आ सकता है। शायद मिश्र विवाह से समाज कभी शक्तिशाली वन जाय। उससे शायद सर्वसाधारण जनता के उत्साह और वुद्धि में वृद्धि हो। भारत के सारे प्राचीन महर्षि मिश्र विवाह के फल हैं। हम कहा करते हैं कि 'ऋषि का कुल और नदी का मूल' नहीं देखना चाहिए; लेकिन इसमें ऋषि की कमी थोड़े ही है। मिश्र विवाह कभी-कभी आवश्यक भी होता है। आज भारत में वह समय आ गया है।

यह वात नहीं है कि मिश्र विवाह हमेशा ही होना चाहिए; लेकिन किसी विशेष काल में कुछ शताब्दियों तक इसकी आवश्यकता रहती है। कुछ समय के वाद समाज की स्थिति देखकर फिर से नियम वनाइये। इस प्रकार सव तरह से कामशास्त्र का सच्चा धार्मिक व वौद्धिक विवेचन और आचरण होना चाहिए। कामशास्त्र का अर्थ है एक प्रकार का सन्ततिशास्त्र। सन्तान सतेज और नीरोग किस प्रकार हो, उसी प्रकार सन्तान का ठीक-ठीक पोषण और विकास किस प्रकार हो, इस सवको

देखना धर्ममय कामशास्त्र के अन्तर्गत आ जाता है।

संयम, स्त्री-पुरुष का प्रेम, उनकी रुचि और चुनाव, उनकी आर्थिक स्थिति, उनकी शारीरिक निर्दोषता और बौद्धिक समानता आदि अनेक बातें प्रकाश में देखने की आवश्यकता रहती है। ज्ञान बढ़ रहा है, अनुभव बढ़ रहा है, वेद अनन्त हैं। वेद के आधार पर याने अनुभव के आधार पर—शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर निर्माण किया हुआ वह सनातन धर्म जीवन में नया प्रकाश पैदा करेगा और जनता को सच्चा धर्ममय अर्थशास्त्र और धर्ममय कामशास्त्र देकर शान्ति का, सच्चे आनन्द का और सच्चे निर्मल सुख का मोक्ष सबको प्रदान करेगा।

सारे समाज को धारण करनेवाले और उसका पोषण करनेवाले ये अर्थ और काम मोक्ष की ओर ले जा रहे हैं। लेकिन इस प्रकार अर्थ-काम की ज्ञान-विज्ञानमय, शास्त्रीय अर्थात् धार्मिक व्यवस्था करनेवाले आज नरक की ओर ले जानेवाले समझे जा रहे हैं, यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है!

: १३ :

चार आश्रम

सनातन-धर्म को वर्णाश्रम-धर्म कहा जाता है। वर्णाश्रम भारतीय संस्कृति का प्रधान स्वरूप है। हम यह तो पहले ही देख चुके हैं कि वर्ण-धर्म किसे कहते हैं। आइये, अब आश्रम-धर्म पर विचार करें।

मनुष्यों के विकास के लिए चार आश्रमों की चार सीढ़ियां बताई गई हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। संन्यास अन्तिम ध्येय है। अन्त में अनासक्त जीवन ही प्राप्तव्य है; लेकिन उस ध्येय की ओर धीरे-धीरे जाने के लिए पहले तीन आश्रम हैं। धीरे-धीरे संसार से दूर होते जाना चाहिए—निवृत्तकाम होते जाना चाहिए।

भारतीय संस्कृति कहती है कि मनुष्य जन्मतः तीन ऋण लेकर आता है—ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा ईश्वर का ऋण। इन तीन ऋणों

से हमें उऋण होना है। ब्रह्मचर्य आश्रम में उत्तम ज्ञान सम्पादन करके हम ऋषि-ऋण से उऋण होते हैं। बाद में गृहस्थाश्रम में सन्तति पैदा करके, उसका ठीक तरह पालन-पोषण करके हम पितृ-ऋण से उऋण होते हैं; और वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यास के द्वारा सारे समाज की सेवा करके हम ईश्वर के ऋण से उऋण होते हैं। ईश्वर सारे संसार के लिए है। ईश्वर के ऋण से उऋण होने का मतलब है सबके बन जाना।

ब्रह्मचर्य आश्रम में मुख्यतः ज्ञान की उपासना है। उपनयन धारण करने के बाद ब्रह्मचर्य का प्रारम्भ होता है। उपनयन ब्रह्मचर्य की दीक्षा है। ब्रह्मचर्य किसी ध्येय के लिए ही होता है। ध्येयहीन ब्रह्मचर्य निरर्थक है। ध्येयहीन ब्रह्मचर्य टिकता भी नहीं है। ब्रह्मचर्य ज्ञान के लिए है। जबतक हम गुरु के पास शिक्षा प्राप्त करते हैं तबतक मजबूती से ब्रह्मचर्य को पक्का पकड़े रहना चाहिए।

जनेऊ के समय ब्रह्मचर्य की ही महिमा गाई जाती है। उसके सारे प्रतीक ब्रह्मचर्य के ही द्योतक हैं। कमर से तिहेरी मुंज की मेखला बांधी जाती है। कोपीन पहनाया जाता है। इसका क्या मतलब है? यही कि—"कमर कसकर तैयार रहो, तुझे ज्ञान प्राप्त करना है। विषयवासना मिटा दो, उसे बांधकर रखो। लगोट बांधकर रहो।" ब्रह्मचारी वटु को मेखला पहनाते समय जो मन्त्र बोला जाता है वह बड़ा सुन्दर है।

इयं दुरुक्तात् परिबाधमाना
शर्म वरूथं पुनती न आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमाभरन्ती
प्रिया देवानां सुभगा मेखलेयम्॥
ऋतस्य गोप्त्री तपसः परस्पी
घ्नती रक्षसः सहमाना अरातीः।
सा नः समन्तमनु परेहि भद्रया
भर्तारस्ते मेखले मा रिषाम॥

"यह मेखला पवित्र करनेवाली है। यह मेखला मुझे उल्टी-सीधी

बात बोलने नहीं देगी। यह मेखला, मुझे सुख देगी। प्राण और अपान के द्वारा शक्ति प्रदान करेगी। यह मेखला तेजस्वी लोगों को प्रिय है। यह मेखला सत्य की रक्षा करनेवाली, तपस्या को आधार देनेवाली, राक्षसों को मारनेवाली और शत्रु को भगा देनेवाली है। हे मेखला! कल्याणकारक बातों के साथ आकर तू मुझे सब ओर से घेर ले। तुझे धारण करते हुए कभी नाश न हो।"

जिसकी कमर कसी हुई है, उसे वक्र दृष्टि से कौन देखेगा? 'ज्वलन्ति ब्रह्ममयेन तेजसा' वह ब्रह्मचर्य के तेज की जगमगाती हुई ज्योति है उससे सारे अन्तर्बाह्य शत्रु भाग जायंगे।

मेखला बांधना मानो व्रतों से बंध जाना है। मेखला बांधने के पहले दीक्षा देने की एक विधि होती है। उस समय गुरु कहता है—

"मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व
बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥"

"अरे वटु! मैं अपने व्रतों को तेरे हृदय में रखता हूं। तेरा मन मेरे मन के पीछे-पीछे रहे। तू एकनिष्ठा से, एक व्रत से मेरा कहना सुनता जा। वह बुद्धिपूजक बृहस्पति तेरा ध्यान मेरी ओर रखे।"

गुरु के शब्दों को ठीक तरह सुनने के लिए व्रतों की आवश्यकता होती है, एकाग्रता की आवश्यकता होती है। और ब्रह्मचर्य में सारे व्रत आ जाते हैं। वटु के हाथ अपने हाथ में लेनेवाला गुरु भी ईश्वर की ही भांति माना गया है—

सविता ते हस्तमग्रभीत्।
अग्निराचार्यस्तव॥

"बेटा, मैं तेरे हाथ नहीं पकड़ रहा हूं। तेरा हाथ तो बुद्धि को तीव्र करनेवाले सूर्य भगवान् पकड़ रहे हैं। तेरा आचार्य अग्नि है, मैं नहीं।"

गुरु प्रकाश है—ज्ञान का प्रकाश देनेवाला। ब्रह्मचारी को तेजरूपी गुरु की उपासना करनी चाहिए। उपनयन-संस्कार के मन्त्रों में या यज्ञोपवीत के मन्त्रों में सर्वत्र तेज की उपासना है।

ब्रह्मचारी सारे तेजस्वी देवताओं का है।

देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी
तं गोपाय समामृत ॥

"हे सूर्यनारायण, यह ब्रह्मचारी आपका ही है। इसका संरक्षण कीजिये। इसे मृत्यु न सताए।"

ब्रह्मचर्य आश्रम में जाना मानो पुनर्जन्म है। अब संयमी होना चाहिए। ध्येय की उपासना करनी चाहिए।

युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः।

"यह युवा ब्रह्मचारी आया है। इसने नवीन सुन्दर वस्त्र पहने हैं। इसने यज्ञोपवीत पहना है। यह अब नवीन जन्म ले रहा है। यह कल्याण की ओर जा रहा है।"

"तं धीरासः कवयः उन्नयन्ति
स्वाध्यो मनसा देवयन्तः।"

"संयमी ज्ञानवान् गुरु इसे उन्नति की ओर ले जाय। यह तरुण अध्ययन करके, मन को एकाग्र करके देवताओं का प्यारा बने, तेजस्वी बने।"

अग्नि में समिधा होम देने के बाद ब्रह्मचारी को जो प्रार्थना बोलनी चाहिए वह तेजस्वी है:

"मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु
मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु
मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥"

"अग्नि, मुझे बुद्धि, विचारशक्ति और तेज दे। इन्द्र मुझे बुद्धि, विचारशक्ति और सामर्थ्य दे। सूर्य मुझे बुद्धि, विचारशक्ति और तेज दे। हे अग्नि, मुझे अपने तेज से तेजस्वी होने दे। अपने विजयी तेज से मुझे महान् बनने दे। मलिनता को भस्म कर देनेवाले अपने तेज से मुझे भी

मलिनता को भस्म करनेवाला बनने दे।

मेखला और कौपीन धारण करके बटु हाथ में दण्ड लेता है। उस समय वह कहता है—

"अदान्तं दमयित्वा मां मार्गे संस्थापयन् स्वयम्।
दण्डः करे स्थितो यस्मात्तस्माद्रक्ष यतो भयम्॥"

मुझ असंयमी को यह दण्ड संयम सिखाए। हे दण्ड, जब कहीं मुझे डर लगे तब तू उससे मेरा उद्धार कर।

उपनयन के अन्त में जो मेधासूक्त बोलते हैं उसे यहां देने का लोभ संवरण करना मेरे लिए कठिन है।

ॐ मेधां मह्यमंगिरसो मेधां सप्तर्षयो ददुः।
मेधामिन्द्रश्चाग्निश्च मेधां धाता ददातु मे॥
मेधां मे वरुणो राजा मेधां देवी सरस्वती।
मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥
या मेधा 'अप्सरस्सु गंधर्वेषु च यन्मनः।
दैवी या मानुषी मेधा सा मामविशतादियम्॥
यन्मे नोक्तं तद्रमतां शकेयं यदनुब्रुवे।
निशाम तन्निशामहै मयि व्रतं सह व्रतेषु॥
भूयासं ब्रह्मणा संगमेमहि।
शरीरं मे विचक्षणं वाङ्मे मधुमद्ब्रुहा॥
अवृद्धमहमसौ सूर्यो ब्रह्मणानीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः
मेधां देवीं मनसा रेजमानां।
गन्धर्वजुष्टां प्रति नो जुषस्व॥
मह्यं मेधां वद मह्यं श्रियं वद॥
मेधावी भूयासम् अजरा जरिष्णु॥
सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषं स्वाहा
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु॥
मेधाव्यहं सुमनाः सुप्रतीकः श्रद्धामनाः सत्यमतिः सुशेवः।

महायशा धारयिष्णुः प्रवक्ता भूयासमस्ये स्वधया प्रयोगे ॥

"अंगिरस ऋषि तथा अन्य सप्त ऋषि, इन्द्र, अग्नि और जगदीश्वर मुझे बुद्धि दें। नीतिदेव, वरुण राजा और देवी सरस्वती मुझे बुद्धि दें। कमल का हार पहननेवाले अश्विनी देव मुझे बुद्धि दें। जो मेधा गन्धर्व-लोक में, देवलोक में व मानवलोक में है वह त्रिभुवन-व्यापक मेधा मेरी बुद्धि में प्रवेश करे। यद्यपि मैंने सतत अध्ययन नहीं किया है तथापि मैंने जो कुछ अध्ययन किया है वह हमेशा मेरे पास रहे। मैंने जो-कुछ अध्ययन किया वह मैं जहां चाहूं बोल सकूं। मैं जो-कुछ सुनूं वह मेरे लिए सदैव सुनते रहने जैसा हो। अन्य व्रतधारियों की भांति ही मेरा व्रत भी हो। मेरा संबंध विद्वानों से हो। मेरी इन्द्रियां जिज्ञासु हों। मेरी वाणी मोह का तिरस्कार करनेवाली हो। वह ऊपर से मीठी और अन्दर से विष उगलनेवाली न हो। मेरा उत्साह अखण्ड हो। यह ज्ञानमय सूर्य कभी भी मेरा ज्ञान नष्ट न करे। बुद्धि में चमकनेवाली, मेधा, दिव्यलोक में रहनेवाली मेधा मुझे मिले। मुझे मेधा दो, तेज दो। मुझे बुद्धिमान् होने दो। यदि शरीर जीर्ण हो जाय तो भी उसमें रहनेवाली बुद्धि अजर रहे, वह सदैव तेजस्वी रहे। यह मेधा सभा को जीत लेनेवाली, इन्द्र को प्रिय तथा अत्यन्त अपूर्व है। मैं उसी मेधा के लिए प्रयत्न करता हूं। देव और पितर जिस मेधा की उपासना करते हैं उस मेधा के द्वारा मुझे मेधावी बनाओ। मुझे बुद्धिमान् बनने दो, सत्प्रवृत्तिवाला होने दो। मुझे अच्छी बातों की पूजा करनेवाला, श्रद्धावान् और सत्यनिष्ठ बनने दो। मुझे ब्रह्मचर्य के तेज से सुशोभित होने दो। मुझे कीर्तिमान् होने दो। मुझे धैर्यशाली बनने दो। मुझे उत्कृष्ट वक्ता होने दो। किसी भी चर्चा के अवसर पर मुझे अपनी बुद्धि के प्रभाव से सुशोभित होने दो।"

इतना सुन्दर मन्त्र है यह! उपनयन मानो बुद्धि-सम्पन्न बनाने के लिए धारण किया व्रत है। हम यह जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, जो धारणा-शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, जो अभंग स्मरण-शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए ब्रह्मचर्य के बिना एकाग्रता नहीं आ सकती। ब्रह्मचर्य का अर्थ है सारी इन्द्रियों की शक्ति एक ध्येय के ऊपर केन्द्रित करना।

जिस प्रकार कांच के ऊपर सूर्य की किरणें केन्द्रित करके आगे पैदा करते हैं उसी प्रकार सर्वत्र फैलनेवाली इन्द्रियों की शक्ति एक जगह केन्द्रित करके उसमें से अद्‌भुत तेज निर्माण करना ही ब्रह्मचर्य है।

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य की अपार महिमा गाई गई है। ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है? ब्रह्म-प्राप्ति के लिए जिस प्रकार का आचरण करना चाहिए वह आचरण ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म-प्राप्ति का आचरण ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ क्या है? ब्रह्म का अर्थ है हमारा ध्येय। हमें प्राप्त करने के योग्य जो-कुछ सबसे ऊंची बात मालूम हो वही ब्रह्मचर्य है। जिसके लिए हम जीना या मरना चाहते हैं वह हमारा ब्रह्म है।

विना सारी शक्तियों का उपयोग किये ध्येय प्राप्त नहीं होता। ध्येय जितना ऊंचा होगा उतनी ही शक्ति उसमें लगेगी। पूर्णतया समर्थ होने पर भी हमारे हाथ ध्येय तक नहीं पहुंच पाते हैं और फिर हम प्रार्थना का आश्रय लेते हैं। जो अपना सामर्थ्य गंवाकर रोते रहते हैं उनकी प्रार्थना में तेज नहीं होता। जब अपने सामर्थ्य को थोड़ा भी इधर-उधर खर्च किये विना सारा ही ध्येय पर लगा देते हैं और फिर भी ध्येय दूर रह जाता है तभी सच्ची प्रार्थना का उदय होता है।

उपनिषदों में एक-एक अक्षर सीखने के लिए हजारों वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते रहने का उल्लेख है। ज्ञान का एक कण प्राप्त करने के लिए इसी प्रकार की तपस्या की आवश्यकता होती है।

उपनिषद् में एक स्थान पर इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है कि ब्रह्मचारी तरुणों को कैसे रहना चाहिए।

"तरुणों को सत् प्रवृत्ति का होना चाहिए। तरुणों को दृढ़-अभ्यासी, आशावान्, दृढ़-निश्चयी व सामर्थ्य-सम्पन्न होना चाहिए। यह सारी धन-धान्ययुक्त पृथ्वी उनके चरणों में लोटने लगेगी।

"इस प्रकार के तरुणों को नाच-तमाशे नहीं देखने चाहिएं। भिन्न-भिन्न बैठकों में नहीं जाना चाहिए, गप्पें मारते नहीं बैठना चाहिए। उन्हें एकान्त में बैठकर अध्ययन करना चाहिए। यदि गुरु उल्टे रास्ते पर

चलने लगे तो उन्हें उनका अनुसरण नहीं करना चाहिए। जितनी आवश्यकता हो उतना ही स्त्रियों से बोलना चाहिए। युवक मृदु स्वभाव का, प्रेमपूर्ण, शान्त, विनयी, दृढ़-निश्चयी, निरलस, दैन्यहीन होना चाहिए। उसे पद-पद पर दुखी नहीं होना चाहिए। उसे किसी से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, प्रतिदिन सुबह-शाम गुरु के यहां पानी भरना चाहिए, जंगल में जाकर लकड़ी लाना चाहिए और अध्ययन करना चाहिए।"

उपनिषद् ने इस प्रकार का आदर्श उपस्थित किया था। उपनयन के समय भी उपदेश देते हुए 'स्वच्छ रहो। ब्रह्मचारी हो। दिन में मत सोओ। सदैव कर्म में मग्न रहो। आचार्य की सेवा करके ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान प्राप्त करने तक ब्रह्मचर्य का पालन करो।' आदि बातें कही गई हैं।

ब्रह्मचर्य पालन करने की बात आजकल बहुत कठिन हो गई है। चारों ओर का वातावरण बड़ा दूषित हो गया है। सिनेमा, ग्रामोफोन और रेडियो ने सारा वातावरण गन्दा और दूषित कर रखा है। सबके मन मानो खोखले हो गए हैं। सब जगह ढीलढाल और पोलपाल आ गई है।

हमारे मन में सब प्रकार की वासनाओं के बीज हैं; लेकिन हमें यह तय करना चाहिए कि उसमें किसे अंकुरित करना चाहिए और किसे नहीं। जिन बीजों को अंकुरित न करना हो यदि उन्हें पानी न दिया तो काम हो जायगा। उन्हें वैसे ही पड़े रहने देना चाहिए। वे मरते नहीं हैं। वे बहुत चीकट होते हैं। यदि उन्हें अनेक जन्म तक पानी न दिया गया तो फिर वे बीज जल जाते हैं, मर जाते हैं।

यदि हलके या अश्लील गीत हमें चारों ओर सुनाई दें तो हमारा ब्रह्मचर्य किस प्रकार रह सकता है? यदि मासिक-पत्रों में स्त्रैण कहानियां ही प्रकाशित होती रहें तो हमारा ब्रह्मचर्य कैसे रह सकता है? यदि सिनेमा में हम हमेशा चुम्बन-आलिंगन ही देखते रहें तो हमारा ब्रह्मचर्य कैसे टिक सकता है? यदि आस-पास का वातावरण हमें भोगविलास की शिक्षा देता रहे, कामवासना को उत्तेजित करता रहे तो हमारा ब्रह्मचर्य कैसे रह सकता है?

बाल-वाचनालय , छात्र-वाचनालय आदि की अभी तक हमें कल्प नहीं है। भिन्न-भिन्न विषयों पर निकलनेवाले मासिक-पत्रों की भी ह कल्पना नहीं है। हमारे मासिक-पत्रों में सभी विषय होते हैं। शास्त्र संबंधी, इतिहास-संबंधी, साहित्य-संबंधी, आरोग्य-संबंधी, राजनीति संबंधी, शिक्षा-संबंधी, व्यापार-संबंधी व खेल-संबंधी ही मासिक-प छात्र-वाचनालयों में रहने चाहिएं। लेकिन ऐसे मासिक पत्र हैं कहां हमें भिन्न-भिन्न विद्याओं का अध्ययन करना है। इन शास्त्रों में कामशा भी आ जायगा। लेकिन कामशास्त्र कोई चुम्बन-आलिंगन के ग्रंथ नहीं बच्चों को जननेन्द्रिय की जानकारी, उनके कार्य, उनकी सार-संभा उनकी स्वच्छता आदि बात शास्त्रीय दृष्टि से सिखाने में कोई हानि नहीं लेकिन यह शास्त्रीय शिक्षा तो मिलती नहीं है, केवल वासना जगानेवा तथा लम्पट बनानेवाली शिक्षा, पैसे पर दृष्टि रखनेवाले कहानी-लेख की ओर से मिलती है। ये कहानी-लेखक कहते हैं कि हमारी कहानी बच के हाथ में मत दीजिये। उनका कहना ठीक है। लेकिन उस ओर समाज क ध्यान नहीं देता। बच्चों के मन को कौन-सा भोजन मिलता है इस अ कौन देखता है! जहां इस बात की चर्चा या चिन्ता नहीं होती कि शर को किस प्रकार का भोजन देना चाहिए, कुटे हुए चावल देना चाहिए बिना कुटे हुए, शास्त्रीय आहार कौन-सा है वहां मन के भोजन की अ कौन ध्यान देगा!

ब्रह्मचर्य-आश्रम में इन सब बातों का विचार है। हमें क्या खा चाहिए, क्या सुनना चाहिए, क्या देखना चाहिए, क्या पढ़ना चाहि कैसे बैठना चाहिए, कब उठना चाहिए आदि सब बातों को विवेकपूर्व निश्चय करना चाहिए। यदि हमने जबान को खुला छोड़ दिया, उत्तेज पदार्थ खाये, बिना काफी शरीर-श्रम किये पकौड़ी, प्याज आदि ख़ू खाये तो हमारा ब्रह्मचर्य नहीं रह सकता। मसाले खाना बन्द करना चाहि मिर्च खाना भी बन्द करना चाहिए। ब्रह्मचर्य का भी एक शास्त्र है। ब्रह्म-चारी बननेवालों को उस शास्त्र के अनुसार आचरण करना चाहिए।

इसीलिए गांधीजी हमेशा कहते थे कि ब्रह्मचर्य किसी एक इन्द्रिय

का संयम नहीं है। ब्रह्मचर्य जीवन का संयम है। ब्रह्मचर्य का पालन उसी समय संभव है जबकि कान, आंख, जबान आदि सभी इन्द्रियों का संयम किया जाय। कानों से श्रृङ्गारिक गीत नहीं सुनेंगे, आंखों से शृङ्गारिक चित्र नहीं देखेंगे, स्त्रियों की ओर अपलक दृष्टि से नहीं देखेंगे, श्रृङ्गारिक कहानियां नहीं पढ़ेंगे, मसालेदार और उत्तेजक पदार्थों का सेवन नहीं करेंगे, नरम गद्दों पर नहीं सोएंगे। जब इस प्रकार के व्रतों का पालन करेंगे तभी ब्रह्मचर्य का पालन संभव होगा, अन्यथा नहीं।

लोकमान्य तिलक परस्त्री को देखते ही नीचा सिर कर लेते थे। एक स्त्री का प्राथनापत्र तीन घंटे तक उसके सामने बैठकर उन्होंने लिखा, लेकिन उन्होंने उसकी ओर देखा तक नहीं। नेविन्सन ने कहा था कि—"लोकमान्य की आंखों में मैंने जो तेज देखा वह संसार के किसी अन्य महापुरुष की आंखों में नहीं देखा।" यह तेज कहां से मिलता है? ब्रह्मचर्य से।

महात्माजी की दृष्टि में भी एसा ही तेज था। आश्रम के लोग कहते हैं कि जब गांधीजी जरा वक्र दृष्टि से देखते तो वे लोग जैसे निष्प्राण हो जाते थे। उन्हें गांधीजी की वक्र दृष्टि से बड़ा डर लगता था। वे आंखें मानो सामनेवाले व्यक्ति के हृदय की थाह लेती थीं। उस दृष्टि से आप कुछ भी नहीं छिपा सकते थे। उनकी प्रखर किरण अन्दर प्रवेश किये बिना नहीं रहती थी।

बंगाल में आशुतोष मुकर्जी की आंखों में भी ऐसा ही तेज था। कलकत्ता विश्वविद्यालय की एक बैठक में ढाका कालेज के प्रिंसिपल टर्नर साहब आशुतोषजी के विरुद्ध बोलने के लिए खड़े हो रहे थे। लेकिन टर्नर साहब ने अपने संस्मरणों में लिखा है: ("The Black man stared at me and I staggered back in my chair.") "उस काले आदमी ने मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा और मैं उसी समय कुर्सी पर बैठ गया।"

इतिहास-संशोधक राजवाड़े प्रतिदिन कम्बल पर सोते थे। जब पचीस वर्ष की उम्र में उनकी पत्नी मर गयीं तो उस समय से वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे। इसीलिए उनकी धारणा-शक्ति अपूर्व थी। किसी शास्त्र में

उनकी वृद्धि रुकती नहीं थी। यही बात स्वामी विवेकानन्द के बारे में थी। विवेकानन्द में कमाल की एकाग्रता थी। वह अध्याय-के-अध्या एकदम पढ़ लेते थे। उनकी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत थी। ऐसा कोई शास्त्र नहीं था जिसे वह नहीं समझते थे। इसी प्रकार स्वामी रामतीर्थ कहते थे कि ब्रह्मचर्य के बल से सारी बातें साधी जा सकती हैं।

ऐसा है यह ब्रह्मचर्य का तेज। यह तेज सारे शरीर में फैलता है वह आंखों में दिखाई देता है, वाणी में उतर आता है, चेहरे पर खि उठता है। विवेकानन्द को देखते ही आंखें चौंधिया जाती थीं। रामती को देखते ही प्रसन्नता अनुभव होती थी। ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है।

जिसे अपना जीवन सार्थक करना है उसके लिए ब्रह्मचर्य के अतिरि कोई मार्ग नहीं है। महात्माजी १८–१८ घंटे तक बिना थके काम कर रहते थे। यह कार्य-कुशलता उनमें कहां से आई? यह इच्छाशक्ति का ब है। महापुरुषों में तो इच्छाशक्ति होती है; लेकिन यह इच्छाशवि भी आती कहां से है? वासना पर विजय प्राप्त करने से ही यह दृढ़ इच्छ शक्ति प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्य प्रयत्न-साध्य है। वह एकदम थोड़े ही प्राप्त हो सकता है उसका तो पीछा करना चाहिए। बार-बार व्रत-भ्रष्ट होकर भी बार वार ऊपर उठना चाहिए और अधिक शक्ति से आगे बढ़ना चाहिए एक बार उसे अपना ध्येय बना लेना चाहिए। जब हम किसी को असंभ समझ लेते हैं तो फिर वह हमें कभी नहीं मिल सकता।

मनुष्य कई बार अपने दुर्गुणों की अधिक चर्चा करता हुआ बैठा रहत है। कभी-कभी अपने दुर्गुणों को भूलना ही उसकी विजय का मार्ग होता है यदि आप यह कहते रहे कि "मैं तो इतना बुरा हूं। मैं कैसे ब्रह्मचर्य का पाल कर सकता हूं? मैं नहीं सुधर सकता। मैं इसी प्रकार रोता रहूंगा।" तो आप ऐसे पतित ही बने रहेंगे। दुर्गुणों का चिन्तन करते रहने से वे अधिक दृढ़ होते हैं। यदि कोई लगातार रटता रहे कि "मैं पचीस दूने पचास भूल जाऊं, मैं पचीस दूने पचास भूल जाऊं" तो वह उसे भूल तो सकता ही नहीं, उल्टे वह जबान और मन पर पूरी तरह बैठ जायगा। जागते-सोते, हर समय पचीस दूने पचास ही दिखते रहेंगे। जिसे नहीं चाहते उसे याद ही

मत करो। यही कहते रहो कि —"मैं अच्छा हूं। अच्छा बनूंगा। मेरा मन शक्तिशाली होगा। मैं आगे बढ़ूंगा।" भारतीय संस्कृति सत्य-संकल्प पर जोर देती है :

अहं ब्रह्मास्मि, शिवः केवलोऽहम्।

'मैं ब्रह्म हूं। मैं सर्वशक्तिमान् हूं।' इस प्रकार का ध्यान करते रहिए। इसी प्रकार की कल्पना कीजिए। आप जैसा कहते रहेंगे वैसे ही बन जायेंगे। हमारी श्रद्धा ही हमारे जीवन को गढ़ती है।

उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य से ही उत्कृष्ट गृहस्थ-आश्रम की स्थापना होती है। यदि हमारा ब्रह्मचर्य उत्कृष्ट न हुआ तो हमारा गृहस्थाश्रम भी रोते-रोते चलेगा। जब हम मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्ति प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे तभी हमारे गृहस्थाश्रम में तेज आयगा, तभी हमारा गृहस्थाश्रम सुखी होगा।

यदि पति-पत्नी का स्वास्थ्य अच्छा न हुआ तो घर में स्वस्थ बालक कैसे दिखाई देंगे? रोगी और चिड़चिड़े बालक देखना माता-पिता के लिए कितना बड़ा दुःख है! छोटे बच्चों की हँसी के समान पवित्र चीज और कौन-सी है? उस हँसी में अपार शक्ति रहती है। उस हँसी से कठोर हृदय कोमल बन जाते हैं। उस हँसी से दुःख एक ही क्षण में भाग जाता है।

लेकिन ऐसे प्रसन्नमुख और सुकुमार बालक पति-पत्नी के दृढ़ ब्रह्मचर्य के कारण ही उत्पन्न होते हैं। जिस जमीन का कस नष्ट नहीं होता उसमें बड़ा-बड़ा अनाज पैदा होता है। इसी प्रकार जिनके जीवन का कस नष्ट नहीं हुआ है उनके ही जीवन में ऐसे तेजस्वी फूल फूलते हैं।

गृहस्थाश्रम सारे समाज का आधार है। गृहस्थाश्रम भविष्य का निर्माण करता है। गृहस्थाश्रम समाज की धारणा है। गृहस्थाश्रम की महिमा सबने गाई है।

'धन्यो गृहस्थाश्रमः'

यह गृहस्थाश्रम धन्य है। लेकिन ऐसी धन्यता सरलता से प्राप्त नहीं होती। वह प्रयत्न-साध्य है। कष्ट-साध्य है। गृहस्थाश्रम में

पति-पत्नी के शरीर सुन्दर और नीरोग होने चाहिएं। इसी प्रकार उनके मन भी नीरोग होने चाहिएं। पति-पत्नी को एक-दूसरे के साथ निष्ठापूर्वक व्यवहार करना चाहिए। जिस विवाह-विधि से पति-पत्नी का सम्बन्ध स्थिर हुआ है, उस विवाह-विधि के कुछ-कुछ मन्त्र वड़े सुन्दर हैं। वाग्-निश्चय (सगाई) के समय ब्राह्मण कहता है—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासति ॥

"तुम्हारा उद्देश्य एक हो। तुम्हारे मन एक हों। तुम्हारे हृदय एक-रूप हों। इस प्रकार आचरण करो कि तुम्हारे सारे संगठन को वल प्राप्त हो।"

इसी प्रकार विवाह-होम के समय वर कहता है—

द्यौरहं पृथ्वी त्वं सामाहमृक्त्वम्।
संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ जीवेव शरदः शतम्।

"मैं आकाश हूं। तू पृथ्वी है। मैं सामवेद हूं। तू ऋग्वेद है। हम एक-दूसरे पर प्रेम करें। एक-दूसरे को सुशोभित करें। एक-दूसरे के प्रिय वनें। एक-दूसरे के साथ निष्कपट व्यवहार करके सौ वर्ष तक जियें।"

सप्तपदी आदि के हो जाने पर, जब गृह-प्रवेश होता है तब वर कहता है—

"हे वधू! तू सास-ससुर पर, ननद-देवर पर प्रम की सत्ता चलाने-वाली वन!

"सारे देवता हमारे हृदय मुक्त करें। यानी हमारा मन निर्मल करें। मातरिश्वा, विधाता व सरस्वती हमारे जीवन को एक-दूसरे से जोड़ दें।"

गृह-प्रवेश के समय मन्त्र कहता है—

"हे वधू! तू इस कुल में आ रही है। यहां संततियुक्त होकर तुझे आनन्द मिले। यहां तू सच्ची गृहिणी के कर्त्तव्य दक्षता के साथ पूरे कर। इस पति के साथ वर्तमान आनन्द के साथ रह। लोग कहें कि तुम इस घर में वहुत समय तक रहकर वृद्ध होओ।"

"जिस प्रकार चलनी से अनाज साफ किया जाता है उसी प्रकार इस

में शुद्ध संयमपूर्वक वाणी का प्रयोग किया जाता है। इसीलिए बड़े लोगों की इस घर से मित्रता होती है। इस प्रकार की मीठी बात कहनेवालों की जवान में लक्ष्मी निवास करती है।"

विवाह-सूक्तों में वधू को अघोरचक्षु व शिवा, सुमना व तेजस्वी, वीरप्रसू व श्रद्धालु आदि विशेषण लगाये गए हैं। 'अघोरचक्षु' का विशेषण वर और वधू दोनों के लिए ध्यान में रखने योग्य है। एक की दूसरे के ऊपर प्रेमपूर्ण दृष्टि हो, वह भयावह एवं क्रूर न हो।

विवाह का मतलब केवल बाह्य विवाह नहीं है। हृदय का विवाह, मन का विवाह। वर का वधू के गले में माला डालना मानो एक-दूसरे के हृदय-पुष्प एक-दूसरे को अर्पण करना है। अग्नि के चारों ओर सात कदम चलना मानो जीवनभर साथ-साथ चलना, सहयोग करना है। पति-पत्नी सुख और दुःख में साथ रहेंगे। साथ चढ़ेंगे, साथ गिरेंगे। उनके आस-पास सूत लपेटा जाता है। अब पति-पत्नी का जीवन-पट एक साथ बुना जायगा, अब ताना-बाना एक हो जायगा, अब कुछ भी पृथक् नहीं है, कुछ भी अलग नहीं है।

शरीर पर ही प्रेम करने से सच्चा प्रेम नहीं होता। यदि कल शरीर रोग से कुरूप हो जाय तो? हम शरीर से प्रारम्भ करें, लेकिन बनें देहातीत। देह के अन्दर की आत्मा को पहचानकर उससे भेंट करना चाहिए। मनुष्य आंगन से घर के प्रथम भाग में आता है, मध्य के भाग में जाता है तब देवघर में जाता है। इसी प्रकार वर-वधू को एक-दूसरे के हृदय के क्षेत्र में जाना चाहिए। उन्हें यह अनुभव होना चाहिए कि केवल हमारे शरीर की पूजा करनेवाला पति हमारा अपमान करता है। हम कोई मिट्टी का शरीर ही नहीं हैं। पति-पत्नी एक-दूसरे को मिट्टी या मांस का गोला न समझें। धीरे-धीरे इस मिट्टी में जो उदात्तता है, जो ऊपर उठने की शक्ति है, उसी के ऊपर उन्हें ध्यान देना चाहिए। पति को देखते ही पत्नी को उसकी दिव्यता दिखाई देनी चाहिए। पत्नी को देखते ही पति को यह प्रतीत होना चाहिए कि वह देवी है। एक दिन भोग-विलास से विरक्त होना है। देह के अन्दर प्रवेश करके आत्मा को आत्मा से जोड़ना चाहिए।

दीपक के कांच का महत्त्व अन्दर की लौ के कारण है। हमें उस ज्योति का उपासक होना चाहिए। जबतक आत्मा की महानता समझ में नहीं आती तबतक सच्चा प्रेम नहीं है। पत्नी की आत्मा की महानता दिखाई देते ही पति उसे ज्ञान देगा—ध्येय देगा। वह उसे केवल वस्त्रालंकारों के द्वारा गुड़िया-जैसी सजाता नहीं रहेगा। इसी प्रकार जिस दिन पत्नी को पति की दिव्यता दिखाई देगी उस दिन वह पति को चाहे जैसे आचरण नहीं करने देगी। चाहे. जिस तरह से पैसे प्राप्त करने का काम नहीं करने देगी।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम में पवित्रता लानी चाहिए। पति-पत्नी एक-दूसरे को सावधान करके, एक-दूसरे को कभी प्रेम से और कभी क्रोध से सम्बोधित करके हमेशा आगे बढ़ते रहें। अन्त में पति-पत्नी को भाई-बहन की तरह हो जाना चाहिए। आसक्तिमय प्रेम में से अन्त में अनासक्त प्रेम का निर्माण करना चाहिए। कीचड़ में कमल खिलाना चाहिए। संसार में ही मोक्ष की शोभा प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम मोक्ष की ओर जाने का एक मार्ग है। यह एक सीढ़ी है। यहां हमेशा नहीं रहना है। पति-पत्नी को यह बात न भूलनी चाहिए कि गृहस्थाश्रम में रहकर, संतति पैदा करके, वासना-विकार शान्त करके, अनेक प्रकार के पाठ सीखते-सीखते अन्त में इस छोटे संसार से एक दिन बड़े संसार में जाना है।

गृहस्थाश्रम भी एक आश्रम ही है। इसमें भी आश्रम-जैसी ही पवित्रता रहनी चाहिए। यह पति-पत्नी और बच्चों का आश्रम है। सबको एक-दूसरे के साथ सहयोग करना चाहिए। प्रेम में रहना चाहिए। ध्येय की पूजा करनी चाहिए। गृहस्थाश्रम में एक काम यह भी होता है कि अपनी कुल-परम्परा को मिटने न दें। 'रघुवंश' में इस प्रकार का एक वर्णन है कि राम सीता को विमान में से नीचे के स्थान दिखाते हैं। एक तपोवन की ओर अंगुली दिखाकर राम कहते हैं, "यहां एक ऋषि रहते थे। वह सब अतिथियों का मन से सत्कार करते थे, लेकिन उनके कोई बच्चा नहीं था। वह मर गये, लेकिन उनके अतिथि-सत्कार व्रत का पालन ये वृक्ष करते हैं। जो कोई आता है उन्हें यह फल-फूल और छाया

देते हैं।"

इस प्रकार कुल की परम्परा चलानी चाहिए। हमारे कुल में कोई झूठ नहीं बोलेगा, हमारे कुल में कोई चोरी नहीं करेगा, हमारे कुल में कोई अपमान सहन नहीं करेगा, हमारे कुल में अतिथि को इन्कार नहीं किया जायगा। इस प्रकार की विशेष प्रथा ही उन कुलों में होती है।

उन कुल-परम्पराओं के लिए यदि सर्वस्व का भी त्याग करना पड़े तो वह करना चाहिए। हरिश्चन्द्र ने सर्वस्व त्याग कर दिया। श्रियाल और चांगुणा ने अपना लड़का अर्पण किया। परिवार मानो एक देव होता है और परिवार के सब लोग उसके लिए तैयार रहते हैं। हरिश्चन्द्र के निकलते ही तारा उसके पीछे-पीछे चलती थी। हरिश्चन्द्र और तारा के पीछे छोटा रोहिताश्व भी भागता हुआ जाता था। माता-पिता उस रोहिताश्व को मना नहीं करते थे। वे यह नहीं कहते थे कि—'तू छोटा है, क्यों आता है?' अपनी ही शिक्षा से उन्हें बच्चे को शिक्षित करना था। उन्हें अपने उदाहरण से बच्चों को ध्येय-पूजा सिखानी थी।

आज इस प्रकार का गृहस्थाश्रम कहां है? सब एक ध्येय की पूजा नहीं करते। हां, यदि ध्येय ही विचित्र हो तो बात दूसरी है। लेकिन जब आसक्ति और भय मार्ग में आते हैं तो अवश्य बुरी बात है।

इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि हमारे घरों में ज्ञान-चर्चा नहीं होती। पति जो सुनता है वह पत्नी को नहीं कहता। राष्ट्र में जो विचार उत्पन्न हो रहे हैं, उनकी चर्चा घर में नहीं होती। पति पत्नी का गुरु है। लड़कियों का जनेऊ होना बन्द हो गया है। पति ही उसका गुरु ठहराया गया, लेकिन क्या यह पति गुरु का काम करता है? क्या वह ज्ञान-दान, विचार-दान करता है? क्या वह आस-पास की बातों की जानकारी पत्नी को देता है?

पत्नी ज्वार की रोटी बनाकर देती है, लेकिन पति उसे विचार की कौन-सी रोटी देता है? पति के दिमाग में तो यह विचार ही नहीं आता। पति को इस बात का खयाल ही नहीं आता कि उसकी पत्नी का भी मन है, बुद्धि है, हृदय है। इसी से वह संसार की बातों की चर्चा

घर में नहीं करता। फिर बच्चों को वे बातें कैसे मालूम होंगी ? जहां पत्नी ही विचारों के अज्ञान में है, वहां बच्चे भी अज्ञान में ही बड़े होंगे।

भारतीय संस्कृति में इस प्रकार का गृहस्थाश्रम नहीं होता। बकासुर के पास जाने की बारी जिस ब्राह्मण की आई उसके घर का एक-एक व्यक्ति मरने के लिए तैयार था। पति कहता है—'मुझे मरने दो।' पत्नी कहती है—'मुझे मरने दो।' लड़की कहती है—'मुझे मरने दो।' लड़का कहता है—'मुझे मरने दो।' इसका नाम है गृहस्थाश्रम। इसी का नाम है कुटुम्ब। सभी एक विचार से प्रेरित हैं। एक ही ध्येय की पूजा होती है।

गृहस्थाश्रम संयम की पाठशाला है। गृहस्थाश्रम तपस्या है। हम अपनी सैकड़ों वृत्तियों का निरोध करने की शिक्षा गृहस्थाश्रम में प्राप्त करते हैं। बच्चे बीमार हो जाते हैं तो उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती है। बच्चों की इच्छानुसार काम करना पड़ता है। पद-पद पर गुस्सा करने से काम थोड़े ही चल सकता है।

गृहस्थाश्रम में हम त्याग का पाठ सीखते हैं। पति पत्नी को सर्वस्व अर्पण कर देना चाहता है। पत्नी पति को सुखी बनाना चाहती है। माता-पिता फटे कपड़े पहनकर पहले बच्चों को सजाते हैं। दूसरों को सुखी देखना, दूसरे के आनन्द में आनन्द मनाना, यही गृहस्थाश्रम की शिक्षा है।

अर्धनारी नटेश्वर मनुष्य का ध्येय है। पुरुष कठोर होता है। स्त्री मृदु होती है। पति को पत्नी से मृदुता सीखनी चाहिए। स्त्री को पुरुष से कठोर होना सीखना चाहिए। मौका पड़ने पर मोम से भी अधिक कोमल और वज्र से भी अधिक कठोर होना सीखना चाहिए। केवल पुरुष अपूर्ण है। केवल स्त्री भी अपूर्ण है। दोनों के गुणों के मेल में ही पूर्णता है। गृहस्थाश्रम पति-पत्नी के पूर्ण होने की पाठशाला है। वह सर्वाङ्गीण विकास कर लेने का स्थान है। वह हृदय के और बुद्धि के गुण सीख लेने की जगह है। माता-पिता को उत्कृष्ट बच्चे तैयार करके समाज को देने का महत्वपूर्ण काम करना होता है, लेकिन बच्चे अच्छे बनाने के लिए ही माता-पिता को स्वयं अच्छा बनना पड़ता है। उच्चार, आचार और

व्यवहार में अच्छा रहना होता है। जो माता-पिता यह चाहते हैं कि उनके बच्चे अच्छे हों, उन्हें अत्यन्त जागरूकता रखनी चाहिए। प्रेम, कर्त्तव्य और सहयोग दिखाई देना चाहिए। यदि बच्चे रात-दिन माता-पिता के झगड़े देखते रहें तो उनके जीवन पर उसका कितना बुरा असर होगा! जब आलसी और विलासी माता-पिता सामने होंगे तब बच्चे भी सज-धजप्रिय बन जायंगे।

माता-पिता को यह देखना चाहिए कि उनके बच्चे शारीरिक दृष्टि से बलवान्, हृदय से विशुद्ध और उदार बुद्धि से विशाल और निर्मल हों। हम जिस काल में रह रहे हैं, उसका हाल बच्चों को भी बताना चाहिए। भोजन करते हुए, हँसते-खेलते हुए बच्चों को इतिहास का सारा ज्ञान सिखा देना चाहिए। इस बीसवीं सदी में बच्चों के मन में यह बात बैठा देनी चाहिए कि बिल्ली के रास्ता काट जाने से कोई काम बिगड़ नहीं सकता। मेरे एक मित्र हैं। वह कहने लगे कि यदि मेरे बच्चों के सामने कोई ऐसी बात करता है तो मुझे गुस्सा आता है। हमारे मन पर ऐसे संस्कार हो गए, लेकिन हमारे बच्चों के मन पर तो इस प्रकार के पागलपन के संस्कार नहीं होने चाहिएं।

माता-पिता को यह बात देख लेनी चाहिए कि वे कितने बालकों का पालन-पोषण कर सकेंगे, कितने बच्चों का विकास कर सकेंगे, क्योंकि इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम ही हैं। मृत्यु तक बच्चों को पालने में खिलाते रहना नहीं है और वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते ही बच्चे इस योग्य होने चाहिएं कि वे घर की जिम्मेदारी संभाल सकें। मान लीजिये कि साठवें वर्ष वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना है तो इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ यह है कि साठ वर्ष की आयु में हमारा सबसे छोटा लड़का २०-२५ वर्ष का होगा। उसकी शिक्षा हो जानी चाहिए। उसका पूरा-पूरा शारीरिक विकास हो जाना चाहिए। अब उसे माता-पिता के छत्र की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार की सब बातें होनी चाहिएं। अर्थात् ४० वर्ष की आयु में माता-पिता को निवृत्तकाम हो जाना चाहिए। अर्थात् ४० वर्ष तक भी हिसाब से ही सन्तति पैदा करनी चाहिए; तब यह कह सकते हैं कि चालीसवें वर्ष तक ८-१० बच्चे होना क्या बुरा है? लेकिन नहीं,

केवल बच्चे पैदा करना ही एक काम नहीं है। हमें उन बच्चों की सारी व्यवस्था भी करने में समर्थ होना चाहिए। उन सबका पालन-पोषण, संरक्षण व शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। यदि हम संयम न रख सकें तो संतति-निरोध के उपाय काम में लाना कोई बुरा नहीं है। लेकिन मनुष्य को तो संयम ही शोभा देता है।

गृहस्थाश्रम में संयम, त्याग और वासना-विकार को सीमित करने तथा प्रेम और सहयोग आदि गुणों की शिक्षा मिलती है। हम थोड़े-थोड़े पकने लगते हैं। उच्छृंखलपन कम होता है और प्रौढ़ता आती है। हमें जीवन का बहुत-सा अनुभव प्राप्त होता है। खट्टापन नष्ट होकर जीवन में मधुरता आती है।

अबतक हमने एक सीमित परिवार-सेवा की। उस सीमित परिवार में हमने जो सेवा का गुण सीखा उसे अब समाज को देना चाहिए। अपने परिवार के बाहर आकर अब हमें समाज को ही अपना परिवार समझना चाहिए—अधिक अनासक्त होना चाहिए। अधिक व्यापक होना चाहिए। अधिक उदार होना चाहिए। हमें अपनी आत्मा का राज्य बढ़ाना चाहिए।

वानप्रस्थ का अर्थ है वन के लिए निकला हुआ, भवनों को छोड़कर वन के लिए निकला हुआ। ये वानप्रस्थ वन में रहते हैं। वहां आश्रम चलाते हैं, वहां स्कूल चलाते हैं। वानप्रस्थ के बराबर कोई उत्कृष्ट शिक्षक नहीं है। शिक्षक अनुभवी, प्रौढ़, शान्तकाम, हँसते-खेलते शिक्षा दे देनेवाला होना चाहिए और वानप्रस्थ को कुछ विशेष आवश्यकता तो रहती भी नहीं, उसे तो पेटभर भोजन मिल जाय तो बहुत है।

आज हजारों पेंशनर देश में हैं। यदि सच कहा जाय तो उनको इधर-उधर स्कूल खोलने चाहिएं। यदि ऐसा हुआ तो दस वर्ष में शिक्षा सर्वत्र फैल जायगी। लेकिन भारतीय संस्कृति के गुण गाते हुए—शान्त स्थान में बंगला बनाकर वे अपने नाती-पोतों को खिलाते रहते हैं। उन्हें तो सबके नाती-पोतों को खिलाना चाहिए। उनको शिक्षा देनी चाहिए। उनके लिए सुन्दर आश्रम की स्थापना करनी चाहिए। पर सच्चे अर्थ में आज समाज में कोई भी वानप्रस्थ नहीं है। वानप्रस्थ वही है जो परिवार

की मर्यादित आसक्ति छोड़कर समाज की सेवा करने लगे।

और इसके बाद फिर संन्यास। संन्यास में यह भी आसक्ति नहीं होती कि किसी खास समाज की ही सेवा करें। संन्यासी के लिए न कोई हिन्दू है, न कोई मुसलमान। वह तो सेवा ही करता रहेगा। वह भेदातीत होकर प्रेम करेगा। जो पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष-वनस्पति आदि का भी मित्र बनेगा, क्या वह मानवों में विभेद करेगा? संन्यासी न तो महाराष्ट्रीय देखता है, न गुजराती। वह तो सबसे ऊपर उठता है। वह इस भेद के कीचड़ से अतीत हो जाता है।

संन्यास का अर्थ है निर्वाण। अपने को पूरी तरह बुझा देना। वहां 'मेरा परिवार, मेरा समाज, मेरी जाति, मेरा देश' आदि का महत्व नहीं है। वहां 'मेरा मान-सम्मान, मुझे खाने के लिए पैसा चाहिए' इस प्रकार की बातें भी नहीं होतीं। संन्यास समदृष्टि है। जिस प्रकार सूर्य की किरण सबके लिए है उसी प्रकार संन्यासी सबके लिए है। हमारे यहां कोई भी आए हम उसके लिए हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि संन्यासी को एक जगह नहीं रहना चाहिए। वह हवा की भांति जीवन-दान करता हुआ इधर-उधर भ्रमण करता रहेगा। सूर्य की भांति पवित्रता और प्रकाश देता फिरेगा।

इस प्रकार इन चार आश्रमों में अन्त में केवल निरहंकार होना चाहिए, विश्वाकार होना चाहिए। हमारी आत्मा को बढ़ते-बढ़ते सबको प्रेम से गले लगाना चाहिए।

आज हमारे समाज में ब्रह्मचर्य का लोप हो गया है; और वानप्रस्थ और संन्यास नाम के ही रह गये हैं। केवल गृहस्थ-आश्रम बचा है और वह भी रोता हुआ और निस्तेज।

आश्रम-धर्म प्रत्येक व्यक्ति के विवेक से ही जन्म लेगा। वह लादा थोड़े ही जा सकता है। वर्ण एक बार लादा जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि—'यदि तुम यही काम अच्छी तरह कर सकते हो तो यही करो'; लेकिन क्या वानप्रस्थ और संन्यास लाल कपड़े का वस्त्र-दान है? दुखी व्यक्ति का आनन्दमूर्ति नाम रख देना क्या संन्यास है?

संन्यास कोई धन्धा नहीं है। संन्यास की तो आत्म-प्रेरणा होनी चाहिए। अपने विकास की इच्छा होनी चाहिए। इस बात की तीव्र पिपासा होनी चाहिए कि मैं उत्तरोत्तर विकास करता रहूं।

आज सर्वत्र वानप्रस्थ और संन्यासियों की आवश्यकता है। सैकड़ों प्रचारकों की आवश्यकता है। सैकड़ों संगठनकर्ताओं की आवश्यकता है। औद्योगिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी, धार्मिक, आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी सभी प्रकार का ज्ञान देनेवाले हजारों व्रतियों की आवश्यकता है; लेकिन मिलता एक भी नहीं है। समाज को एक बड़ा कुटुम्ब मानकर उसके लिए काम करनेवाले लोगों की आवश्यकता है। सब लोग वर्णाश्रम-धर्म की तख्तियां लगाकर बैठे हैं। लेकिन निर्जीव गृहस्थाश्रम के आगे कदम बढ़ाने के लि कोई तैयार नहीं है।

महात्माजी वर्णाश्रम धर्म की रक्षा कर रहे थे। वह अनेक लोगों को वर्ण दे रहे थे। वह कहते थे, "आओ, तुम्हें वर्ण देता हूं। गोरक्षा पसन्द है? आओ। खादी का काम पसन्द है? आओ। सफाई का काम करना है? आओ। मधुमक्खी-पालन सीखना है? आओ। ग्राम-स्कूल चलाना है? आओ। कागज का उद्योग चलाना चाहते हो? आओ। तेल की घानी चलाओगे? आओ।" भिन्न-भिन्न धंधों का निर्माण करके यह महापुरुष भिन्न-भिन्न वृत्तियों के पुरुषों को काम में लगा रहा था, अर्थात् वर्ण-धर्म का निर्माण कर रहा था।

जब तक राष्ट्र के करोड़ों बेकार लोगों को अपने-अपने गुण-धर्म के अनुसार काम देने की व्यवस्था नहीं होती, तबतक 'वर्णाश्रम' शब्द एक मजाक है। और जो महापुरुष ये काम खोज रहा था, उसके लिए सतत आशावादी रहकर हिमालय-जैसे कष्ट सहन कर रहा था, उसे ही यदि कुछ लोग धर्म का नाश करनेवाला कहें तो यह उस धर्म का दुर्भाग्य है।

जिस प्रकार महात्माजी वर्ण-धर्म की सेवा कर रहे थे, उसी प्रकार आश्रम-धर्म को भी वह प्रकाश दे रहे थे। अपने स्वयं के जीवन में विगत ३०-३५ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का महत्त्व पालन करके उन्होंने काम के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। वह ब्रह्मचर्य का महत्त्व सैकड़ों बार बताते हैं। उन्होंने राष्ट्र में ब्रह्मचर्य की महिमा बढ़ाई है। उन्होंने अनुभव और

आचार के द्वारा यह बताया है कि ब्रह्मचर्य की शिक्षा किस प्रकार दी जा सकती है।

ब्रह्मचर्य की ही भांति गृहस्थाश्रम को भी वह उज्ज्वल बना रहे हैं। पति-पत्नी का ध्येय क्या है, इस विषय पर उन्होंने लिखा है।

वानप्रस्थ और संन्यास उन्होंने अपने उदाहरण से सिखाया था। महात्माजी से बड़ा संन्यासी कौन था ? आन्ध्र प्रान्त में एक भक्त महात्मा जी को अपने हाथ का बनाया हुआ एक चित्र अर्पण कर रहा था। महात्मा जी बोले, "मैं इस चित्र को कहां लगाऊंगा ? मेरा कमरा ही कहां है? अब तो यह देह बचा है। अब यदि इस देह का परिग्रह भी कम हो जाय तो अच्छा।"

महात्माजी के उदाहरण से आज भारतवर्ष में सैकड़ों कार्यकर्त्ता वानप्रस्थ होकर भिन्न-भिन्न काम कर रहे हैं। संन्यास शब्द का उच्चारण न करना ही अच्छा है; लेकिन महात्माजी ने वानप्रस्थ का निर्माण किया है। ब्रह्मचर्य और आदर्श गृहस्थाश्रम के लिए रात-दिन प्रयत्न करनेवाले मुमुक्षुओं का निर्माण किया है। सैकड़ों विचार-प्रचारकों का निर्माण करके महात्माजी ने सच्चे ब्राह्मणों का निर्माण किया है। राष्ट्र के लिए मरने की वृत्ति का निर्माण करके उन्होंने क्षत्रियों का निर्माण किया है। वह ऐसे सच्चे वैश्यों का निर्माण कर रहे थे जो राष्ट्र के लाखों ग्रामीणों को भोजन देने की व्यवस्था करेंगे। वह ऐसे सच्चे शूद्रों का निर्माण कर रहे थे जो राष्ट्र की गन्दगी दूर करेंगे; स्वयं सफाई करेंगे, पाखाना साफ करेंगे, नवीन पाखानों का तरीका सिखायेंगे। जिन्हें वर्णाश्रम-धर्म की आन्तरिक लगन होगी वे इस महापुरुष के चरणों में जाकर इस वर्णाश्रम-धर्म की सेवा में अपने को लगा देंगे।

महात्माजी शुद्ध वर्णाश्रम-धर्म की मूर्ति थे। वह इस धर्म के सच्चे उपासक थे। वह भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम-धर्म के इस महान् तत्त्व को बढ़ा रहे थे। वर्णाश्रम-धर्म को जीवन में सच्चे अर्थों में लाने के लिए वह रात-दिन प्रयत्न कर रहे थे। भारतीय संस्कृति के महान् उपासक महात्माजी के कारण भारत का मुख उज्ज्वल हुआ। भारतीय संस्कृति का सत्स्वरूप संसार पर प्रकट हो रहा है। भारतीयों के ऊपर उनके अनन्त उपकार हैं।

: १४ :

स्त्री का स्वरूप

भारतीय स्त्रियां त्यागमूर्ति हैं। भारतीय स्त्रियां मूर्तिमान् तपस्या हैं, मूक सेवा हैं। भारतीय स्त्रियां अपार श्रद्धा व अमर आशावाद हैं। प्रकृति जिस प्रकार बिना शोर मचाये अपना काम कर रही है, फूल खिला रही है, उसी प्रकार भारतीय स्त्रियां परिवार में सतत कष्ट सहन करके, चुपचाप परिश्रम करके आनन्द का निर्माण करती हैं। प्रत्येक कुटुम्ब को देखिये, प्रातःकाल से लेकर रात के ग्यारह बजे तक काम करती रहने वाली वह परिश्रम की मूर्ति आपको दिखाई देगी। उसे क्षणभर के लिए भी विश्राम नहीं है, पर्याप्त आराम नहीं है।

सीता, सावित्री, द्रौपदी, गान्धारी उनके आदर्श हैं। ये त्याग-मूर्तियां और प्रेम-मूर्तियां भारतीय स्त्रियों की आराध्य हैं। सीता मानो चिर यज्ञ है। भारतीय संस्कृति में स्त्री का जीवन मानो प्रज्वलित होमकुण्ड है। विवाह मानो यज्ञ है। पति के जीवन से संलग्न होने के बाद स्त्री के जीवन-यज्ञ का प्रारम्भ होता है और मृत्यु के बाद यह यज्ञ शान्त होता है।

स्त्री मूर्त कर्मयोग है। उसकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा मानो होती ही नहीं है। पति और बच्चों की इच्छा ही मानो उसकी इच्छा है। जो पति को अच्छी लगे वही सब्जी बनाओ, पति को जो अच्छी लगे वह चीज बनाओ, बच्चों को जो अच्छे लगें वे पकवान बनाओ। जिस दिन पति घर भोजन नहीं करता, उस दिन पत्नी स्वयं सब्जी आदि नहीं बनाती। वह बेसन बना लेगी, नहीं तो आचार का टुकड़ा ही ले लेगी। उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। पति को अच्छी लगनेवाली साड़ी पहनना, पति को अच्छी लगनेवाली पुस्तक पढ़ना, पति को अच्छे लगनेवाले गीत गाना, पति के लिए बुनना, पति के लिए सीना, उसके कपड़े साफ रखना, उसके स्वास्थ्य की देख-रेख करना। पति ही पत्नी का देवता है। 'चरणों की दासी' बनना उनका सौभाग्य है। कबीर ईश्वर से कहते हैं—

"मैं गुलाम, मैं गुलाम, मैं गुलाम तेरा। तू साहेब मेरा।"

भारतीय स्त्री अनजाने बिना घुमाव-फिराव के यही बात कहती है। वह पति को सर्वस्व अर्पण करती है। अपने सर्वस्व से उसकी पूजा करती है। भारतीय स्त्री ने अपने को पति में मिला दिया है। लेकिन पति ने क्या किया है? भक्त ईश्वर का दास होता है; लेकिन ईश्वर भी फिर दरवाजे में खड़ा हुआ भक्त की राह देखता रहता है। नारदजी एक बार विष्णु भगवान् से मिलने गये। उस समय भगवान् विष्णु पूजा कर रहे थे। नारदजी को आश्चर्य हुआ। सारा त्रिभुवन जिसकी पूजा करता है वह और किसकी पूजा करता है? भगवान् विष्णु बाहर आकर बोले—

"प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुण्डलीक-
व्यासाम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुन-वसिष्ठ-विभीषणादीन्,
पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि॥"

भक्त भगवान् का भी भगवान् है। 'ज्ञानेश्वरी' में एक स्थान पर बड़ी ही सुन्दर ओवी है। श्रीकृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! भक्त मेरा बहुत बड़ा आराध्य है।"

"तया पहावयाचे डोहळे। म्हणून अचक्षूसी मज डोळे।
हातींचेनि लीलाकमळें। तयासि पूजूं
दोंवरी दोनी। भूजा आलों घेवोनी
आलिंगावया लागोनी तयाचा देह।"

भक्त की पूजा करने के लिए भगवान् के हाथ में कमल है। भक्त को गले लगाने के लिए दो हाथ पर्याप्त नहीं हैं, अतः चार हाथ! भक्त को देखने की उत्कट इच्छा से निराकार भगवान् साकार होता है। यह भाव कितना मधुर है!

हम प्रेम से जिसके दास होते हैं वह हमारा भी दास हो जाता है। प्रेम से दास होना मानो एक प्रकार से मुक्त होना है। लेकिन हमें अपने परिवारों में किन बातों का अनुभव होता है? स्त्री सबकी सेवा कर रही है। वह सबकी प्रेममयी दासी है; लेकिन उसका दास कौन है?

उसके सुख, आनन्द और उसके आराम के लिए क्या किसी को चिन्ता है? क्या कोई स्त्री के मन व हृदय की भूख जानता है ? क्या कोई उसके आन्तरिक दुःख जानता है ? क्या कोई उससे प्रेम से पूछताछ करता है?

स्त्री के हृदय में कोई प्रवेश नहीं कर सकेगा । सब स्त्री-जीवन के आंगन में खेलते हैं । लेकिन उसके अन्तरंग के अन्तर्गृह में कोई नहीं जाता। वह अन्तर्गृह उदास है। वहां कोई भी प्रेम का कलश लेकर नहीं जाता। स्त्री-हृदय सदैव मूक है। स्त्रियां गूंगी होती हैं। उनके हृदय अत्यन्त गूढ़ और गम्भीर होते हैं। वे प्रेमयाचना नहीं करतीं। हृदय को जि चीज की भूख है, वह चाहे प्रेम हो चाहे बाहर की सब्जी हो, स्त्री उसे न मांगेगी। जो आप दे देंगे उसे ही वह ले लेगी।

भारतीय स्त्रियों के हृदय की कल्पना अधिकतर भारतीय पुरुषों नहीं होती । यदि स्त्रियों को खाने-पीने के लिए कर दिया, थोड़ा अन्न पहनने के लिये ला दिया, तो समझते हैं कि वह काफी है। उन्हें यह अनु ही नहीं होता है कि स्त्रियों को इससे अधिक भी किसी चीज की जरू होती है। उन्हें स्त्रियों की आत्मा के दर्शन नहीं होते । वे तो यहां पहुंच गए हैं कि—"स्त्रियों के आत्मा ही नहीं है। और जहां आत्मा ही न है उन्हें मोक्ष भी किसलिये ?"

भारतीय स्त्रियों की मेहनत का पुरुष अनुचित लाभ उठाते हैं कभी-कभी वे घर में थोड़ा भी ध्यान नहीं देते । वे बाल-बच्चों की दे रेख नहीं करते। बीमारी में सेवा-शुश्रूषा नहीं करते। रात में जाग नहीं करते । यदि बच्चा रोने लगा तो नाराज होने लगते हैं। बेचा माता बच्चे को गोद में लेकर बैठती है। उसके लिए अपने पैरों का पल बनाती है। वह रुआंसी हो जाती है। पति की नींद कहीं भंग न हो इस वह कितना खयाल रखती है !

पति चाहे कैसा ही हो पत्नी उसे निभा लेती है। वह परिवार इज्जत बचाती है। वह परिवार की लज्जा उघड़ने नहीं देती। वह भूखी रहेगी, पीसना-कूटना करेगी; लेकिन परिवार का काम चला रहेगी। उतने में ही बाल-बच्चों का खर्च चला लेगी। यदि उसके बच्चों को देने के लिए मिठाई नहीं होगी तो वह उनका चुम्बन लेंगे

उन्हें प्यार करेगी और उन्हें हँसायेगी। वह अपना दुःख, अपने अश्रु किसी को नहीं दिखायेगी। अपने दुःख केवल उसे ही मालूम रहते हैं।

पति की लहर-मेहर के अनुसार ही काम करना उसका धर्म हो जाता है। पति चाहे आठ बजे आए, चाहे दस बजे, वह उसकी राह देखती रहती है। पति देर से आने पर पूछता है, "तुमने खाना क्यों न खा लिया?" यदि उसने पत्नी के हृदय में झांका होता तो ये शब्द न कहता।

पति के मुंह की हँसी पत्नी का सर्वस्व है। वह पति की मुद्रा की ओर हमेशा देखती रहती है। पति के होंठों पर व आंखों में मुसकान देखकर मानो उसे मोक्ष मिल जाता है। पति ने मीठे शब्द कहे कि उसे सब-कुछ मिल गया। भारतीय सती कितनी अल्प सन्तोषी है! लेकिन उसे यह अल्प सन्तोष भी नहीं मिलता है।

पापी, दुर्गुणी, दुराचारी पतियों की भी सेवा भारतीय स्त्रियां करती रहती हैं। एक बार जिससे सम्बन्ध जुड़ गया है उसे कैसे तोड़ा जा सकता है? यदि किन्हीं जातियों में तलाक प्रचलित भी हो तो वह संस्कृति का चिह्न नहीं है। यदि किन्हीं जातियों में पुनर्विवाह होते हों तो भी वह संस्कृति का चिह्न नहीं है। स्त्रियां मानो देवियां हैं। उनका आदर्श महान् है। उनका ध्येय दिव्य है।

पति यदि दुर्वृत्त हो तो उसे छोड़ा थोड़े ही जा सकता है! एक बार हमने उसे अपना कह दिया है। अपनेपन का रिश्ता पारस पत्थर के समान है। यदि अपना लड़का उद्दण्ड हुआ तो क्या हम उसे छोड़ देंगे? यदि सारा संसार उसे बुरा कहता है तो क्या मैं भी उसे बुरा कहूंगा? फिर उसके ऊपर प्रेम कौन करेगा? वह किसके मुंह की तरफ देखेगा? कहां जायगा? जैसा बच्चा वैसा ही पति। सारा संसार मेरे पति को भला-बुरा कहे, उसे दुतकारे, तब भी मुझ तो ऐसा नहीं करना चाहिए। यदि मैंने ही उसे दुःख दिया, मैंने ही उससे प्रेमपूर्वक बात नहीं की, उसे प्रेम के साथ खिलाया-पिलाया नहीं तो फिर यह किसलिये है? सारा संसार धक्का दे देगा; लेकिन घर धक्का नहीं दे सकता। घर मानो आधार है। घर मानो आशा है। घर मानो आराम है। घर मानो प्रेम है। घर मानो

आत्मीयता है। मैं इस घर को अपने पति और पुत्रों के लिए प्रेम से भरे रखूंगी।

आशा भारतीय स्त्रियों की मानो दृष्टि है। पति बुरा है, पति से हमारी बनती नहीं है--ऐसा कहकर यदि बहुत-से तलाक होने लगें तो फिर उससे क्या लाभ होगा? फिर संसार में प्रेम, त्याग आदि शब्दों का अर्थ ही क्या होगा? संसार में एक को दूसरे से बनाना पड़ता है। संसार मानो सहयोग है। संसार मानो समझौता है। संसार मानो देन लेन है। लेकिन पति सहयोग न करे तो क्या मैं उसे छोड़ दूं? त्यागम प्रेम से मैं उसी के साथ रहूंगी। इसी में मेरे प्रेम की शक्ति है। जो दुर्गुण को भी संभाल ले वही प्रेम है। मैं आशा हूं, सेवा करूंगी, प्रेम दूंगी कुछ भी हो, आखिर मनुष्य ईश्वर का ही अंश है। एक दिन मेरे पति व दिव्यता प्रकट होगी। यदि उसके आत्मारूपी चन्द्रमा को ग्रहण लग गय है तो क्या मैं उसे छोड़ दूं? उल्टे मुझे तो उसके प्रति अनुकम्पा अनुभ होनी चाहिए। मुझे बुरा लगना चाहिए। सारा संसार उस पर हँसता तो क्या मैं भी उस पर हँसूं? नहीं, नहीं; अपने प्राणों से मैं उसे संभालूंगी उसे संभालते-संभालते शायद मुझे अपना बलिदान भी करना पड़े, को चिन्ता नहीं। वह बलिदान भी व्यर्थ नहीं होगा। जो मेरे जीवन से नहं हुआ है वह मृत्यु से हो जायगा। सिन्धु की मृत्यु से सुधाकर की आंर खुल जाती हैं। सिन्धु की मृत्यु व्यर्थ नहीं गई।[1]

संसार में हमें एक-दूसरे को सुधारना है। बुद्धिहीन बालकों क पढ़ाना ही गुरु की कसौटी है। यदि बुद्धिहीन बालकों को हटा दिया तो फिर वह कैसा गुरु? बुद्धिहीन बालकों को देखकर गुरु की प्रतिभा का स्रोत बह निकलना चाहिए। उसे अनुभव होना चाहिए, यहां हमारी कला के लिए सच्चा मौका है, प्रयोग का पूरा अवसर है। स्त्री पति के लिए यही बात कहेगी। मैं अपने उद्दण्ड पति की गुरु बनूंगी। उसे सुधारना ही मेरा दिव्य कम है। मैं आशा से प्रयत्न करती रहूंगी।

इब्सन का एक पीरजिण्ट नामक एक नीतिनाट्य अथवा काव्यात्मक

---

१. राम गणेश गडकरी के एक मराठी नाटक का कथानक।

नाटक है। पीरजिण्ट की पत्नी जंगल की एक झोंपड़ी में उसकी राह देखती है। पीरजिण्ट संसारभर में भटकता रहता है। संसार में बहुत-से अनुभव प्राप्त करता है। बहुत दिनों के बाद वह थका हुआ पत्नी के द्वार पर आकर खड़ा हो जाता है। पत्नी अच्छी हो गई है। वह चर्खे पर सूत कात रही है। पति आयगा, इस आशा से भरे हुए गीत गा रही है।

पीरजिण्ट—देखो मैं आ गया हूं। थककर चूर हो गया हूं।

वह—आओ। आ गए? मुझे ऐसा लग ही रहा था कि तुम आओगे। मैं तुम्हें अपनी गोद में सुलाती हूं। तुम्हें गीत सुनाती हूं।

पीरजिण्ट—अब भी तुम मुझे प्रेम करती हो?

वह—तुम अच्छे ही हो।

पीरजिण्ट—क्या मैं अच्छा हूं? मुझे सारा संसार बुरा कहता है। क्या मैं तुझे अच्छा दिखाई देता हूं?

वह—हां।

पीरजिण्ट—मैं तो बुरा हूं। मैं कहां अच्छा हूं?

वह—अपनी आशा में, प्रेम में, स्वप्न में तुम मुझे अच्छे ही दिखाई देते हो।

इस प्रकार उस पुस्तक का अन्त हुआ। 'मेरी आशा में, मेरे प्रेम में, मेरे स्वप्न में' ये हैं अन्तिम शब्द। इन शब्दों में स्त्रियों का सारा जीवन समाया हुआ है। पति को देखने की उसकी दृष्टि ही भिन्न होती है। वह जिन आंखों से देखती है, उसकी कल्पना हमें कैसे हो सकती है! पत्नी के प्रेमी हृदय में इस प्रकार की अमर आशा रहती है कि पति कितना ही दुर्वृत्त क्यों न हो वह एक-न-एक दिन अच्छा व्यवहार करने लगेगा।

घर मानो एक-दूसरे को मनुष्यता सिखाने की पाठशाला है। पागल कुत्ता लोगों को क्यों काटता रहता है? वह कुत्ता संसार से द्वेष नहीं रखता। उसके दांतों में जहर भरा रहता है। उसे लगता है कि इस जहर को कहीं उगल दे। यही हाल मनुष्य का भी है, उसे लगता है कि अपना काम-क्रोध वह किसी पर उगल दे। जब उसे कहीं उगल देता

है तो उसे शान्ति अनुभव होती है। घर मानो इसी जहर को उगलने की जगह है। पति आयगा और बच्चों पर नाराज होगा। जिसके सास-ससुर हैं वह बहू अपने बच्चों पर कोपित होगी। अपने विकारों को प्रकट करने के लिए कहीं-न-कहीं तो स्थान मिलना ही चाहिए।

पत्नी कहती है, "घर में चाहे जो, करो, लेकिन संसार में ठीक तरह चलो। सारी गन्दगी घर में ले आओ। मैं उसे साफ करने की शक्ति रखती हूं। मेरे ऊपर चिल्लाओ, मेरे ऊपर क्रोध करो। अपना काम-क्रोध शान्त हो जाने दो। अपना पशुत्व मुझमें होम दो। मैं तुम्हारे पशुत्व को होमने की पवित्र वेदी हूं। बाहर मनुष्य बनकर जाओ। पशुपति बन कर जाओ। शिव बनकर जाओ।"

स्त्री सत्-स्वरूप पति को शिवशंकर बनानेवाली शक्ति है। पत्नी पति को मानवता सिखाती है। वह उसे शान्त करती है, स्थिर करती है, उस पर बन्धन लगाती है, संयम सिखाती है, मर्यादा सिखाती है।

लेकिन यह सब करने के लिए पत्नी के प्रेम में शक्ति भी होनी चाहिए। उसका प्रेम कमजोर नहीं होना चाहिए। उसकी सेवा शक्ति-हीन नहीं होनी चाहिए। उसके प्रेम में एक प्रकार का तेज और अमरता होनी चाहिए। धीरोदात्तता होनी चाहिए। चुपचाप रोते रहना प्रेम नहीं है। प्रेम रोता नहीं, दृढ़ता देता है। प्रेम कर्तव्य करने के लिए कमर कस लेता है। पति शराब पीता है। मैं नहीं पीने दूंगी। पति सिगरेट पीता है तो मैं उसे नहीं पीने दूंगी। क्या इस मुख-कमल को उस गन्दे धुएं से भर लेना चाहिए? क्या वे सुन्दर होंठ काले हो जाने चाहिएं? पान खाकर लगातार पिचकारियां लगाते रहते हो, मैं यह नहीं करने दूंगी। पति मेरी अमूल्य निधि है। मैं उसे संभालकर रखूंगी। मैं उसे कभी मलिन न होने दूंगी। यदि पति को निर्मल रखने के लिए मरना पड़ा तो भी कोई बात नहीं। मैं पति के व्यसन में उसकी सहायता नहीं करूंगी। मैं उसका रास्ता रोककर खड़ी रहूंगी। जबतक मैं जिन्दा हूं, पति के पास व्यसन कैसे आ सकता है? मैं अपने जीवन का सुदर्शन उसकी ओट में रखूंगी।

भारतीय संस्कृति में एक ऐसी कथा है कि मांडव्य ऋषि को उनकी

पत्नी वेश्या के पास ले जाती है। यह आदर्श की पराकाष्ठा है। इस त्याग और धैर्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। पति-इच्छा ही मेरी इच्छा है। यदि वह गोबर मांगेंगे तो मैं निरहंकारिता से गोबर दूंगी। मेरा हाथ पति का ही हाथ है। मेरे हाथ से उसे जिसकी जरूरत होगी, उसे ले लेगा। मेरे हाथ उसके लिए हैं। मैं तो केवल एक दासी हूं।

लेकिन मैं इस आदर्श की कल्पना नहीं कर पाता हूं। मुझे प्रतीत होता है कि भारतीय स्त्रियों का आदर्श दुर्वल नहीं होना चाहिए। मैं नहीं कह सकता कि उपर्युक्त आदर्श दुर्वल है। मैं पति के साथ चढ़ूंगी या गिरूंगी। जहां पति वहीं मैं, जहां उसकी इच्छा वहीं मेरी। इस उपर्युक्त आदर्श के सामने मेरी आंखें वन्द हो जाती हैं। मुझे चक्कर आने लगता है।

सुधार के अनेक मार्ग होते हैं। उनमें से यह भी एक मार्ग हो सकता है, लेकिन यह वहुत ही कठिन है। यह भारतीय स्त्री का सर्वमान्य आदर्श नहीं हो सकता। आज भारतीय स्त्रियों का आदर्श दुर्वल हो गया है। मैं यही कहना चाहता हूं कि वह प्रखर होना चाहिए। यदि तलाक के लिए कानून वन गया तो मैं उसकी आलोचना नहीं करूंगा; लेकिन यदि आप ऐसा अनुभव करते हैं कि प्रेम, त्याग, सहयोग, सुधार आदि शव्दों का कुछ-न-कुछ अर्थ शेष रहे तो पति-पत्नी का एक-दूसरे को कभी न छोड़ना ही मुझे श्रेयस्कर प्रतीत होता है। इसी में मनुष्यता है। इसी में मनुष्य की दिव्यता है।

भारतीय स्त्रियों के व्रतों में से दुर्वलता नष्ट होकर उनमें प्रखरता आए। इसी प्रकार उनकी प्रेम-वृत्ति में विशालता आनी चाहिए। स्त्रियों का प्रेम गहरा होता है, लेकिन उसमें लम्वाई-चौड़ाई, नहीं होती। उनकी दृष्टि की मर्यादा अत्यन्त संकुचित होती है। कुटुम्व के वाहर उनका ध्यान अधिक नहीं होता। इसीलिए परिवार में उनको झगड़े का मूल कहा जाता है। स्त्रियों का क्षितिज वड़ा होना चाहिए। उन्हें अपने आस-पास का भी विचार करना चाहिए। उन्हें सांसारिक सुख-दुःख की कल्पना होनी चाहिए। भेद-भाव कम करना चाहिए। उन्हें यही नहीं अनुभव करना चाहिए कि पति और अपने वाल-वच्चों के परे संसार ही नहीं है।

वकील की पत्नी को ऐसा प्रतीत होता है कि मैं सुखी हूं। मेरा पति खूब रुपये कमाता है। मेरे बच्चों के पास कपड़े हैं। वे अच्छी तरह शिक्षा प्राप्त करते हैं। रहने के लिए सुन्दर बंगला, बजाने के लिए रेडियो, घर में नौकर-चाकर सब-कुछ है।

लेकिन उसे अपनी दृष्टि विशाल करनी चाहिए। ये रुपये कहां से आते हैं? मेरा पति कुछ बुरा-भला तो नहीं करता? किसानों के झगड़े मिटाने के बजाय वह यह तो नहीं देखता कि वे कैसे बढ़ें? पति मुझे गहने पहना रहा है, मेरे लिए रेशमी साड़ी ला रहा है; लेकिन इस वैभव के लिए उधर कोई नंगा तो नहीं हो रहा है? इस प्रकार का विचार स्त्रियों को करना चाहिए।

व्यापारी की पत्नी को भी अपने मन में यही बात सोचनी चाहिए, कि मेरा पति कहीं गरीबों को परेशान तो नहीं कर रहा है? गरीबों के बच्चे भूखे तो नहीं रहते? अनुचित लाभ तो नहीं उठाया जा रहा है? ज्यादा ब्याज तो नहीं लिया जा रहा है? वह विदेशी माल का व्यापार तो नहीं कर रहा है?

सरकारी नौकर की पत्नी को सोचना चाहिए कि—मेरा पति रिश्वत तो नहीं लेता? ये रुपये कहां से आते हैं? यह घी, ये सब्जियां कहां से आती हैं? मेरा पति अन्याय तो नहीं करता है? वह अन्यायी कानून तो लोगों पर नहीं लादता है? वह जनता का ठीक-ठीक हित-साधन कर रहा है न?

भारतीय स्त्रियां अपने मन में इस प्रकार के विचार कभी नहीं करतीं। पति उन्हें अज्ञान-अन्धकार में रखते हैं। लेकिन उन्हें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि पति के पाप में वे भी भागीदार हैं।

मेरा साहूकार पति हजारों किसानों को रुलाकर मुझे सोने और मोती से सजाता है। मेरा वकील पति सैकड़ों किसानों को भिखारी बनाकर मुझे अच्छी-अच्छी साड़ियां पहना रहा है। मेरा डॉक्टर पति गरीब भाई-बहनों से भी कितनी फीस लेकर मेरे लिए रेडियो खरीदकर लाता है। मेरा कारखानेदार पति हजारों मजदूरों का शोषण करके मुझे अपने महलों

में हँसा रहा है। मेरा अफसर पति जनता को तकलीफ पहुंचाकर पैसे ला रहा है। यदि भारतीय स्त्रियों के मन में ये विचार जागृत हो जायं तो वे घबराकर उठेंगी; क्योंकि धर्म ही भारतीय स्त्रियों का जीवन है।

भारतीय स्त्रियां 'ईश्वर-ईश्वर' पुकारती हैं; लेकिन अज्ञान के कारण उन्हें यह मालूम नहीं होता कि उनकी गृहस्थी पाप के ऊपर चल रही है। भारतीय स्त्रियों को ऐसे अज्ञान में नहीं रहना चाहिए। उन्हें अपनी दृष्टि व्यापक व निर्मल करनी चाहिए, तभी जीवन में धर्म समा सकेगा। उन्हें न तो यह मालूम होता है कि पति कहां से और कैसे रुपए लाता है और न उनको इस बात का ही पता रहता है कि दान-धर्म किया हुआ, मन्दिर में चढ़ाया हुआ और तीर्थ में दान किया हुआ पैसा कहां जाता है। पति घर में जो पैसा लाता है, वह भी पाप से और दान-धर्म किया हुआ पैसा भी आलस्य, दम्भ, पाप तथा व्यभिचार आदि की ओर जाता है। ये बातें स्त्रियों को तभी मालूम होंगी जब वे इन पर विचार करेंगी।

और फिर उन रेशमी कपड़ों से उनके शरीर जलने लगेंगे। वे अलंकार उन्हें अंगारे-जैसे लगेंगे। मकान की मंजिलें उन्हें नरक-जैसी लगने लगेंगी। वे अपने पतियों को अच्छे रास्ते पर लाने का प्रयत्न करेंगी। भारतीय स्त्रियां ध्येय का पालन करनेवाली हैं। समाज में जो नये ध्येय बनते हैं वे स्त्रियों तक पहुंचने चाहिएं। तभी वे अमर होंगे। भारत में गाय का महत्त्व उत्पन्न हुआ। स्त्रियों ने ही उसे टिकाया। पवित्रता का तत्त्व पैदा हुआ, उन्होंने उसे पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। पतिव्रत का ध्येय निकला, उसे भी उन्होंने पराकाष्ठा पर पहुंचाया। मकान के दरवाजे पर कोई आए तो वे उसे मुट्ठीभर अनाज दिये बिना नहीं रहतीं। वे कहेंगी कि—'रूप बदलकर कोई देवता ही आया होगा।' एक ओर पवित्रता के ध्येय के कारण छुआछूत की पराकाष्ठा और दूसरी ओर ईश्वर सब जगह है इस तत्त्व के कारण दरवाजे पर कोई भी आए 'उसे मुट्ठीभर अनाज दो' कहने में प्रत्यक्ष आचार। उन्होंने ही एकादशी आदि के व्रत रखे हैं। उन्हें ही नदी पर स्नान करने और तीर्थयात्रा करने

की उत्कट इच्छा रहती है।

स्त्रियां कदाचित् नये ध्येय का निर्माण नहीं करतीं; लेकिन उनके निर्माण हो जाने पर फिर वे उन्हें मरने भी नहीं देतीं। जिस प्रकार पुरुष बाहर से अनाज आदि चीजें लाता है, लेकिन उन्हें घर में संभालकर रखने, फैलने न देने, गन्दा न होने देने का काम स्त्रियों का होता है, उसी प्रकार समाज में जिन-जिन ध्येयों का निर्माण होता है, उन्हें न मरने देने का काम भी स्त्रियों का ही है। जिस प्रकार बीमार होने पर बच्चों की सार-संभाल करना मुख्यतः स्त्रियों का ही काम है, उसी प्रकार ध्येय-रूपी बालक को भी सुरक्षित रखना उनका ही काम है। पुरुष अपने ही खून के बच्चों की उपेक्षा कर देगा, लेकिन स्त्री ऐसा नहीं कर सकेगी। इसी प्रकार पुरुषों द्वारा निर्माण किये हुए ध्येय पुरुष छोड़ देंगे; लेकिन स्त्रियां उन्हें नहीं छोड़ेंगी। राजा मोरध्वज अतिथि के साथ भोजन करने में हिचकता है। उसे धैर्य नहीं रहता; लेकिन रानी उसका हाथ पकड़कर उसे बैठाती है। वह अपने ध्येय बालक को मरने नहीं देना चाहती।

भारतीय स्त्रियों की यह महान् विशेषता है और उसे ध्यान में रखना चाहिए। आज जो-जो नये ध्येय बनें वे सब स्त्रियों तक पहुंचने चाहिएं, तभी वे टिक सकेंगे। हरिजन-सेवा, ग्रामोद्योग, खादी, स्वदेशी आदि नवीन व्रत, ये दयामय व प्रेममय व्रत, यह सेवा-धर्म उनके हृदय तक पहुंचना चाहिए। स्त्रियों की धर्म-बुद्धि को जागृत कीजिए। यह नवधर्म उन्हें पढ़ा दीजिए। जब वह उन्हें समझ में आ जायगा तब वह राष्ट्र-धर्म हो जायगा। जो-कुछ स्त्रियों के पेट में जायगा वह नष्ट नहीं होगा।

इसीलिए माता के रूप में ही भारतीय स्त्री की अपार महिमा है। वह सार-संभाल करनेवाली है—बच्चों को संभालनेवाली, पति को संभालनेवाली, ध्येय को संभालनेवाली। वह किसी को भी मरने नहीं देती है। वह सबको प्रेम देती, आशीर्वाद देती और सेवा करती है। वह ईश्वर का ही रूप है। भक्तों ने भी ईश्वर के लिए 'मां' शब्द ही पसन्द किया, क्योंकि ईश्वर का जो पालन-पोषण का कार्य है, सबकी जिम्मेदारी

अपने ऊपर लेने का जो कार्य है वह माता ही करती है। ईश्वर को मां कहकर पुकारने से बढ़कर और कोई उपयुक्त अर्थवाली पुकार नहीं है। यदि ऐसी कोई वस्तु है जिससे ईश्वर के प्रेम की कल्पना हो सकती है तो वह मां ही है।

इसीलिए भारतीय संस्कृति सब जगह माता की वन्दना करती है। उपनिषद् में आचार्य एहिक देवताओं का नाम बताते हुए—प्रत्यक्ष संसार के नाम बताते हुए प्रथम 'मातृदेवो भव' कहते हैं। पहले माता, फिर पिता। पति-पत्नी में पहले 'पति' है; लेकिन माता-पिता में पहले 'मां' है। पति को पिता होना है। पत्नी को माता होना है। और इन दोनों में माता का स्वरूप अधिक उदात्त और अधिक श्रेष्ठ है।

इसीलिए अन्त में भारतीय संस्कृति मातृ-प्रधान है। माता की तीन प्रदक्षिणा करना मानो सारी पृथ्वी की प्रदक्षिणा करना है। माता-पिता की सेवा करना मानो मोक्ष को प्राप्त करना है। 'न मातुः परं दैवतम्'; माता के अलावा कोई देवता नहीं है। मां के ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकते।

विट्ठल (ईश्वर) मां है। भारत मां है। गाय मां है। भारतवर्ष में सब जगह माता की महिमा गाई गई है। माता की वन्दना पहले की जाती है। कोई भी मंगल-कार्य क्यों न हो, सबसे पहले मां को प्रणाम किया जाता है।

पति के हजारों अपराध हजम करके उसे क्षमा करनेवाली, अपने बच्चों को संभालनेवाली और भारतीय ध्येय की रक्षा करनेवाली माता को अनन्त प्रणाम !

और पति के साथ-साथ हँसते-हँसते चिता पर चढ़नेवाली सती अथवा उसकी मृत्यु के बाद उसका चिन्तन करते हुए वैराग्य से व्रतमय जीवन व्यतीत करनेवाली विधवा इन दोनों का वर्णन कौन कर सकता है ! भारत में सतियों की समाधि 'विवाह क्या है' इस विषय पर दिये हुए मूक प्रवचन हैं। ये समाधियां भारत को पवित्रता देती हैं। जगह-जगह पर लिखा हुआ यह यज्ञमय इतिहास है।

और गतधवा ? गतधवा नारी मानो प्रतिक्षण जलनेवाली चिता

हैं। भारतीय बाल-विधवा मानो करुण कथा है। उसे आस-पास के विलासितापूर्ण संसार से विरक्त रहना पड़ता है। उसका प्रत्येक क्षण कसौटी होता है। उसे मंगल वाद्य सुनाई देते हैं, मंगल समारम्भ होते हैं। कहीं विवाह है, कहीं गोद भरी जाती है, ऋतु-शान्ति होती है, कहीं नामकरण-संस्कार होता है। लेकिन उसके लिए सारे समारम्भ वर्ज्य हैं। घर के एक कोने में यह गला कटी हुई कोकिला बैठी रहती है। उसके ऊपर व्रत लाद दिये जाते हैं। सारे विधि-निषेध उसी के लिए होते हैं। सारे संयम उसी के लिए होते हैं।

इसी तरह आग में से वह दिव्य तेज लेकर बाहर निकलती है। वह बालकृष्ण से बातें करती है, उसका शृङ्गार करती है, उसे नैवेद्य लगाती है। ईश्वर ही उसका बच्चा है। वह ईश्वर की मां है। यशोदा है। लेकिन इस यशोदा को अपयशी समझा जाता है। उसके दर्शन नहीं किये जाते।

सबकी सेवा करना ही उसका काम है। वह किसी की प्रसूति करती है, किसी का भोजन बनाती है, परिवार में कोई बात अटक जाती है तो उसे बुलाया जाता है। उसके लिए स्वतन्त्रता नहीं होती। विनोद नहीं, आनन्द नहीं। संसार का सारा अपमान सहन करके संसार का भला सोचना ही उसका ध्येय होता है।

भगवान् शंकर हलाहल पीकर संसार का कल्याण करते हैं। यही विधवा के लिए भी है। वह निन्दा, अपमान, गाली-गलौज आदि का विष चुपचाप पीती है और फिर सेवा के लिए तैयार रहती है।

आदर्श विधवा संसार की गुरु है। वह संयम और सेवा की मूर्ति है। अपना दुःख पीकर संसार के लिए परिश्रम करनेवाली देवी है।

भारतीय संस्कृति में यह एक बहुत बड़ा आदर्श है। ऐसी दिव्य देवी के सामने सत्रह बार विवाह करनेवाले पुरुष सूअर की तरह लगते हैं। स्त्री-जाति धन्य प्रतीत होती है।

आदर्श उच्च होना चाहिए; लेकिन जो उसे उठा नहीं सकता उसे वह बताने से कोई लाभ नहीं है। श्रीकृष्ण अर्जुन को मार-पीटकर संन्यासी बनाना नहीं चाहते थे। माता-पिता को भी बाल-विधवाओं को कुमारी

जैसी ही समझकर उनका विवाह कर देना चाहिए। लेकिन इस बात में भी उसे स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। यदि वे स्त्री-जाति के उदात्त ध्येयों की पूजा करना चाहें तो उन्हें उसके लिए स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। लेकिन वहुत ऊंचे ध्येय पकड़ने के लिए जाने पर गिरने की संभावना रहती है। इसकी अपेक्षा जरा छोटा ध्येय लेकर उसके ऊपर अपने पैर अच्छी तरह जमाकर खड़े रहना अधिक श्रेयस्कर है।

: १५ :

मानवेतर सृष्टि से प्रेम का संबंध

मनुष्य के नीतिशास्त्र में सारी चराचर सृष्टि का विचार किया जाना चाहिए। यदि मनुष्य केवल मनुष्य के हित की वातों को ही देखे तब अन्य पशु-पक्षियों की कोटि में आ जायगा। जब मानव, मानवेतर सृष्टि का जहां तक संभव हो, पालन-पोषण करेगा, मानवेतर सृष्टि के साथ भी आत्मीयता का संबंध स्थापित करेगा तभी वह सारी सृष्टि में श्रेष्ठ सिद्ध होगा। 'मैं सारी सृष्टि का संहार करता हूं, इसलिए वड़ा हूं', इस प्रकार कहने के वजाय यदि वह कहे कि 'मैं सारी सृष्टि पर प्रेम करता हूं, इसलिए वड़ा हूं' तो इसमें सच्चा वड़प्पन है।

पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि से ऐसा ही आत्मीयता का संबंध जोड़ने का प्रयत्न भारतीय संस्कृति ने किया है। मानवीय कुटुम्ब में उन्हें प्रेम का स्थान दिया गया है। मानवी शक्ति मर्यादित है, लेकिन उस मर्यादित शक्ति से जो कुछ हो सकता है वह मानव को करना चाहिए, यह वात भारतीय संस्कृति कहती है। हम सारे पशुओं की सार-संभाल नहीं कर सकते, सवके साथ प्रेम का व्यवहार नहीं कर सकते तो कम-से-कम गाय-वैल के साथ तो प्रेम का संबंध जोड़ ही लें। सारी पशु-सृष्टि चाहे दूर रहे; लेकिन आइये, गाय के निमित्त से हम संसार के साथ संबंध जोड़ें। गाय पशु-सृष्टि की एक प्रतिनिधि है।

भारतीय संस्कृति में गाय केवल उपयोगी वस्तु के रूप में ही नहीं

है। भारतीय बाल-विधवा मानो करुण कथा है। उसे आस-पास के विलासितापूर्ण संसार में निरस रहना पड़ता है। उसका प्रत्येक क्षण कसौटी होता है। उसे मंगल वाद्य सुनाई देते हैं, मंगल समारम्भ होते हैं। कहीं विवाह है, कहीं गोद भरी जाती है, ऋतु-शान्ति होती है, कहीं नामकरण-संस्कार होता है। लेकिन उसके लिए सारे समारम्भ वर्ज्य हैं। घर के एक कोने में वह गला कटी हुई कोकिला बैठी रहती है। उसके ऊपर व्रत लाद दिये जाते हैं। सारे विधि-निषेध उसी के लिए होते हैं। सारे संयम उसी के लिए होते हैं।

इसी तरह आग में से वह दिव्य तेज लेकर बाहर निकलती है। वह बालकृष्ण से बातें करती है, उसका शृङ्गार करती है, उसे नैवेद्य लगाती है। ईश्वर ही उसका बच्चा है। वह ईश्वर की मां है। यशोदा है। लेकिन उस यशोदा को अपयशी समझा जाता है। उसके दर्शन नहीं किये जाते।

सबकी सेवा करना ही उसका काम है। वह किसी की प्रसूति करती है, किसी का भोजन बनाती है, परिवार में कोई बात अटक जाती है तो उसे बुलाया जाता है। उसके लिए स्वतन्त्रता नहीं होती। विनोद नहीं, आनन्द नहीं। संसार का सारा अपमान सहन करके संसार का भला सोचना ही उसका ध्येय होता है।

भगवान् शंकर हलाहल पीकर संसार का कल्याण करते हैं। यही विधवा के लिए भी है। वह निन्दा, अपमान, गाली-गलौज आदि का विष चुपचाप पीती है और फिर सेवा के लिए तैयार रहती है।

आदर्श विधवा संसार की गुरु है। वह संयम और सेवा की मूर्ति है। अपना दुःख पीकर संसार के लिए परिश्रम करनेवाली देवी है।

भारतीय संस्कृति में यह एक बहुत बड़ा आदर्श है। ऐसी दिव्य देवी के सामने सत्रह बार विवाह करनेवाले पुरुष सूअर की तरह लगते हैं। स्त्री-जाति धन्य प्रतीत होती है।

आदर्श उच्च होना चाहिए; लेकिन जो उसे उठा नहीं सकता उसे वह बताने से कोई लाभ नहीं है। श्रीकृष्ण अर्जुन को मार-पीटकर संन्यासी बनाना नहीं चाहते थे। माता-पिता को भी बाल-विधवाओं को कुमारी

जैसी ही समझकर उनका विवाह कर देना चाहिए"। लेकिन इस बात में भी उसे स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। यदि वे स्त्री-जाति के उदात्त ध्येयों की पूजा करना चाहें तो उन्हें उसके लिए स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। लेकिन बहुत ऊंचे ध्येय पकड़ने के लिए जाने पर गिरने की संभावना रहती है। इसकी अपेक्षा जरा छोटा ध्येय लेकर उसके ऊपर अपने पैर अच्छी तरह जमाकर खड़े रहना अधिक श्रेयस्कर है।

: १५ :

मानवेतर सृष्टि से प्रेम का संबंध

मनुष्य के नीतिशास्त्र में सारी चराचर सृष्टि का विचार किया जाना चाहिए। यदि मनुष्य केवल मनुष्य के हित की बातों को ही देखे तब अन्य पशु-पक्षियों की कोटि में आ जायगा। जब मानव, मानवेतर सृष्टि का जहां तक संभव हो, पालन-पोषण करेगा, मानवेतर सृष्टि के साथ भी आत्मीयता का संबंध स्थापित करेगा तभी वह सारी सृष्टि में श्रेष्ठ सिद्ध होगा। 'मैं सारी सृष्टि का संहार करता हूं, इसलिए बड़ा हूं', इस प्रकार कहने के बजाय यदि वह कहे कि 'मैं सारी सृष्टि पर प्रेम करता हूं, इसलिए बड़ा हूं' तो इसमें सच्चा बड़प्पन है।

पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि से ऐसा ही आत्मीयता का संबंध जोड़ने का प्रयत्न भारतीय संस्कृति ने किया है। मानवीय कुटुम्ब में उन्हें प्रेम का स्थान दिया गया है। मानवी शक्ति मर्यादित है, लेकिन उस मर्यादित शक्ति से जो कुछ हो सकता है वह मानव को करना चाहिए, यह बात भारतीय संस्कृति कहती है। हम सारे पशुओं की सार-संभाल नहीं कर सकते, सबके साथ प्रेम का व्यवहार नहीं कर सकते तो कम-से-कम गाय-बैल के साथ तो प्रेम का संबंध जोड़ ही लें। सारी पशु-सृष्टि चाहे दूर रहे; लेकिन आइये, गाय के निमित्त से हम संसार के साथ संबंध जोड़ें। गाय पशु-सृष्टि की एक प्रतिनिधि है।

भारतीय संस्कृति में गाय केवल उपयोगी वस्तु के रूप में ही नहीं

नहीं है। यह ठीक है कि सर्वोपरि उपयोगी होने के कारण उसे मनुष्य ने अपने पास रखा है; लेकिन एक बार आंगन में आ जाने पर गाय परिवार का अंग हो जाती है। यदि मां-बाप बूढ़े हो जायं तो क्या उन्हें कसाई को बेच देंगे ? क्या उन्हें मारकर उनका खाद बनायेंगे ? क्या ऐसा कहेंगे कि इन निरुपयोगी दुबले माता-पिता को रखने से क्या लाभ है ?

माता-पिता बूढ़े हो जाते हैं, फिर भी हम उन्हें नहीं मारते। हम उनके पहले के उपकारों का स्मरण करते हैं। हम इस बात को याद करते हैं कि रात-दिन उन्होंने हमारे लिए कठिन श्रम किया है। उनका प्रेम उनका त्याग, उनका कष्ट, उनका अपार श्रम सब हमारी आंखों के सामने रहता है। हम अपने वृद्ध माता-पिता से कहते हैं कि "अब आप शान्ति से बैठिए। आपको शान्ति के साथ भोजन करना चाहिए। हमें आपका कोई बोझा नहीं लगता। आपकी अनन्त सेवा के लिए हम जितना करें थोड़ा है। हमें आप अपना आशीर्वाद दीजिए। हम अब कृतज्ञता पूर्वक आपकी सेवा करेंगे।"

भारतीय संस्कृति नहीं कहती कि यदि गाय-बैल बूढ़े हो जायं तो उन्हें कसाई के घर भेज दो। जिस गाय ने १०–१०, १५–१५ वर्ष तक खूब दूध दिया, जिसके दूध से ही हमारा सबका पोषण हुआ, जिसने खेती तथा अन्य काम के लिए अपने अच्छे बैल दिये, यदि वह बूढ़ी हो गई तो क्या उसे हमें छोड़ देना चाहिए ? यह तो कृतघ्नता होगी। मनुष्य केवल उपयोगिता के आधार पर जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य में कुछ महान् भावनाएं हैं। उन भावनाओं के कारण ही मनुष्य की कीमत है। यह खयाल रखना चाहिए कि यह सारी महान् भावना यदि उपयोगितावाद के हथियार से मार डाली गई तो मनुष्य की कीमत शून्य हो जायगी।

यदि गाय की ठीक तरह सार-संभाल की गई तो १०–१५ वर्ष में वह हमें इतना दूधरूपी धन देगी कि उस धन के व्याज से ही हम बुढ़ापे में उसकी सार-संभाल कर सकेंगे। आजकल चम्मचभर दूध देनेवाली गायें ही इस गो-पूजक भारत में दिखाई देती हैं। 'आइने अकबरी' में

लिखा है कि अकबर के शासनकाल में ३०–३० सेर दूध देनेवाली गायें थीं। आज भी यूरोप-अमरीका के ग्राम-ग्राम में ऐसी गायें हैं। भारत में भी सरकारी 'गो-संवर्धन-गृह' में इस प्रकार की गायें दिखाई देती हैं। नवीन शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर हमें गो-पालन और गो-सेवा करनी चाहिए। यदि ऐसा किया गया तो फिर चार सागरों की भांति दूध से भरे हुए चार थनवाली गायें भारत में दिखाई देने लगेंगी। फिर से जगह-जगह गोकुल बन जायेंगे और गाय का पालन-पोषण जड़ प्रतीक नहीं होगा। उसके बूढ़े हो जाने पर भी हम उसे कृतज्ञतापूर्वक प्रेम के साथ खिला-पिला सकेंगे।

भारतीय संस्कृति गाय को परिवार के एक व्यक्ति की भांति देखना सिखाती है। हम गाय के लिए गो-ग्रास रखते हैं। पहले गाय के लिए परोसकर रखना चाहिए और फिर हमें भोजन करना चाहिए। भोजन करते समय उसका स्मरण करना चाहिए। हम अपने मस्तक पर गंध-कुंकुम लगाते हैं तो गाय के मस्तक पर भी वे लगाने चाहिएं। मनुष्य कहता है, "गाय, तू मूक है। तेरा स्मरण पहले करना चाहिए। मैं तेरे रूप में सारे पशुओं का स्मरण करता हूं। तेरा तर्पण करके मैं समझता हूं कि सारे पशुओं का तर्पण हो गया।"

भारतीय संस्कृति में सब जगह गाय है। गाय के बछड़ों के साथ खेलते हुए भारतीय बालक बड़े होते हैं। गाय के बछड़े मानो उनके भाई हैं।

हम बच्चों का बारसा (नामकरण संस्कार) करते हैं। इसी प्रकार गाय का बारसा करने के लिए भी हमने एक दिन निश्चित कर रखा है। दीवाली के पहले आश्विन बदी द्वादशी को हम गाय-बछड़ों की बारस अथवा गोवत्स-बारस अथवा वसु-बारस कहते हैं। बारस का अर्थ है द्वादशी। बारस का मतलब है बारहवां दिवस। आश्विन के कृष्ण पक्ष में जान-बूझकर ही हमने यह गाय का बारसा रखा है। उस दिन हम गाय-बछड़ों की पूजा करते हैं। उस दिन उनका उत्सव होता है। मनुष्यों की दीवाली के पहले गाय-बछड़ों की दीवाली होती है, गाय के बछड़े का जन्म के बाद का बारहवां दिन मानो हम मनाते हैं। उनका बारसा मनाते

हैं। यह भावना कितनी सहृदय है !

जिस प्रकार गाय-बछड़ों की पूजा करते हैं उसी प्रकार हम बैलों की पूजा करते हैं। हम पिठोरी अमावस्या मनाते हैं। इस अमावस्या को बैलों को विश्राम दिया जाता है। उनका शृङ्गार करते हैं, उनके गले में माला पहनाते हैं। किसान स्त्रियों के पैरों के गहने बैलों के पैरों में पहनाये जाते हैं। इस दिन गरीब किसान भी पुरणपोली (एक प्रकार का महाराष्ट्रीय पकवान) बनाता है। बैल को पुरणपोली का नैवेद्य लगाया जाता है और उसके ऊपर घी की धार डाली जाती है। बड़े ठाठ-बाट से बैलों का जुलूस निकाला जाता है। बाजे बजाये जाते हैं। बन्दूक चलाते हैं और बड़ा आनन्द रहता है। यह आनन्द कृतज्ञता का है। जिस बैल की गरदन पर हम जूआ रखते हैं और जिसकी गरदन पर घट्टे पड़ गए, जो धूप-कीचड़ में काम करते हैं, जिन्होंने हल चलाया, चरस चलाई, गाड़ियां खींचीं, गुस्से में आकर हमने जिसे चाबुक लगाये, आर चुभोई, जिसके परिश्रम से हरे-भरे होकर हमारे खेत लहलहाने लगे, और अनाज से सज गए, जिसके परिश्रम से मोती की तरह ज्वार और सोने की तरह गेहूं पकते हैं, उस कष्टमूर्ति बैल के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने का यह परम मंगल दिवस है। इस पिठोरी अमावस्या के दिन की केवल कल्पना करके ही मेरी आंखें प्रेमाश्रुओं से भर जाती हैं और भारतीय संस्कृति की आत्मा दिव्य रूप में दिखाई देने लगती है।

भारतीय संस्कृति के उपासक आज गाय-बैल के साथ कैसा व्यवहार करते हैं ? लेकिन यह दासता, दरिद्रता और अज्ञान का ही परिणाम है। जिस प्रकार अन्य बातें यान्त्रिक हो गई हैं उसी तरह यह त्योहार भी यान्त्रिक हो गया है। उसका गहन भाव मन में नहीं बैठता है। इतना होने पर भी गाय-बैलों पर प्रेम करनेवाले किसान भारत में हैं।

भारतीय संस्कृति कहती है कि गाय-बैलों के साथ प्रेम करो। उनसे पूरा काम ले लो मगर उनका खयाल भी रखो। उनको समय पर पानी पिलाओ, समय पर घास दो। उन्हें चाबुक मत लगाओ, आर मत चुभाओ। एकाध बार आप गुस्से में आकर उन्हें मार देंगे; क्योंकि आखिर आप

नुष्य ठहरे। लेकिन उसमें वैरभाव नहीं होना चाहिए। मनुष्यता मत
भूलिये। गहरी-गहरी आर चुभोकर उनके अंग को छलनी मत बनाइये।
ाप तो उन मूक पशुओं के आशीर्वाद प्राप्त कीजिये। उनके शाप मत
ो। तुम्हारे लिए रात-दिन काम करनेवाले बैलों का हाहाकार तुम्हारा
ल्याण नहीं करेगा। गाय-बछड़े कितने प्रेमल होते हैं! वे तुम्हारी आवाज
नते ही रंभाने लगते हैं। तुम्हारा स्पर्श करते ही नाचने लगते हैं। मालिक
ो मृत्यु पर खाना-पीना छोड़कर प्राण त्याग देनेवाले गाय-बैलों के उदाहरण
ो मिलते हैं।

कुरान में पैगम्बर मुहम्मद साहब कहते हैं, "संध्या होते ही गाय-
छड़े तुम्हारे प्रेम के खातिर जंगल से वापस तुम्हारे घर आते हैं।" यह
तनी बड़ी बात है! सचमुच यह बात मनुष्यों के लिए भूषण-जैसी
।

गाय के द्वारा हमने पशुओं के साथ संबंध जोड़ा। इसी प्रकार हमने
क्षियों के साथ भी संबंध जोड़ा। जिस प्रकार हम अपनी कमजोरी
ार अल्पशक्ति के कारण सारे पशुओं के साथ संबंध नहीं रख सकते
सी प्रकार सब पक्षियों के साथ भी हम संबंध नहीं जोड़ सकते; लेकिन
र के आस-पास जो २-४ पक्षी होते हैं हम उनकी याद रखते हैं। हम
जन करने के पहले गो-ग्रास के समान ही 'काँव-काँव' करके कौवे को
ा काक-बलि देते हैं। चिड़िया और कौवे ही हमारे आस-पास के पक्षी
। हम उन्हीं का स्मरण करते हैं। भोजन करते समय छोटे बच्चे को—
देखो वह कौवा है, देखो वह चिड़िया है," ऐसा कहकर माता उसे कौर
खलाती है। जिन कौवों और चिड़ियों के साथ बच्चे छोटे से बड़े होते
क्या उनके प्रति कृतज्ञता नहीं प्रदर्शित करनी चाहिए? कौवे को पुकार-
र उसके निमित्त से मनुष्य सारे पक्षियों का स्मरण करता है। भोजन करने
पहले गाय के निमित्त से पशुओं का स्मरण किया, कौवे के निमित्त से
क्षियों का स्मरण किया।

भारतीय संस्कृति में पक्षियों की बहुत महिमा है। हमने सुन्दर-सुन्दर
क्षियों के साथ अपने जीवन में संबंध जोड़ लिया है। सुन्दर पंख
ैलानेवाले मोर को हम कैसे भूलें? हमने मोर को पवित्र माना।

सरस्वती के हाथ में वीणा देकर हमने उसे मोर पर विठाया है। हम अपने पुराने लावण्यदीपक पर मोर की आकृति बनाते थे। मोर का दर्शन शुभ मानते हैं और कामना करते हैं कि प्रातःकाल दीपक जलाते समय हमारी दृष्टि मोर पर पड़े।

यही बात कोकिल की है। आठ महीने मौन रहकर वसन्त ऋतु आते ही कुहू-कुहू की ध्वनि से वह सारा प्रदेश गुंजा देती है। मध्य ग्रीष्म ऋतु में पेड़-पौधों में नवपल्लव फूटते हुए देखकर उसकी प्रतिभा में पल्लव फूटने लग जाते हैं। वह कुहू का गीत गाने लगती है; लेकिन वह विनयी होती है, लजीली होती है, वृक्षों की गहरी डालियों में छिपकर वह कुहू कुहू करती रहती है। वह पवित्र, मधुर, गम्भीर और उत्कृष्ट स्वर ऐसा प्रतीत होता है मानो सामगान हो, उपनिषद् ही हो। भारतीय संस्कृति ने कोकिलाव्रत प्रचलित कर दिया है। इस व्रत में कोकिला की आवाज सुने विना भोजन नहीं किया जाता। उसकी आवाज सुनने के लिए यह व्रत करनेवाली स्त्रियां दो-दो कोस तक जगलों में जाती हैं। वे उसकी आवाज सुनकर ही भोजन करती हैं।

कोकिला की ही भांति तोता भी है। हम तोते-मैना को नहीं भुला सकते। हरे-हरे पत्तों के रंगवाले उस तोते की कितनी लाल-लाल और घुमावदार चोंच है! कितने सुन्दर पंख हैं! वह कैसे गरदन मोड़ता है! कैसी सीटी वजाता है! उसके नेत्र कितने छोटे और गोल-गोल हैं! उसका काला कण्ठ कैसा है! वह कैसे विट्ठल-विट्ठल कहता है! किस प्रकार बोलता है! तोते को उस पिंजरे में रहना पसन्द नहीं आता; लेकिन मनुष्य तो उससे प्रेम जोड़ना चाहता है। वह उसकी चिन्ता रखता है, अपने मुंह में अमरूद की फांक पकड़कर उसे तोते के सामने करता है, अपने मुंह का कौर उसे देता है। पिंजरे को हरा-हरा रंगकर उसे हरे वृक्षों की विस्मृति कराना चाहता है। यह सब मनुष्य प्रेम से करता है। पक्षियों को इस प्रकार वन्धन में रखकर उनसे प्रेम करना अच्छा नहीं लगता; लेकिन यह इस वात का उदाहरण है कि मनुष्य की आत्मा इतर प्राणियों के साथ संवंध जोड़ने के लिए कितनी व्याकुल रहती है!

हम अपने वच्चों के नाम पक्षियों के नाम पर रखते हैं। सुआलाल,

पोपटलाल, मिट्ठूलाल, मैना, हंसी, चिमनाबाई, कोकिला आदि नामों से हम परिचित ही हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार का स्नेह-संबंध और अपनापन भारतीय संस्कृति में पक्षियों से जोड़ा गया है।

पशु-पक्षियों के समान तृण, वृक्ष, वनस्पति के साथ भी भारतीय संस्कृति प्रेम का संबंध जोड़ती है। मनुष्य सारी वनस्पति को लगा नहीं सकता। वह तो आकाश के वादलों का काम है; लेकिन हम तुलसी का एक छोटा पौधा लगाते हैं। और इस तुलसी को वनस्पति-सृष्टि का एक प्रतिनिधि मानते हैं। उसकी पूजा पहले करते हैं, उसे पहले पानी देते हैं। उसे पानी पिलाये विना स्त्रियां पानी नहीं पीतीं। पहले तुलसी का स्मरण किया जाता है। तुलसी का स्मरण मानो सारी वनस्पतियों का स्मरण है।

हम तुलसी का गमला सजाते हैं। तुलसी का विवाह करते हैं। उसके विवाह में आंवले, इमली, गन्ने आदि वनस्पति और जंगली फलों का ही महत्व है। तुलसी मानो हमारे कुटुम्व का ही एक अंग है। मानो उसमें भी सारी भावनाएं हैं। उसके भी सव संस्कार किये जाते हैं।

हम वट-वृक्ष का, पीपल का जनेऊ करते हैं। उसका चबूतरा वना देते हैं। मानो यह वनस्पति-संसार का महान् ऋपि हो। हम उसकी पूजा करते हैं। सृष्टि का यह महान् ईश्वरी वैभव देखकर हम उसकी प्रदक्षिणा करते हैं, उसे प्रणाम करते हैं।

आंवले के वृक्ष के नीचे भोजन करना, जंगल में भोजन करना आदि कितनी ही वनस्पति-प्रेम की वातें हमने प्रचलित की हैं। ऐसे व्रत हैं जिनमें वृक्ष के पत्तों पर भोजन किया जाता है। हम देवताओं को फूल चढ़ाते हैं; लेकिन हमने यह निश्चय किया है कि देवताओं को पत्तियां वहुत प्रिय हैं। देवताओं के लिए तुलसी चाहिए, वेलपत्र चाहिए, दूर्वा चाहिए, शमी चाहिए। भगवान् की पूजा के निमित्त से हम सवसे पहले फूलों से मिलते हैं; दूर्वा, तुलसी, वेलपत्र से मिलते हैं। घर के आस-पास तुलसी होनी चाहिए। हरी-हरी दूव होनी चाहिए। पारिजात, जसवन्ती, धतूरा, कनेर, जाई, जुही, गुलाव, मोगरा, चमेली, तगर आदि फूल के वृक्ष होने चाहिएं। कदम्व, आंवला, अनार आदि के वृक्ष होने चाहिएं। भगवान् को जो पत्तियां

चढ़ाई जाती हैं उनमें इन सब पत्तियों का नाम बतलाया गया है। फूल हमेशा नहीं होते हैं, लेकिन पत्तियां तो हमेशा मिलती हैं। भगवान् को पत्तियां ही प्रिय हैं। वे पत्तियां रोज लाकर चढ़ाओ। उस निमित्त से फूल तथा फल के पेड़ लगाओ। उनके साथ प्रेम का संबंध स्थापित करो।

भारतीय साहित्य में भी तरु, लता, वेली के प्रति अपार प्रेम है। कालिदास के काव्य-नाटकों को देखिए। वहां यह प्रेम आपको दिखाई देगा। शकुन्तला आम्र वृक्ष और अतिमुक्त लता का विवाह करती है। वृक्ष पर वेल चढ़ाना चाहिए। वेल पेड़ से लिपट जाती है। उससे वृक्ष की शोभा है। वृक्ष से वेल को आधार मिलता है। कितनी कोमल भावना है यह ! शकुन्तला का वर्णन करते समय कण्व ऋषि कहते हैं—'शकुन्तला वृक्षों को पानी पिलाये विना पानी नहीं पीती है। उसे फूल और पत्तों का शौक था। फिर भी वह उन वृक्षों के फूल नहीं तोड़ती थी, पत्ते नोचती नहीं थी।'

उस शकुन्तला को प्रेम का सन्देश देने के लिए कुलपति कण्व तरु-लताओं से कहते हैं। उस प्रेममयी शकुन्तला के वियोग में आश्रम के वृक्षों ने भी, लता-वेलियों ने भी अश्रु गिराये होंगे।

राम चौदह वर्ष के वनवास के लिए निकले; लेकिन वनवास रामचन्द्र जी के लिए कोई संकट नहीं था। रामचन्द्रजी को अयोध्या के पाषाण-निर्मित प्रासादों की अपेक्षा वन के कुंज अधिक प्रिय थे। उन्हें वन-कानन प्रिय थे। रामायण में राम के लिए अनेक बार 'वनप्रिय' विशेषण का प्रयोग किया गया है। उन्हें वृक्ष और वेल अपने सगे-संबंधियों-जैसी लगती थीं। राम कहते ही पंचवटी हमारी कल्पना में साकार हो जाती है। विशाल वट वृक्ष की शीतल छाया में राम-सीता-लक्ष्मण बड़े आनन्द के साथ रहे। सीता ने पर्णकुटी के आस-पास पौधे लगाये। वह उन्हें गोदा-वरी के पानी से सींचती थीं। 'उत्तर रामचरित' नाटक में इस प्रकार का एक सहृदय वर्णन है कि रामचन्द्रजी फिर पंचवटी में आते हैं तो सीता द्वारा लगाये हुए वृक्षों को देखकर रो पड़ते हैं।

'रघुवंश' में ऐसा वर्णन है कि पार्वती ने अपने सिर पर पानी के घड़े

रखकर देवदार के वृक्षों को सींचा और बालकों की भांति उनका पालन-पोषण किया। हाथी आदि आकर जब उनसे अपने शरीर रगड़ते थे और उनकी छाल निकाल डालते थे तो वह दुखी होती थीं। तब शंकर ने रखवाले रखे।

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्
पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन

यह बात वह रखवाली करनेवाला शेर बड़े प्रेम से राजा दिलीप से कह रहा है।

वृक्ष-वनस्पति को हमने मानवी भावना प्रदान की है। गर्मी में तुलसी के ऊपर अभिषेक-पात्र से सतत धारा डालकर उसे हम गर्मी का अनुभव नहीं करने देते। हमारा यह नियम है कि शाम होते ही, रात्रि के समय फल-फूल नहीं चुनना चाहिए, और तृण, अंकुर, पल्लव नहीं तोड़ना चाहिए। संकट चतुर्थी की रात को मंगलमूर्ति की पूजा की जाती है; लेकिन दिन रहते-रहते ही फूल, दूर्वा, आदि लाकर रख लेने की रीति हमारे यहां है। हमारी यह भावना है कि रात के समय वृक्ष सो जाते हैं। कहीं उनकी निद्रा भंग न हो जाय इस बात का कितना खयाल रखा जाता है! एक बार धुनकी की तांत में लगाने के लिए गांधीजी को थोड़ी पत्तियों की जरूरत पड़ी। रात का समय था। उन्होंने मीरा बहन से पत्तियां लाने को कहा। मीरा बहन बाहर गयीं। वह नीम के पेड़ से एक डाली तोड़ लायीं। महात्माजी ने कहा, "इतनी सारी पत्तियों का क्या होगा? पत्तियां तो मुट्ठीभर चाहिए थीं। देखो, ये पत्तियां कैसी सो गई हैं! कैसी बन्द हो गई हैं! रात्रि के समय पत्तियां नहीं तोड़नी चाहिएं। लेकिन जरूरत पड़ जाय तो हल्के हाथों आवश्यकता जितनी ही तोड़नी चाहिएं। अहिंसा का जितना विचार करें उतना थोड़ा ही है।" महात्माजी के ये शब्द सुनकर मीरा बहन गद्गद् हो गईं।

कोंकण में जब गणपति को अपने घर लाते हैं तब उनके ऊपर बरसात की चीजें लटकाते हैं। ककड़ी, सहस्रफल, तुरई आदि भगवान् के ऊपर लटकाते हैं। कांगनी, कवण्डल भी भगवान् के ऊपर लटकाते हैं। नारियल और गीली सुपारियां टांगते हैं। भगवान् को प्रकृति का

सहवास प्रिय लगता है।

मंगल-समारम्भों में तो आम्रपल्लवों के विना काम ही नहीं चलता। प्रतिदिन आम की डाली की जरूरत पड़ती है। चाहे विवाह हो, जनेऊ हो, सत्यनारायण की कथा हो, मकान की पूजा हो, ऋतु-शान्ति हो, सबमें आम्रवृक्ष के हरे पत्तों की आवश्यकता रहती है। सृष्टि के आशीर्वाद प्रेम और पवित्रता हैं। माधुर्य और मांगल्य हैं। हमारे यहां नवान्न पूर्णिमा मनाई जाती है। उस दिन दरवाजे पर अनाज के तोरण लगाये जाते हैं। धान की वाली, ज्वार का भुट्टा, आम के पत्ते आदि चीजों के तोरण वनाये जाते हैं। उस तोरण को मराठी में 'नवें' कहा ज़ाता है।

भारतीय संस्कृति ने पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति आदि से इस तरह का प्रेम-संवंध निर्माण किया है। पशु-पक्षी और वृक्ष-वनस्पति में भी जीवन है। इनमें चैतन्य दिखाई देता है। हम यह समझते हैं कि ये भी पैदा होते और मरते हैं अतः इन्हें भी दुःख-सुख का अनुभव होता है; लेकिन भारतीय संस्कृति इससे भी दूर जाती है।

शीतला सप्तमी के दिन मिट्टी के चूल्हे की पूजा होती है। उस दिन चूल्हे को विश्राम करने दिया जाता है। उस दिन पहले दिन का वना हुआ वासी खाना ही खाया जाता है। सालभर तक वह मिट्टी-पत्थर का चूल्हा हमारे लिये तपता रहा। कम-से-कम एक दिन तो कृतज्ञता-पूर्वक उसका स्मरण करें। शीतला सप्तमी के दिन चूल्हे को ठीक तरह लीपते-छावते हैं। इसके वाद चूल्हे में छोटा-सा आम का पौधा रोपते हैं। इतने दिन तक गर्मी में तपते रहनेवाले चूल्हे पर आम्र वृक्ष की शीतल छाया की ज़ाती है। मिट्टी के निर्जीव चूल्हे के प्रति यह कितनी कृतज्ञता का प्रकाशन है!

शीतला सप्तमी की भांति हरियाली अमावस्या भी है। जो दीपक हमारे लिए जलता है, जो दीपक हमारे लिए तेल में सना रहता है, चिकना हो जाता है, जो दीपक हमारे लिए गरम होता है, काला होता है, उसके प्रति कृतज्ञता दिखाने का ही यह दिन है। प्रकाश जितनी पवित्र चीज और कौन है! सूर्य व अग्नि का भारतीय संस्कृति में वहुत महत्त्व है।

प्रकाश देनेवाले दीपक के ऋण से कैसे उऋण हों? प्रतिदिन शाम को दीपक जलाकर हम उसके प्रकाश को प्रणाम करते हैं। दीपक को प्रणाम करके हम उसके प्रकाश में रहनेवाले सब लोग एक-दूसरे को भी प्रणाम करते हैं। शाम के समय हम 'दीपक-ज्योतिः नमोऽस्तु ते' आदि श्लोक कहते हैं। लेकिन वर्षा ऋतु में एक खास दिन उसी दीपक के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करने के लिए रखा गया है। उस दिन दीपक की पूजा की जाती है और दीपक के महत्त्व पर विचार किया जाता है।

जब बरतन हाथ से गिर जाता है या और किसी बरतन से टकरा जाता है, तो हम कहते हैं—'इनकी आवाज बन्द करो।' मानो बरतन रोते हैं। इन दुःखी बरतनों का दुःख दूर करना चाहिए। इन बरतनों की व्यथा पहचाननी चाहिए।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति प्रेममय है। नागपंचमी के दिन की स्थापना करके उस दिन तेजस्वी, प्रदीप्त, स्वच्छ, संयमी सांप की भी पूजा करने का आदेश दिया गया है। सांप पहले वन में रहता है; लेकिन वर्षा में जब उसके घर में पानी भर जाता है तो वह आपके मकान के आस-पास आकर बैठ जाता है। क्षणभर के लिए आश्रय मांगनेवाला मानो वह एक अतिथि है। उसे वन में रहना ही पसन्द है, उसे पवित्रता अच्छी लगती है, स्वच्छता अच्छी लगती है, सुगन्ध अच्छी लगती है। वह फूलों के पास आकर रहेगा। केतकी के पास जायगा। चन्दन से लिपटा रहेगा। जहां तक होता है वह किसी को काटता नहीं है; लेकिन जब काटता है तो फिर मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है। वर्षों प्रयत्न करके वह जो शक्ति प्राप्त करता है, उसे वह व्यर्थ खर्च नहीं करता। इसीलिए उसके दंश में अचूकपन है।

सांप खेतों की रखवाली भी करता है। वह खेत में चूहे आदि नहीं लगने देता। इसे भी सांपों का एक उपकार ही माना जाना चाहिए। इस सांप को भी उस दिन दूध पिलाया जाता है। उसकी बांबी के पास दूध ले जाकर रखा जाता है। भारतीय संस्कृति विषैले सर्प में भी अच्छाई देखने को कहती है।

यह है व्यापक जीवन को देखने की भारतीय दृष्टि। नदियों का

उत्सव मनाइये, उनकी पूजा कीजिये, उन्हें देखते ही प्रणाम कीजिये, क्योंकि नदियों के हमारे ऊपर अनेक उपकार हैं। गोवर्द्धन पर्वत की पूजा कीजिये, क्योंकि पहाड़ों और पहाड़ियों पर गायों के चरने को घास पैदा होती है। पर्वत के ऊपर बरसनेवाला पानी नदी बन जाता है। पर्वतों की मिट्टी घुलकर नीचे आती है और खेतों में उससे अच्छी फसल आती है। पहाड़ उपकारक हैं।

नदियों को हम माता कहते हैं। हम उनके जीवन-रस से जीवित रहते हैं। यदि मां का दूध न मिले तो चल सकता है; लेकिन इस जल-रूपी माता के दूध की तो आवश्यकता रहती ही है। हम नदियों के नाम पर अपनी लड़कियों के नाम रखते हैं। हम नदियों को कभी भूल नहीं सकते।

और यह पृथ्वी तो सबसे बड़ी है। यह कितनी क्षमाशील है! कितनी उदार है! हम उसे हल से छेदते हैं; लेकिन वह मुट्टा लेकर ऊपर आती है। हम उसके ऊपर कितनी गन्दगी फैलाते देते हैं! उसके ऊपर नाचते हैं, कूदते हैं, लेकिन यह पृथ्वी-माता गुस्सा नहीं होती। (वह क्षमामयी-दया-मयी है) वह अपने सारे पुत्रों को क्षमा कर देती है। भारतीय संस्कृति कहती है कि पृथ्वी माता के दर्शन करो, उसे भूलो मत। हमारी कहानियों में पृथ्वी की कहानी है। हम पृथ्वी की महिमा भूले नहीं हैं। उसकी वेणी में चन्द्र, सूर्य, तारों के फूल सुशोभित हैं। उसने फूलों के हार पहने हैं। उसने हरी कंचुकी पहनी है। शेषनाग और वासुकि के पैंजन उसने अपने पैरों में पहन रखे हैं। वह पृथ्वी माता बड़ी भव्य और महान् है।

प्रातःकाल उठते ही उस पृथ्वी माता से कहना चाहिए, "हे मां, अब मेरे पैर सैकड़ों बार तुझे लगेंगे, नाराज मत होना।"

"विष्णु पत्नि नमस्तुभ्यं
पादस्पर्शं क्षमस्व मे।"

चराचर से प्रेम करनेवाली, सर्वत्र कृतज्ञता का प्रकाश करनेवाली यह भारतीय संस्कृति है। इस संस्कृति की अन्तरात्मा को पहचानिये। इसका स्वर पहचानिये। इस संस्कृति के स्वरूप को ध्यान में रखिये।

इस संस्कृति का ध्येय क्या है? इसका गन्तव्य, मन्तव्य, प्राप्तव्य क्या है; इस बात पर सहृदयता तथा बुद्धिपूर्वक विचार कीजिये और पूर्वजों की इस महान् दृष्टि को अपनाकर आगे बढ़िये। उस तरह का प्रयत्न भी कीजिये। ध्येय की ओर जाने के लिए अविरत प्रयत्न करना ही हमारा काम है।

विश्वभर से प्रेम करने का विशाल ध्येय अपने सामने रखनेवाली ऐसी महान् भारतीय संस्कृति को शतशः प्रणाम! उसकी प्रगति करनेवाले उन महान् पूर्वजों का भी अनन्त बार वन्दन!

: १६ :

अहिंसा

'अहिंसा परमो धर्मः' भारतीय संस्कृति का जीवनभूत तत्त्व है। यह तत्त्व भारतीय लोगों के रोम-रोम में समाया हुआ है। यह तत्त्व बच्चे को मां के दूध के साथ मिलता है। यहां के वातावरण में यह तत्त्व भरा हुआ है। भारतीय वायु मानो अहिंसा की वायु है। जो व्यक्ति भारत में श्वास लेने लगेगा उसके जीवन में धीरे-धीरे यह अहिंसा-तत्त्व प्रवेश किये बिना न रहेगा।

लेकिन यह बात नहीं है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' के तत्त्व का महत्त्व भारत को अनायास मालूम हो गया है। इस तत्त्व के पीछे बहुत बड़ी तपस्या है। इसके लिए बड़े-बड़े प्रयोग हुए हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति में यदि कोई स्वर्ण-सूत्र है तो वह है अहिंसा। इस सूत्र के आस-पास ही भारत के धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन गुंथे हुए हैं। भारतवर्ष का इतिहास मानो एक प्रकार से अहिंसा के प्रयोग का ही इतिहास है।

मनुष्य धीरे-धीरे विकास करता आ रहा है। मानव-जाति की प्रगति चींटी की चाल से होती है। यदि हम भारत के अहिंसा के इतिहास को देखें तो हमें यह दिखाई देगा कि यह प्रगति कितनी धीरे-धीरे

हो रही है !

'अहिंसा' शब्द का अर्थ आज कितना व्यापक हो गया है ! शब्दों के द्वारा किसी के मन को दुखाना भी आज हम हिंसा ही मानते हैं। विचार, आचार व उच्चार के द्वारा किसी के भी अकल्याण की कल्पना न करना ही आज की अहिंसा का अर्थ है।

प्राचीन काल से मुख्यतः दो बातों के लिए ही हिंसा होती आ रही है—भक्षण के लिए और रक्षण के लिए। मनुष्य एक तो खाने के लिए हिंसा करता है और दूसरे अपनी रक्षा करने के लिए। हिंसा का एक तीसरा भी कारण था। वह था यज्ञ; लेकिन यह यज्ञ भी भक्षण के ही अन्तर्गत आ जाता है। बात यह है कि मनुष्य जो-कुछ खाता है वही ईश्वर को अर्पण करता है। यज्ञ का मूल अर्थ था ईश्वर को आहुति देना। हमें जो ईश्वर धूप, वर्षा, फूल, फल आदि सब-कुछ देता है, उसे हमें भी कुछ-न-कुछ देना चाहिए। इसी विचार से यज्ञ की कल्पना का जन्म हुआ। तो फिर यह प्रश्न पैदा हुआ कि ईश्वर को क्या दिया जाय ? यह बात सहज ही तय हो गई कि जो चीज हमें पसन्द हो वही ईश्वर को दी जाय। यदि हमें मांस पसन्द है तो वही ईश्वर को भेंट करना धर्म बन गया। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भक्षण के कारण ही यज्ञीय हिंसा का निर्माण हुआ होगा।

अत्यन्त प्राचीन काल में आदमी आदमी को ही खा जाता था। उसे ऐसा लगता था कि आदमी का मांस ही सबसे अच्छा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब मनुष्य मनुष्य को खाता था उसी समय ईश्वर को भी मनुष्य की ही बलि चढ़ाने की प्रथा शुरू हुई होगी।

लेकिन विचारशील मनुष्य विचार करने लगा। उसे लज्जा का अनुभव होने लगा। उसके मन में विचार आया कि जिस मनुष्य को हमारी ही तरह सुख-दुःख का अनुभव होता है, उसे हम कैसे मारें, उसे ही हम कैसे भूनकर खायें ! और कुछ विचारशील लोगों ने नर-मांस खाना बन्द कर दिया; लेकिन समाज से आदतें एकदम नहीं मिटतीं। समाज को जब कोई भी व्यक्ति नया विचार देता है तब उसको कष्ट दिया जाता है। उसका मजाक उड़ाया जाता है। प्राचीन काल में भी ऐसा ही हुआ होगा।

अहिंसा के पहले आचार्य हमारे समाज में कहने लगे—'मांस भले ही खा जाओ, लेकिन कम-से-कम नर-मांस तो मत खाओ।' लोग नर-मांस न खाने की सौगन्ध, शपथ आदि खाने लगे। लेकिन जिन लोगों को इसका शौक लग गया था उनसे यह नहीं देखा जाता था। नवीन व्रतधारियों को वे खासकर धोखा देकर मांस खिला देते थे। वशिष्ठ ऋषि और कल्मापपाद राजा की ऐसी ही कहानी है। वशिष्ठ आदि कुछ ऋषियों को विशेष रूप से धोखा देकर नर-मांस परोस दिया गया। बाद में जब यह बात प्रकट हो गई तो वशिष्ठ ने राजा को शाप दे दिया था।

कुछ लोग कहते थे कि वशिष्ठ तो नर-मांस खाता है, वह व्यर्थ की डींग हांकता रहता है। नर-मांस न खाने का नवव्रत लेनेवाले वशिष्ठ को यह बात अच्छी न लगती थी। यदि खादी का व्रत लेनेवाले किसी व्यक्ति को कोई कहे कि आप चोरी-चोरी से विलायती कपड़ों का उपयोग करते हैं तो उसे यह कैसे अच्छा लगेगा? वशिष्ठ को ऐसी ही बेचैनी रहती थी। ऋग्वेद में एक जगह वशिष्ठ कहते हैं—

"अद्या मुरीय यदि यातुधानोऽस्मि"

"यदि मैं यातुधान होऊं तो इसी क्षण मेरे प्राण छूट जायं।" यातुधान का अर्थ है राक्षस। यातुधान का अर्थ शायद नर-मांस खानेवाला राक्षस ही होगा।

इस प्रकार समाज के कष्ट सहन करके वशिष्ठादि विचारशील व्यक्ति मानव को विकास की ओर ले जा रहे थे। नर-मेध बन्द हो गये। धीरे-धीरे नर-मांस-भक्षण भी बन्द हो गया; लेकिन मांस खाना थोड़े ही बन्द हुआ था! पशु-मांस-भक्षण तो भी चालू ही था। वे जिस पशु का चाहते उसका मांस खाते थे। लेकिन उसमें भी स्वाद तो होता ही है। उन दिनों गाय का भी वध होता था। गो-मांस खाया जाता था। लेकिन ऋग्वेद में ही—'गाय का वध मत करो, गाय की महान् महिमा पहचानिये', आदि बातें कहनेवाले महर्षि दिखाई देते हैं। ऋग्वेद में गाय की महिमा बतानेवाली ऋचाएं कहीं-कहीं हैं।

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां
स्वसाऽऽदित्यानां अमृतस्य नाभिः।

"अरे यह गाय रुद्रदेव की माता है, वसुदेव की पुत्री है। यह आदित्य की बहन है, यह अमृत का निर्झर है।" इस प्रकार का दिव्य और भव्य वर्णन प्रतिभाशाली ऋषि करते हैं। इसी सूक्त में ऋषि स्पष्ट आदेश दे रहे हैं कि इस निरपराध गाय का वध मत करो।

यद्यपि वेदों में गाय की रक्षा करने का प्रयत्न दिखाई देता है तथापि गाय का नाम लेते ही गोपालकृष्ण की मूर्ति हमारी आंखों के सामने खड़ी हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने ही गाय का महत्त्व भारतवासियों को समझाया। इस कृषिप्रधान देश में गाय का वध करने से कैसे लाभ हो सकेगा? गाय दूध देती है और खेती के लिए बैल भी। इस प्रकार गाय से दुहरा लाभ होता है। जहां नर और मादा दोनों का उपयोग नहीं होता वहां किसी एक को मारना ही पड़ता है। कारण यह है कि समझ में नहीं आता कि नर का क्या किया जाय। मुर्गी को न मारें; लेकिन आखिर मुर्गे का क्या करें? उत्पत्ति की दृष्टि से एक मुर्गा काफी होता है। बकरी न मारें लेकिन बकरे का क्या करें? मादा भेड़ को न मारें लेकिन नर भेड़ का क्या करें? भैंस पाल लें, लेकिन भसे का क्या करें?

गाय ही एक ऐसा प्राणी है जो दूध के लिए उपयोगी है और जिसके पुत्र—बैल—खेती के लिए उपयोगी हैं। मनुष्य उसी प्राणी को—उसी पशु को बिना हिंसा किये पाल सकता है जिसके नर-मादा दोनों का वह उपयोग कर सके। बिना उपयोग के हम किसी को भी नहीं पाल सकते हैं। मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं है। जो कुछ काम नहीं करते, जो कुछ नहीं कमाते, ऐसे लोग ही जब घर में भारस्वरूप प्रतीत होते हैं तब अनुपयोगी पशुओं को कौन पालेगा!

गाय, बैल, बिल्ली, कुत्ते आदि प्राणियों को उपयोगी होने के कारण ही मनुष्य ने पाला है। श्रीकृष्ण ने गाय का बहुत बड़ा उपयोग पहचाना। गोकुल में पाले-पोसे जानेवाले कृष्ण को गायों का महत्त्व मालूम हुआ। बड़े होने पर वह सर्वत्र गाय की महिमा गाने लगे। 'कृष्ण ग्वाला' कहकर

कृष्ण का उपहास किया जाने लगा। कृष्ण भी अभिमान के साथ कहने लगे, "हां, मैं कोरा कृष्ण नहीं हूं, मैं गोपालकृष्ण हूं। 'गोपाल' मेरा दूषण नहीं, भूषण है। चक्रवर्ती कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध होने की मुझे इच्छा नहीं है। मेरी इच्छा तो यही है कि संसार मुझे गोपालकृष्ण के नाम से ही जाने।"

गाय देवता मानी जाने लगी। राजा उसकी प्राणप्रण से रक्षा करने लगे। दिलीप राजा ने गाय को बचाने के लिए अपना शरीर शेर के सामने कर दिया था। जब राष्ट्र के सामने कोई नवीन ध्येय रखा जाता है तब उस ध्येय के लिए सर्वस्व का बलिदान करना पड़ता है। वह ध्येय ही मानो देवता है। वह ध्येय ही मानो ईश्वर है। आज खादी, चर्खा आदि के लिए जेल में आमरण अनशन करनेवाले सत्याग्रही पैदा हुए। अपने ध्येय के लिए वे कितना कष्ट पा चुके हैं और पा रहे हैं। प्रत्येक ध्येयार्थी को मृत्यु का आलिंगन करके अपनी परीक्षा देनी पड़ती है। गाय का ध्येय रखनेवालों ने भी ऐसा ही किया। समाज को गो-सेवा का महत्त्व समझाने के लिए प्राण देनेवाले लोग आगे आये। आज भारतवासियों में गाय की जो इतनी महिमा है वह यों ही नहीं आ गई है। बिना गाय का दूध पिये, बिना उसकी रखवाली किये व्यर्थ ही उसकी पूंछ मुंह के ऊपर फिराना और रास्ते में उसे देखकर प्रणाम करना दम्भ है। इस प्रकार का यान्त्रिक धर्म किसी भी समय तिरस्करणीय ही है।

गो-मांस-भक्षण एकाएक बन्द नहीं हुआ। भवभूति नामक महान् महाराष्ट्रीय नाटककार छठी-सातवीं शताब्दी में हुआ होगा। उसके 'उत्तर रामचरित' नामक उत्कृष्ट नाटक में वाल्मीकि के आश्रम में वशिष्ठ आदि के आगमन पर अतिथि-सत्कार के लिए बछड़ी मारने का उल्लेख है। आश्रम के बच्चे कहने लगे कि वह दाढ़ीवाला ऋषि हमारी बछड़ी उड़ा गया। इसका यह अर्थ है कि भवभूति को अपने नाटक में इस बात का उल्लेख करने में कोई संकोच नहीं हुआ। शायद प्राचीनकाल की पद्धति के कारण ही नाटककार ने ऐसा लिखा होगा।

उपनिषद् में गो-मांस-भक्षण करने का उल्लेख है। याज्ञवल्क्य-जैसे तत्त्वज्ञानी यह कहते हुए दिखाई देते हैं कि—'गो-मांस मीठा लगता

है।' लेकिन उपनिषद् में ही यह उल्लेख दिखाई देता है कि मांस खाना अच्छा नहीं है। चावल की महिमा गानेवाले ऋषि बढ़ने लगे थे।

ओदनमुद्ब्रुवते परमेष्ठी वा एषः

यह मन्त्रद्रष्टा कह रहा है कि —यह चावल परमेश्वर का स्वरूप है। और यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह मन्त्र भोजन के समय बोलने का है।

कुछ लोग कहने लगे कि—आहार का विचार पर प्रभाव होता है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' जैसे तत्व प्रचलित होने लगे। भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन के प्रयोग करने लगे। कोई-कोई यह भी कहने लगे कि केवल मांस खाने से बुद्धि अच्छी नहीं होती, चावल और मांस इन दोनों के सेवन से बुद्धि अच्छी होती है। इस प्रकार जनता धीरे-धीरे मांस-भक्षण की ओर से वनस्पति-भक्षण की ओर बढ़ने लगी।

जो नई दीक्षा देनी होती है, जो नवीन व्रत देना होता है उसे अत्यन्त उत्कटता से कहा जाना चाहिए, यह ध्येयवादी लोगों का प्रतिदिन का नियम यहां भी दिखाई देता है। मन्त्रों में यह कहा जाने लगा कि चावल देव है, परमेष्ठी है। चावल श्री प्रदान करेगा, सब-कुछ देगा। इसी समय गाय के दूध-घी की भी महिमा बढ़ने लगी। यह बात नहीं है कि मांस से ही उम्र और शक्ति बढ़ेगी। यह घी ही आयु है, घी ही सब-कुछ है। घी खाओ। देवताओं को घी ही अच्छा लगता है।

आयुर्वै घृतम्

इस प्रकार के ध्येय-वाक्य सुनाई देने लगे। मांसाशन बन्द करने-वाले लोग इस प्रकार घृत और दूध की महिमा बढ़ा रहे थे।

मनुष्य का मांस खाना छूट गया, गो-मांस खाना छूट गया; लेकिन दूसरे मांस न छूटे। गाय की महिमा तो उसकी समझ में आ गई; लेकिन यह बात उसकी समझ में नहीं आ रही थी कि नर-भेड़ का मांस क्यों न खाया जाय, बकरी के बच्चे का मांस क्यों न खाया जाय? उसे बकरी, भेड़, आदि पालनी पड़ती थीं। वे दूध के लिए, ऊन के लिए पाली जाती थीं; लेकिन बकरे और नर-भेड़ का क्या उपयोग किया जाय?

मनुष्य उनको खाने लगा। उनकी आहुति देने लगा। देव को उनकी वलि मिलने लगी। जो वात वकरे और भेड़ के सम्वन्ध में है वही हरिण के सम्वन्ध में भी है। हिन्दुस्तान में आज भी हरिणों के बड़े-वड़े झुण्ड दिखाई देते हैं। प्राचीनकाल में भारत हरिणों से भरा हुआ होगा। कृषकों को उनसे कष्ट होने लगा। मनुष्य मांस-भक्षण कम करके खेती की ओर अधिक ध्यान देने लगा होगा। लेकिन जहां-तहां हरिणों के झुण्ड होंगे। खेती ठीक तरह नहीं होने लगी होगी। हरिणों को मारना राजा का धर्म हो गया होगा। खेती की रक्षा करना राजधर्म था। खेल-खेल में मृगों का प्राण लेने का हेतु उसमें नहीं था। मृगया राजाओं की लीला नहीं, किन्तु उनका धर्म था। खेती की रक्षा के लिए राजा को इस कठोर धर्म का पालन करना पड़ता था। यह नियम भी था कि राजा को उस शिकार का मांस भी खाना चाहिए। जवान के स्वाद के लिए उसे और अन्य हिंसा न करनी चाहिए। इस हरिण के मांस को ही उसे पवित्र मानना चाहिए। उसे ही खाना चाहिए।

दयावान लोगों को हरिणों का मारा जाना अच्छा नहीं लगता था। लेकिन अपूर्ण मनुष्य के लिए कोई अन्य इलाज नहीं था। हां, आश्रमों में थोड़े-से हरिण पाले जाते थे। ऋषियों के आश्रम का नाम लेते ही आंखों के सामने हरिण आ जाते हैं। शकुन्तला हरिणों के ऊपर जैसा प्रेम करती थी उसकी कल्पना करते ही आंखों में पानी आ जाता है। राजा लोग खेती के लिए लाखों हरिण मारते थे। उन हरिणों का चमड़ा पवित्र माना गया। खेती की रक्षा के लिए मारे गये हरिणों के चमड़े बैठने के काम में लेने लगे। जनेऊ में उस चमड़े का टुकड़ा लगाने लगे। हरिणों को मारना पड़ता था; लेकिन यह मार देने के वाद का कृतज्ञता-प्रकाशन था। यह भावना थी उस अपूर्ण मानव के हृदय की।

उसके विचारों का प्रसार चल रहा था। मांस-भक्षण छोड़ने के प्रयोग भी चल रहे थे। सुधारक कहने लगे—यह ठीक है कि आप एकदम मांस नहीं छोड़ सकते। अतः बीच-बीच में खाते रहिये। प्रतिदिन

भेड़, वकरे या वकरी के वच्चे मत मारो। यदि यज्ञ के लिए आप उ
मारते हैं तो चल सकता है। ऋषि कहते थे--यज्ञ के समय हजारों लो
आते हैं, उनका आतिथ्य करना होता है। उस समय सुधारक कहते थे f
मांस खा लो। लेकिन लोग तो इतनी छुट्टी मिलने की राह ही दे
रहे थे। वे प्रतिदिन यज्ञ करने लगे। ऐसे यज्ञ किये जाने लगे
१२-१२ वर्षों तक चलते रहे। खाने के लिए कैसी-कैसी युक्तियां सो
जाने लगीं! जहां देखो वहां यज्ञ होने लगे और फिर वे भी भगवा
के लिए!

तव भारत के महान् भूषण भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। श्रीकृ
ने गाय की रक्षा की। बुद्ध भगवान् भेड़ को वचाने लगे। उनका कह
था कि धर्म के नाम पर हत्या मत करो। इस प्रकार के वलिदानों से स्व
कैसे मिलेगा? यदि ऐसा ही है तो अपने भाई की वलि दो। उससे त
बहुत वड़ा स्वर्ग मिलेगा। कहते थे कि अपनी ही वलि दो। जिस यज्ञ
सैकड़ों भेड़ों का वध होनेवाला था वहां करुणासिंधु बुद्ध जाकर खड़े हो
गये। उनके कन्धे पर एक लंगड़ी भेड़ थी। प्रेममूर्ति बुद्ध ने यद्यपि यज्ञ-हिंस
बन्द करवा दी तथापि मांस-भक्षण वन्द नहीं हुआ। कारण यह है कि
दूध के लिए, खाद के लिए मनुष्य भेड़-वकरी पालता है। लेकिन
भेड़-बकरे खेती के काम में तो नहीं आते। उनका पालन-पोषण
करना वड़ा कठिन कार्य था। उनके पोषण से वदले में कुछ मिलता भी
नहीं था। इस कारण मनुष्य उनको मारता और खाता है। या तो
भेड़-वकरी पालना छोड़ना चाहिए या उनका कोई उपयोग करने की युक्ति
ढूंढ निकालनी चाहिए। जवतक ये दोनों वातें नहीं होंगी तवतक यह स्पष्ट
है कि भेड़-वकरे मारे जायंगे और खाये जायंगे।

वैदिक ऋषि, श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्ध व महावीर स्वामी के कर्मों से
अहिंसा की महिमा अपार हो गई। लोगों को मांस खाने पर शर्म लगने लगी।
लोगों को अव यह प्रतीत होना वन्द हो गया कि मांस खाना भूषण है। यदि
खाने के लिए ही पशु मारना है तो कम-से-कम धूमधाम के साथ, उत्सव करके
तो मत मारो। यह वात मनुष्य को शोभा नहीं देती। कम-से-कम नवीन

पीढ़ी के बच्चों को दिखाकर तो उन्हें मत मारो। यदि भेड़ मारना हो तो—

असंदर्शने ग्रामात्।

गांव से दूर ऐसी जगह मारो जहां कोई न देख सके, इस प्रकार के सूत्र सूत्रकार कहने लगे।

यज्ञीय हिंसा बन्द होने लगी। लेकिन कुछ लोगों की ऐसी भावना थी कि बकरा तो यज्ञ में होना ही चाहिए। ऋषि कहने लगे, "आटे का बकरा बनाओ और मारो।" 'पिष्टमयीम् आकृति कृत्वा'—इस प्रकार के सूत्र रचे जाने लगे। यज्ञ के समय पौष्टिक जौ के आटे के बकरे बनाये जाने लगे और उस आटे द्वारा बनाई हुई आकृतिवाले भाग की यज्ञ में हवि देने लगे।

श्रावणी करते समय आटे की गोलियां खाने की प्रथा है। यह उस प्राचीन मांसाहार छोड़ने के प्रयोग का ही भाग है। इस बात का विचार प्रारम्भ हुआ कि पौष्टिक मांसाहार के बजाय कौन-सा पौष्टिक अन्न दिया जा सकता है।

प्रयोग करनेवाले कहने लगे—गाय का घी खाइये, सत्तू खाइये और यज्ञ में उसी की हवि देवताओं को दीजिये। लाखों-करोड़ों लोगों से मांसाहार छुड़ाना आसान नहीं था। लोगों का समाधान करना कठिन था। देवताओं के लिए बकरा चाहिए ही, इस बात का हठ करनेवाले अड़ियल टट्टुओं को कहा गया कि "आटे का ही बकरा बना लो।" बकरा मिला कि काम हुआ। इस प्रकार उन्हें जैसे-तैसे समझा-बुझाकर कहा गया। कुछ बुद्धिमान् प्रयोगकर्त्ताओं ने सुझाया कि देवता को नारियल चढ़ा देना चाहिए। नारियल मानो विश्वामित्र की सृष्टि का एक व्यक्ति। शायद नरमेध से लोगों को दूर रखने के लिए विश्वामित्र आदि लोगों ने यह सुझाया होगा कि नारियल की बलि दे दो।

"देखिये, यह है नारियल की चोटी। ये हैं नारियल की आंखें।" यह बात मूर्ख लोगों को समझाई गई। यह प्रथा थी कि मनुष्य का सिर काटकर उसके बालों को हाथ में पकड़कर उसके खून से देवता का अभिनन्दन

करना चाहिए। उस सिर को देवता के सामने टांग देना चाहिए। शेष धड़ को भूनकर खा लेना चाहिए। देवता के सामने नारियल फोड़ने में यही वात निहित है। यदि नारियल में चोटी न हो तो वह फोड़ने योग्य नहीं रहता। नारियल फोड़ना, उसका पानी देवता पर डालना और देवता के सामने एक टुकड़ा रखना, कहीं-कहीं देवता के सामने नारियल की आधी कटोरी टांग दी जाती है, शेष फोड़कर वांट दी जाती है। नारियल पौष्टिक होता है। जिसने यह नारियल का वलिदान शुरू किया उसकी कल्पना को धन्य है। नारियल के बलिदान से नरमेध वन्द हो गया।

देवता को सिन्दूर लगाने के मूल में भी हिंसा-बन्दी का प्रयोग है। जिसकी बलि देना है उसके रक्त से देवता को लाल स्नान कराना चाहिए। हजारों बलिदान होते होंगे और देवता लाल हो जाते होंगे। नारियल के पानी से देवता लाल थोड़े ही होता है। इसीलिए देवता पर लाल रंग लगाया जाने लगा। देवता पर रक्त का अभिषेक करके उस रक्त का तिलक स्वयं करते हैं। अब देवता के शरीर पर लगे हुए सिंदूर को भक्त अपने सिर पर लगाते हैं। अव भी वड़े भोजों में लाल गंध लगाया जाता है। वह लाल रंग मानो यज्ञीय वलिदान की स्मृति है। उसे अब भी हम भूलना नहीं चाहते। वह बड़ा अच्छा दिन होगा जब मनुष्य रक्त को भूल जायगा।

मांसाहार से निवृत्ति पाने का यह प्रयोग इस प्रकार चल रहा है। उसके लिए नई-नई कल्पना की गई। बहुजन समाज को पुचकारकर समझाना पड़ा। मन की कल्पना का भी विकास हुआ। त्रिसुपर्णा के मन्त्रों में तो—

"आत्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, मन्युः पशुः"

इस प्रकार की यज्ञ की भव्य कल्पना रखी गई है। त्रिसुपर्णा का ऋषि कहता है, "अरे, वकरे का वलिदान क्या करते हो! तुम्हारे नाना विकार ही पशु हैं। इन वासना-विकारों की वलि दो।"

तुकाराम ने एक अभंग में लिखा है—

"एकसरे केला नेम। देवा दिले क्रोधकाम।"

ये काम-क्रोध-रूपी पशु लगातार ताण्डव कर रहे हैं। हम उन्हें बांधें और उनके सिर काट डालें। भगवान् इस बलिदान को सबसे ज्यादा पसन्द करेगा। हमको बकरी के बच्चे का मांस पसन्द आता है, अतः हम देवता को भी बकरी के बच्चे की बलि चढ़ाने लगे। हम मधु-दही, दूध-घी के भक्त हुए और भगवान् को पंचामृत मिलने लगा। हमें जो चीज पसन्द आती है वह हम देवता को देते हैं। लेकिन यदि हमें सबसे ज्यादा पसन्द आनेवाली कोई चीज है, तो वह है अपनी वासना। हम अपनी वासनाओं के गुलाम होते हैं। मरते समय भी हमसे वासनाओं का त्याग नहीं होता। इसलिए इस अनन्त वासना का ही बलिदान करो। यह विकार देवता को दे डालो। इस मानसिक पशु का बलिदान दे और हवन कर। फिर मोक्ष दूर नहीं रहेगा।

भिन्न-भिन्न प्रयोग, यज्ञ की यह भव्य परिवर्तनशील कल्पना, सतत प्रचार आदि के कारण तथा विभूतियों के जीवमात्र के प्रति प्रकट होने-वाले अपार प्रेम के कारण भारतवर्ष में जोर-शोर से मांसाहार बन्द होने लगा। भारतभर में वैष्णव-धर्म की जो प्रचण्ड लहर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में उठी उसने भी यह काम आगे बढ़ाया। महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय में मांसाहार-निवृत्ति के ऊपर ज्यादा जोर दिया है। वारकरी के व्रत में मांसाहार के लिए स्थान नहीं है। सन्तों के प्रचण्ड आन्दोलन के कारण लाखों लोगों ने मांसाहार छोड़ दिया।

भारत की भिन्न-भिन्न जातियों में रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द होने में मांसाहार-निवृत्ति एक बड़ा कारण था। जो जाति मांस खाती थी उस जाति से मांस न खानेवालों की ओर से रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द कर दिया जाता। भिन्न-भिन्न जातियों में और फिर उनकी उपजातियों में जो श्रेष्ठ और कनिष्ठ का भाव है उसके मूल में मांसाहार का प्रश्न है। जिस जाति अथवा उपजाति ने मांसाहार छोड़ दिया वह अन्य मांसाहार करनेवाली जाति या उपजाति से अपने को श्रेष्ठ समझने लगी। भारतीय समाजशास्त्र में मांसाहार-निवृत्ति का बड़ा स्थान है। मांसाहार-निवृत्ति के आन्दोलन के कारण बड़े-बड़े उलटफेर हुए हैं।

आज भी हम ऐसी बात देखते हैं। हम हमेशा समान आचार-विचार

पर ध्यान रखते हैं। जिनका आहार व आचार-विचार एक, उनकी जाति भी एक। नवीन ध्येय सामने आया कि नवीन जाति ही बन जाती है। उस ध्येय के उपासक एक-दूसरे के पास-पास आ जाते हैं। उनके सम्बन्ध बढ़ जाते हैं। सम्बन्धों के बढ़ने से जाति बढ़ती है, मानो ध्येय ही बढ़ता है।

भोजन-सम्बन्धी हिंसा कम करने का प्रयोग भारत में हुआ। उसी प्रकार रक्षणार्थ भी हिंसा कम करने का प्रयोग भारतीय संस्कृति ने किया। और यह बात धन्यता अनुभव होने-जैसी है कि आज भी भारत में यह प्रयोग हो रहा है।

मनुष्यता का यह पहला पाठ है कि मनुष्य मनुष्य को न खाये और मनुष्य मनुष्य को मारे नहीं। यह बात ठीक है कि आज मनुष्य मनुष्य को प्रत्यक्ष रूप में अधिकतर खाता नहीं है। अब भी पृथ्वी पर नर-मांस-भक्षण करनेवाली जातियां कहीं-कहीं हैं। सुधरे हुए मनुष्य उन्हें जंगली कहकर पुकारते हैं; लेकिन सुधरा मनुष्य यद्यपि मनुष्य को जलाकर-भूनकर नहीं खाता तथापि उसने खाने का अप्रत्यक्ष मार्ग ढूंढ निकाला है। सुधरे हुए मनुष्य ने रक्तशोषण के अन्य प्रकार प्रचलित कर दिये हैं। शस्त्रास्त्र से लैस होकर दुर्बलों को गुलाम बनाना, उनका आर्थिक शोषण करना और इस तरह के सुधरे हुए मार्ग से जोंक की तरह उनका खून पीना इस तरह का प्रचार इतिहास में प्रचलित हो गया है।

इस प्रकार यदि दूसरा कोई हमें गुलाम बनाने के लिए आये तो हमें क्या करना चाहिए? आत्मरक्षा के लिए हिंसा का अवलम्बन किये बिना कोई रास्ता नहीं था, लेकिन कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा कि ऐसी हिंसा करना बुरा है। कम-से-कम अपने हाथ से तो ऐसा नहीं हो। यदि हिंसा करना ही है तो कुछ लोग करें। उन लोगों को उसी काम में जुट जाने दीजिए। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से कहा, "हम हिंसा नहीं करेंगे। हम अहिंसा का व्रत लेते हैं। यदि हमारे ऊपर कोई आक्रमण करे तो हमारी रक्षा करना।"

लेकिन यह विचार ठीक नहीं था। विश्वामित्र ने अपने यज्ञ की

रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को बुलाया। स्वयं विश्वामित्र ने उन्हें धनुर्विद्या सिखाई। विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हो गए थे। उन्होंने राम-लक्ष्मण से कहा, "राक्षस लोग मेरे यज्ञ पर आक्रमण करेंगे। तुम उन राक्षसों का वध करो। मैं तुम्हें धनुर्विद्या सिखाता हूं। तुम इस विद्या से अजेय बन जाओगे और सहज ही राक्षसों का वध कर दोगे।"

विश्वामित्र धनुर्विद्यावेत्ता थे, लेकिन उन्होंने अहिंसा का व्रत लिया था। अपनी रक्षा करने की भी उनकी इच्छा थी। ऐसी स्थिति में उन्होंने राम-लक्ष्मण के द्वारा राक्षसों का दमन कराने का निश्चय किया और हिंसा के साधन भी उन राजकुमारों के हाथ में दे दिये। लेकिन ऐसा करने से उस हिंसा का उत्तरदायित्व क्या विश्वामित्र पर नहीं पड़ता था? राम-लक्ष्मण की अपेक्षा उन्हें हिंसा के साधन देकर, हिंसा करना सिखानेवाले विश्वामित्र ही अधिक हिंसक साबित होते हैं। इस प्रकार की तिकड़म से अहिंसा का पुण्य प्राप्त नहीं हो सकता।

कोई आदमी बिच्छू देखते ही दूसरे को पुकारता है, उसके हाथ में चप्पल देता है, उसे बिच्छू दिखाता है और कहता है—'मारो, मारो जल्दी, नहीं तो भाग जायगा!' इस प्रकार के व्यक्ति को अहिंसा का पुण्य कैसे लगेगा? यही स्थिति विश्वामित्र-जैसे लोगों की है।

केवल क्षत्रियों को ही हिंसा का काम सौंप देने से वे भयंकर हिंसक हो गये। वे बलवान हो गये। जब शत्रु न रहे तब वे प्रजा को ही सताने लगे। परशुराम को यह सहन नहीं हुआ। उन्हें लगा कि इन उपद्रवी क्षत्रियों को मिटा देना चाहिए। उन्होंने निश्चय किया कि हिंसा का नंगा नाच नाचनेवाले इन क्षत्रियों को पूरी तरह मिटा देना चाहिए। हाथों में धनुष-बाण और कन्धे पर फरसा लेकर वह क्षत्रियों को मिटाते गये। वह क्षत्रियों के काल बन गये। उन्होंने बार-बार क्षत्रियों को कत्ल करना शुरू किया। वह सोचते थे कि बीज के लिए भी कोई क्षत्रिय शेष नहीं रहना चाहिए। उन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय-रहित किया; लेकिन क्षत्रिय तो फिर भी पैदा हो ही गये।

शस्त्रों से शस्त्र बन्द नहीं किये जा सकते। तलवार के द्वारा तलवार दूर नहीं की जा सकती। युद्ध के द्वारा युद्ध बन्द नहीं किये जा सकते।

परशुराम का प्रयोग असफल हो गया। सबको बार-बार मारने के अभ्यास से स्वयं परशुराम ही एक भयंकर क्षत्रिय हो गये। वह ब्राह्मणों को क्षत्रिय बनाने लगे। उन्होंने अपनी शस्त्रविद्या ब्राह्मणों को सिखाने का निश्चय किया। उन्होंने घोषित किया कि मैं ब्राह्मणों के अतिरिक्त और किसी को शस्त्रविद्या नहीं सिखाऊंगा। भीष्म को उन्होंने पहले ही विद्या दे दी थी। कर्ण ने उनसे चोरी से सीखी। इस प्रकार परशुराम के द्वारा सैकड़ों क्षत्रिय तैयार हो गये। हिंसा के द्वारा अहिंसा का निर्माण करनेवाले परशुराम ने अधिक हिंसक निर्माण किये।

परशुराम का उद्देश्य अच्छा था, लेकिन उनका मार्ग गलत था। उनका प्रयोग सफल नहीं हुआ। ययाति के प्रयोग की भांति यह भी एक बड़ा प्रयोग था। भोग भोगकर ययाति विरक्त होना चाहता था। संसार में २०—२० वर्ष तक हिंसाकाण्ड मचाकर परशुराम अहिंसा स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे; लेकिन संसार में तो जो बोया जाता है वहीं काटने को मिलता है। हिंसा में अहिंसा के फल कैसे लग सकेंगे?

हिंसा से हिंसा बन्द नहीं हो सकती। युद्ध से युद्ध बन्द नहीं हो सकते। यदि ऐसी ही बात है तो यह निश्चय हुआ कि युद्ध में जितनी कम हिंसा की जा सके उतनी कम हिंसा करनी चाहिए। युद्ध तो टलते नहीं हैं; लेकिन इतना तो करें कि छोटे बच्चों को न मारें। स्त्रियों पर हथियार न चलाएं। वृद्धों को अवध्य समझें। जिसके पास शस्त्र नहीं हैं उसके ऊपर शस्त्र नहीं उठाएं। एक के ऊपर अनेक मिलकर आक्रमण न करें। यदि कोई कठिनाई में है तो उससे युद्ध न करें। रात्रि में युद्ध न करें। पैदल पैदल से, रथी रथी से, गदाधारी गदाधारी से लड़ें। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न युद्धधर्म निश्चित किये गए। इन सबका उद्देश्य यही था कि हिंसा कम हो अर्थात् जितनी आवश्यक हो उतनी ही हो। इस हिंसा में भी लोगों ने अहिंसा की स्मृति रखी थी।

विश्वामित्र दूसरों से हिंसा कराकर अहिंसा का पुण्य जोड़ना चाहते थे और परशुराम स्वयं हिंसक बनकर अहिंसा की स्थापना करना चाहते थे। ये दोनों प्रयोग गलत थे। लेकिन विचारशील मनुष्य चुपचाप नहीं

रहा। हिंसा के लिए कोई उपाय ढूंढ निकालना जरूरी था। यह देखकर कि हिंसा से हिंसा का दमन नहीं किया जा सकता, महात्माजी ने स्वयं अहिंसक बनकर हिंसा का मुकाबला करने का निश्चय किया। उन्होंने अपने जीवन में धीरे-धीरे अहिंसा का प्रयोग शुरू किया। मारने से बच्चा सुधरता है या बिना मारे, समझाने से? घोड़ा चाबुक लगाने से काबू में आता है या उसे समय पर दाना देने से और खरेरा करने से? क्षमा की शक्ति अधिक है या शस्त्र की? प्रेम बलवान है या प्रहार?

सन्त इस बात का प्रयोग करने लगे। अपने व्यक्तिगत मर्यादित जीवन में उन्होंने इस प्रयोग का अवलम्बन किया। उन्होंने अनुभव किया कि प्रेम की ही शक्ति अपार है। बंगाल में चैतन्य नाम के एक बड़े सन्त हो गए हैं। एक दिन चैतन्य अपने शिष्यों के साथ कीर्तन करते हुए मार्ग में जा रहे थे। झांझ और मृदङ्ग का घोष हो रहा था। सब लोग मस्त हो रहे थे।

हरि बोल! हरि बोल! भवसिन्धु पार चल।

इस प्रकार का नाद आकाश में गूंज रहा था। इतने में दो दुष्टों ने आकर चैतन्य के सिर पर प्रहार किया। रक्त बह निकला। चैतन्य का ब्रह्मचारी शिष्य उन दुष्टों की ओर दौड़ा। परन्तु महान् चैतन्य बोले, "निताई, उन्होंने मुझे भले ही मारा हो, मैं तो उनसे प्रेम का ही व्यवहार करूंगा।"

भजन शुरू थे। चैतन्य 'हरि बोल' बोल रहे थे। सब लोग नाच रहे थे। वे दोनों दुष्ट भी नाचने लगे। वे भी उस भजन के रंग में रंग गये। चैतन्य की अहिंसा अत्यन्त प्रभावी सिद्ध हुई। उस दिन से वे दुष्ट शराबी बिलकुल बदल गये। वे चैतन्य के एकनिष्ठ सेवक हो गये।

प्रेम से प्रभावित होकर पशु भी क्रूरता भूल जाते हैं। ऐंड्रोक्लीज और शेर की कहानी संसार में प्रसिद्ध है। यदि सेवा से, प्रेम से क्रूर पशु भी पालतू बन जाता है तो प्रेम से मनुष्य का सुधार क्यों नहीं हो सकता?

प्रेम व्यर्थ नहीं जाता। मान लीजिये कि चैतन्य के सिर पर और प्रहार होता और चैतन्य मर जाते तो उस मृत्यु का भी अच्छा परिणाम

निकलता। उस मृत्यु का क्या उन दोनों पर कोई भी प्रभाव नहीं होता? शायद एक मृत्यु उनके सुधार के लिए पर्याप्त नहीं होती; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह व्यर्थ जाती। सिवु की मृत्यु अन्त में सुधाकर की आंखें खोले विना न रही। महान् व्यक्तियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन में आजतक कई वार छोटी-मोटी वातों में हिंसा पर अहिंसा का प्रयोग करके देखा है। सवने यही कहा कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसा का सामर्थ्य अपार है। शिक्षाशास्त्री सैकड़ों पुस्तकों में लिख चुके हैं कि बच्चों को मार-पीटकर सुधार करने का रास्ता गलत है। 'छड़ी वाजे छम-छम, विद्या आवे घम-घम' वाला सिद्धान्त शास्त्रीय नहीं है। शिक्षाशास्त्र के नये सिद्धान्त संसार के सव व्यवहारों में प्रचलित किये जाने चाहिएं। संसार एक पाठशाला ही है। हमें एक-दूसरे को सुधारना है। यह काम डण्डे से पीटने की अपेक्षा दूसरे ही मार्ग से हो सकता है।

वैज्ञानिक पहले अपने छोटे-से कमरे में वरावर प्रयोग करता है और यदि संशयातीत सफलता प्राप्त कर लेता है तो उसे संसार के सामने रखता है। फिर उस प्रयोगशाला का प्रयोग सारे संसार में प्रचलित हो जाता है। प्रत्येक ज्ञान के सम्बन्ध में यही नियम लागू होता है।

सन्तों के व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का प्रयोग सफल हो गया था। इस प्रयोग को व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक जीवन में लाना था। छोटे कमरे में सफल होनेवाले ज्ञान को समाज में प्रचलित करना था। महात्मा गांधी ने यह काम अपने हाथ में लिया। सन्तों के जीवन के अहिंसक प्रयोग को गांधीजी सामाजिक जीवन में लाये। वर्ग-वर्ग के, जाति-जाति के तथा राष्ट्र-राष्ट्र के झगड़ों को अहिंसक मार्ग से तय करने का निश्चय गांधीजी ने किया।

हिंसक व्यक्ति के सामने अहिंसक सन्त खड़ा होता है। उसी प्रकार हिंसक वर्ग के सामने अहिंसक वर्ग को खड़ा रहना चाहिए। हिंसक जमींदारों के विरुद्ध अहिंसक किसानों को खड़ा होना चाहिए। हिंसा हिंसा से शान्त नहीं होती। हिंसा को शान्त करने के लिए अहिंसा ही होनी चाहिए।

यह कहा जाता है कि अहिंसा के द्वारा हिंसा को जीतने के

इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलते। व्यक्ति के उदाहरण तो वहुत-से हैं। हां, सामूहिक उदाहरण अवश्य नहीं है। यदि प्राचीनकाल में ऐसे कुछ उदाहरण नहीं तो इसका यह मतलव नहीं कि आगे भी नहीं होंगे। मानव-इतिहास अभी पूरा तो हो नहीं गया है। अतः पुरानी लकीर को ही पीटते रहना वहुत मन्द-गति का चिह्न है। आज दस हजार वर्षों से संसार में लड़ाई होती आ रही है। लड़ाई से लड़ाई को बन्द करने का प्रयत्न किया जा रहा है। लेकिन युद्ध वन्द नहीं हो रहा है। सन् १८७० में जर्मनी ने फ्रांस को हरा दिया। बस उस सन्धि से सन् १९१४ की लड़ाई का वीज वो दिया गया। जर्मनी से वदला लेने के लिए फ्रांस अधीर हो गया। उसने जर्मनी से वदला लिया। अव फिर से हिटलर ने फ्रांस से पूरी तरह वदला ले लिया है। एक लड़ाई में आगे की दस लड़ाइयों के वीज थे।

हजारों वर्षों के इस अनुभव से मनुष्यों को अव सचेत हो जाना चाहिए। यह एक गलत रास्ता था। हजारों वर्षों से हिंसा से हिंसा झगड़ रही है, लेकिन हिंसा कम नहीं हो रही है। हिंसा तो वढ़ती ही जा रही है। वह अधिक-अधिक उग्र रूप ही धारण कर रही है। अव इस मार्ग को छोड़ दीजिये। नया मार्ग पकड़िये। गांधीजी ने घोषणा की कि—"देखिये, अहिंसा से हिंसा का दमन होता है या नहीं।" उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में, चम्पारन में, वारडोली में ये प्रयोग किये। उन्होंने तीन-चार वार भारतव्यापी आन्दोलन किये।

संसार में यह एक अपूर्व वात थी। जिस भारत में प्राचीनकाल से अहिंसा के प्रयोग होते आ रहे हैं, उसी भारत में एक महात्मा ने यह व्यापक और अभिनव प्रयोग किया। मानव-जाति के इतिहास का एक नया पृष्ठ खुला। हजारों वर्षों के वाद मानव-इतिहास में एक नई वात लिखी गई।

यह प्रयोग अभी वाल्यावस्था में है। अभी तक ऐसा प्रयोग नहीं हुआ था। संकुचित लोग कहने लगे कि यह प्रयोग असफल हो गया। उन लोगों के लिए यही उत्तर है कि आजतक दस हजार वर्षों में युद्ध के प्रयोग किये गये। इस अहिंसा के प्रयोग के लिए भी दस हजार वर्ष

दीजिये और फिर देखिये कि यह प्रयोग सफल होता है या असफल ! केवल साठ-सत्तर हजार लोगों के जेल चले जाने से ही इस प्रयोग की सफलता-असफलता नहीं आंकी जा सकती। और फिर इन साठ-सत्तर हजार में भी वहुत-से ऐसे होते हैं जो यह सोचते हैं कि हम कव छूटेंगे। शस्त्रास्त्रों के युद्ध में आठ-आठ करोड़ जनसंख्या वाले देश पचास-पचास लाख सेना तैयार कर लेते हैं। इसी प्रकार जव इस पैंतीस करोड़ के देश में दो-ढाई करोड़ लोग मरने को तैयार हो जायंगे तभी इस प्रयोग की सफलता या असफलता दिखाई देगी।

जिस प्रकार शस्त्रास्त्रों के युद्ध में दस-दस, वीस-वीस वर्षों तक शिक्षा प्राप्त किये हुए सैनिकों की जरूरत होती है उसी प्रकार इस अहिंसक सेना में भी दस-दस, वीस-वीस वर्षों तक अहिंसा की शिक्षा प्राप्त करने-वाले लोगों की आवश्यकता रहती है। गांधीजी ने इस प्रकार के नये सैनिकों के निर्माण करने का प्रारम्भ किया है। वह संसार में एक प्रयोग कर रहे हैं। यह प्रयोग संसार को आज नहीं तो कल आगे वढ़ाता जायगा। इस प्रकार के प्रयोग मरते नहीं हैं। ऐसे ही प्रयोग मानव-जाति को आगे वढ़ाते हैं। ये ही प्रयोग तारक हैं।

अहिंसा का मतलव सनक या कमजोरी नहीं है। भाग जाना अहिंसा नहीं है। यदि शत्रु के सामने निःशस्त्र खड़े रहने की तैयारी न हो तो उसके ऊपर प्रहार की तैयारी से खड़े रहो। लेकिन भाग जाना तो पूरी तरह त्याज्य और निन्द्य है। इस व्रात को गांधीजी ने सौ वार कहा है, "यदि आप शस्त्रों से स्वराज्य ले सकते हैं तो आप उसे ले लीजिये। मैं दूर खड़ा रहूंगा। लेकिन गुलाम मत रहिये और यदि शस्त्रों से न लड़ सकें तो मेरी निःशस्त्र लड़ाई में शामिल हो जाइये। स्वतन्त्रता की लड़ाई तो हमें चालू रखनी ही पड़ेगी। गुलामी में सड़ते रहना तो मनुष्यों को शोभा नहीं देता।"

गांधीजी का यह कहना नहीं था कि कल देखते-देखते सारी सेनाएं मिट जायंगी। भारत को भी सेना, शस्त्रास्त्र, सवकी जरूरत पड़ेगी। उनकी इन मांगों में से एक मांग यह भी थी कि शस्त्रास्त्रों के ऊपर लगे हुए प्रतिवन्ध उठा लिये जायं। वह संसार के वर्तमान स्वरूप को पहचानते

थे; लेकिन संसार में कोई नया काम प्रारम्भ करना चाहिए—सन्तों के काम को बढ़ाते रहना चाहिए। अहिंसा के प्रयोग को आगे बढ़ाना चाहिए। गांधीजी ने भारतीय पूर्वजों के इस महान् प्रयोग को आगे बढ़ाया। उनका केवल मजाक करते रहना किसी भी हृदय और बुद्धि रखनेवाले मनुष्य को शोभा नहीं देता।

भोजन तथा रक्षा दोनों में ही गांधीजी अपने पूर्वजों के अहिंसा के प्रयोग को आगे बढ़ा रहे हैं। दूध पीना एक प्रकार का मांस-भक्षण ही है। दूध वनस्पति-आहार नहीं है। दूध प्राणिज वस्तु है। अहिंसा के मांस-भक्षण वर्जित करने के व्रत को चलानेवालों को आगे-पीछे दूध भी वर्जित करना पड़ेगा। आज ऐसे विचार प्रकट किये जा रहे हैं। हम चेचक का टीका लगवाते हैं; लेकिन उसमें भी हिंसा तो है ही। गाय को बहुत तकलीफ होती है, यह भी सही है। टीका लगाना क्या है? गाय के खून से बनी हुई दवा को अपने खून में भरने का अर्थ क्या है? हमने जबान से गाय का रक्त अवश्य नहीं खाया; लेकिन हमारे रक्त में तो वह क्षणभर में ही चला जाता है। यदि हम विचारपूर्वक अपने आचार की तरफ देखने लगें तो शरीर में रोमांच होने लगेगा।

इसका यह मतलब नहीं कि दूध मत पीजिये, टीका मत लगवाइये। अहिंसा का उपासक यही कहेगा कि जबतक दूध का स्थान ग्रहण करनेवाला दूसरा पदार्थ नहीं मिले तबतक दूध पीजिये। लेकिन अपने स्वयं के जीवन में वह प्रयोग करता रहेगा। वह खाने-पीने के प्रयोग करेगा और दूध-जैसी कोई वनस्पति ढूंढ निकालेगा। कोई ऐसा उपाय ढूंढेगा कि बिना टीका लगाये ही चेचक न निकले।

अहिंसा अनन्त है। जब महात्मा लोग अपने जीवन में इतनी अहिंसा लाते हैं तब कहीं हमारे जीवन में इतनी थोड़ी अहिंसा आती है। जब आकाश में लाखों मोमबत्तियों की शक्तिवाला सूर्य लगातार जलता रहता है तब कहीं जीने लायक ९८ डिग्री उष्णता हमारे शरीर में आ पाती है।

महात्माजी-जैसा अहिंसा का उपासक कौन था? लेकिन उनको भी आश्रम में बन्दर मारने पड़े। पागल कुत्तों को मारना पड़ा। बोरसद ताल्लुके में प्लेग फैलने पर उन्हें दुःखी मन से चूहे मारने का उपदेश देना

पड़ा। उस समय उन्होंने जो-कुछ लिखा वह अपने हृदय पर कितना बोझ रखकर लिखा था ! पिस्सुओं और डांस को, चूहों और घूस को मेरे समान ही जीने का अधिकार है। मुझे ऐसा लगता है कि स्वयं अपना जीवन देकर मुझे उनको जीवित रखना चाहिए। मेरे हृदय में अनन्त वेदना हो रही है। इस प्रकार के वे करुण उद्‌गार थे। गांधीजी ने पागल कुत्तों को मारा, प्लेग फैलानेवाले चूहों को मारा। इसी न्याय से जो लोग हमें पागल लगें, जो प्लेग फैलानेवाले लगें, उन्हें हम क्यों न मार डालें ? इस प्रकार के प्रश्न कुछ लोग पूछते हैं।

कुत्ते को मारते समय गांधीजी को बड़ी पीड़ा हो रही थी। उनके मन में यह विचार आ रहा था कि वह स्वयं मरकर कुत्तों को जीवित रखें। कुत्ते मारने में कोई बड़ापन न मानकर वह उसे अपनी कमजोरी और अपने जीवन की आसक्ति समझते थे। क्या ऐसी स्थिति है ? आप तो मारने में बड़ापन और पुरुषार्थ मानते हैं। आप उसे अपनी कमी नहीं समझते बल्कि अपना परम धर्म समझते हैं। आप मारने का अन्तिम तत्त्व-ज्ञान तैयार करते हैं, हिंसा का वेद बनाते हैं।

गीता के अठारहवें अध्याय में यह कहा गया है कि मारने पर भी मारना नहीं होता है। लेकिन यह स्थिति किसकी है ? ज़िसे सारा विश्व अपने-जैसा दिखाई देता है उसके मारने में जीवन ही है। मां बच्चे को मारती है; लेकिन बच्चा मां की गोदी में ही छिपकर रोता है। पीटनेवाली मां को बच्चा छोड़ता नहीं। वह उसी मां से लिपट जाता है। मां का वह मारना मारना नहीं होता।

हिंसा का पक्ष लेनेवालों की हिंसा यदि इस प्रकार परमोच्च स्थिति की हो तो वह हिंसा हिंसा नहीं अहिंसा ही हो जाती है। राम ने रावण को मारा। लेकिन हम जो यह कहते हैं कि उससे रावण का उद्धार हो गया तो उसमें यही भाव है। जब हम राम को ईश्वर कहते हैं तो फिर उनका मारना आपके-हमारे जैसा हिंसक मारना नहीं होता, वह तो उद्धार करनेवाला मारना था। वह मां के हाथ की मार थी।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से हिंसा करने के लिए कहा। कारण यह था कि वह उसका स्वभाव ही था। उन्होंने यह नहीं कहा था कि हिंसा परम

धर्म है। कल तक हिंसा की बातें करनेवाला अर्जुन एक ही क्षण में अहिंसक कैसे हो सकता था? अर्जुन के सामने हिंसा और अहिंसा का नहीं, आसक्ति और मोह का प्रश्न था। श्रीकृष्ण का यही कहना था कि 'मोह छोड़ दे। तुझे ऐसा लगता है कि वे स्वजन हैं अतः उन्हें नहीं मारना चाहिए। यदि कोई दूसरे होते तो खुशी-खुशी तू उनका खातमा कर देता। तुझे आकार प्रिय है। विशेष नाम-रूप तुझे प्रिय है। यह आसक्ति है। यह मोह है। इस मोह को छोड़, इसपर अर्जुन भी अन्त में कहता है—

"नष्टो मोहः"

हिंसा गीता का परम सिद्धांत नहीं है। मनुष्य हिंसा से धीरे-धीरे पूर्ण अहिंसा की ओर जायगा। अहिंसा ही अन्तिम सिद्धांत है। उस ध्येय को प्राप्त करने तक अपनी कमजोरी कहकर मनुष्य हिंसा करता रहेगा। लेकिन जब वह ऐसी अकड़ दिखाता है कि मैं हिंसा करूंगा तब अवश्य मानव-जाति का अधःपतन होता है।

हम सब आघात करने का अधिकार पाने के लिये अधीर रहते हैं, लेकिन पहले प्रेम करने का अधिकार प्राप्त कीजिये। मां अपार प्रेम करती है, इसलिए उसे मारने का अधिकार है।

मानव-जीवन में सम्पूर्ण अहिंसा सम्भव नहीं है। पूर्णता तो ध्येय ही रहेगी। जिस प्रकार रेखागणित में बिन्दु कभी प्रत्यक्ष रूप से दिखाया नहीं जा सकता, रेखागणित में रेखा कभी-कभी दिखाई नहीं जा सकती, उसी प्रकार पूर्ण ज्ञानी, सम्पूर्ण प्रेमी प्रत्यक्ष संसार में नहीं दिखाये जा सकते। जिसकी कोई लम्बाई-चौड़ाई नहीं, इस प्रकार का एक बिन्दु हम श्यामपट पर बनाते हैं। जो बिन्दु हमें सिद्ध करना है, वैसा बिन्दु हम बनाते हैं। उसी प्रकार हम अपने आदर्श पुरुष से बहुत-कुछ साम्य रखनेवाले शुक, जनक आदि पुरुषों को दिखाते हैं; लेकिन पूर्णता के पास-पास चलना पूर्णता नहीं है।

कुछ भी हो हम इस नश्वर शरीर से घिरे हुए हैं। इस मिट्टी के घड़े में सम्पूर्ण ज्ञान समा भी नहीं सकता। जिस प्रकार यदि किसी मटके का पानी स्वच्छ, शुभ्र बर्फ बन जाता है तो वह फूट जाता है, उसी प्रकार

स्वच्छ व शुद्ध ज्ञान भी इस शरीर में नहीं समा पाता और यह शरीर-रूपी मटका फूट जाता है। जबतक यह शरीर-रूपी आवरण गल नहीं जाता तबतक पूर्णता नहीं मिल सकती।

"पडळें नारायणीं मोटळें हें"

इस शरीर-रूपी गठरी के गिरने पर ही आत्मा भगवान् से मिलती है। परन्तु चूंकि पूरी अहिंसा का पालन संभव नहीं है अतः यह नहीं कि हम उसका कुछ भी पालन ही न करें। जितना संभव हो हम आगे बढ़ते जायं। हम खेती में होनेवाले सैकड़ों-हजारों कीड़ों की हिंसा नहीं टाल सकते। हजारों जीव-जन्तु बिना मालूम हुए हमारे पैरों से कुचल जाते हैं। लेकिन यह तो चलता ही रहेगा। जो अपरिहार्य है वह होगा। हमारा काम तो इतना ही है कि हम जान-बूझकर हिंसा न करें। जीवन में अधिकाधिक अहिंसा लाने का प्रयत्न करें। हम चलें तो सावधानीपूर्वक, बोलें तो सावधानीपूर्वक। कहीं किसी का मन दुखने न पाये, किसी के अकल्याण का विचार मन में न आये, किसी का शाप न लें। सबसे मित्रता रखें। प्रेम-संबंध जोड़ें। सहयोग प्राप्त करें। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि की हिंसा न करें। इसी प्रकार हम अपने प्रतिदिन के जीवन में अधिकाधिक अहिंसा ला सकेंगे। रोज-रोज तो लड़ाई नहीं होती। प्रत्येक क्षण पैर के नीचे सांप-बिच्छू नहीं आते। हर घड़ी शेर-चीते हमला नहीं करते। ये मौके अपवादात्मक होते हैं। उस अपवादात्मक मौके पर चाहो तो कमजोरी से, लज्जा से, हिंसा का अवलम्बन कीजिये। लेकिन प्रतिदिन के व्यवहार में समाज में जीवन बिताते हुए हम उत्तरोत्तर अधिक प्रेमपूर्ण—अधिक सहानुभूतिशील और अधिक सहयोगोत्सुक बनें। इस जीवन को सुखमय और निर्भय बना लें।

भारत में प्राचीनकाल में आश्रम थे। वे ऐसे स्थान थे जहां अधिक-से-अधिक अहिंसा का उपयोग करके दिखाया जाता था। शहरों में बगीचे होते हैं। उन बगीचों में जाने पर प्रसन्नता का अनुभव होता है। उसी प्रकार आस-पास के हिंसक संसार में अहिंसा का भजन-पूजा करनेवाले पावन और प्रफुल्लित आश्रम उस काल में थे। साधारण जनता कभी-कभी वहां जाती थी और प्रेम का पाठ पढ़कर वापस आती थी।

दुष्यन्त दूसरे स्थानों पर हिंसा करता था; लेकिन जब वह आश्रम के पास आकर भी हिंसा करने लगा तो आश्रम के मुनि बोले—

"न खलु न खलु वाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन् ।
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः ॥

"राजन्, इन कोमल हरिणों पर तीर मत चला।" एक ओर आकर्ण धनुष खींचनेवाला राजा दुष्यन्त और दूसरी ओर हरिणों को अभय देने वाले वे तपोधन। एक ओर हिंसा में रमनेवाला राजस राजा और दूसरी ओर प्रेम की पूजा करनेवाला सात्विक ऋषि। राजा का धनुष झुक गया। उसका हृदय पिघल गया। आश्रम ने उसके ऊपर अहिंसा का प्रभाव डाला।

'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरुरवा राजा का लड़का आयु ऋषि के आश्रम में अध्ययन के लिये रखा जाता है। लेकिन एक दिन आयु हिंसा करता है। वह एक सुन्दर पक्षी को वाण मारता है। उन कोमल पंखों में वाण घुस जाता है। ऋषि को यह वात मालूम होती है। आश्रम में हिंसा होना उन्हें सहन नहीं होता। ऋषि को ऐसा लगता है कि आश्रम के पवित्र और प्रेमपूर्ण वातावरण को भंग करनेवाला व्यक्ति आश्रम में न रहना चाहिए। वह वालक की धाय को कहता है—

"आश्रमविरुद्धमनेन आचरितम् ।
निर्यातय हस्तन्यासम् ॥"

इसने आश्रम के नियमों के विरुद्ध आचरण किया है, इसे वापस भेज दो।

स्थान-स्थान पर स्थित ये आश्रम भारतीय संस्कृति की वृद्धि कर रहे थे। इन आश्रमों में प्रयोग होते रहते थे। सांप, नेवला, हरिण, शेर सबको एक स्थान पर रखने के प्रयोग होते थे। सांप और शेर से भी आश्रम में प्रेम किया जाता था। उस प्रेम से सांप और शेर भी प्रेमपूर्ण बन जाते थे। इस प्रकार के दृश्य जब आश्रम में आनेवाले देखते थे तब वे गद्गद् हो जाते थे। सांप-शेर तो दूर, हम अपने आस-पास के लोगों से ही प्रेम का व्यवहार करें। समाज में तो कम-से-कम आनन्दपूर्वक रहें। घर में तो कम-से-कम मीठे रहें। वे मन में सोचते थे कि वे भी

इसी प्रकार रहें। वे आश्रम के दर्शन से प्रेम का पाठ सीखकर घर जाते थे और उसे सुन्दर वनाने का प्रयत्न करते थे।

आज भी भारत में भारतीय संस्कृति को उज्ज्वल वनानेवाले आश्रम हैं। गांधीजी के आश्रम में कोई सांपों को नहीं मारता था। उन्हें पकड़कर दूर छोड़ दिया जाता था। विच्छुओं के डंक को पकड़कर उन्हें दूर छोड़ दिया जाता था।

किसी एक गांव में हैजा फैला तो उस गांव के लोगों ने एक वकरे को जिन्दा गाड़कर वलि देने का निश्चय किया। देवी के मन्दिर के सामने गहरा गड्ढा खोदा गया। उधर वकरे के वलिदान का जुलूस आया; लेकिन जो लोग वहां आये उन्हें रामधुन सुनाई दी। गांधीजी के आश्रम का एक सत्याग्रही उस गड्ढे में खड़ा था। उसने रामधुन शुरु कर रखी थी। लोग बोले, "बाहर आ जाओ।" उसने नम्रतापूर्वक कहा, "यदि वकरे को गाड़ने से हैजा चला जाता हो तो मुझे ही गाड़ दो। मनुष्य को गाड़ने से देवी अधिक प्रसन्न होगी और हैजा हमेशा के लिए चला जायगा।"

भगवान् वुद्ध की आत्मा को इस वीसवीं सदी के दृश्य को देखकर कितना सन्तोष हुआ होगा! उस सत्याग्रही की विजय हुई। प्रेम की विजय हुई। ज्ञान की विजय हुई।

अहिंसा का, प्रेम का रास्ता दिखानेवाला यह नवीन आश्रम भारत की आशा है। यह प्रेम भारतीय घरों में आये विना न रहेगा। भारतीय समाज सहानुभूति और सहयोग से पूर्ण हुए विना न रहेगा।

: १७ :

वलोपासना

जिस प्रकार भारतीय संस्कृति ने ज्ञान और प्रेम पर जोर दिया है उसी प्रकार वल पर भी दिया है। यदि वल न हो तो ज्ञान और प्रेम मन-के-मन में ही रह जायेंगे। ज्ञान और प्रेम को संसार में लाने के लिए,

उन्हें सुन्दर और सुखदायी बनाने के लिए बल की नितान्त आवश्यकता है। बलवान् शरीर, निर्मल और तेजस्वी बुद्धि, प्रेमयुक्त किन्तु अवसर आने पर वज्र की तरह कठोर हो जानेवाला हृदय, इन सबकी जीवन-विकास के लिए आवश्यकता है। तभी जीवन में सन्तुलन आ सकेगा।

यदि शरीर ही नहीं हुआ तो हृदय और बुद्धि रहेंगे कहां? इस शरीर के द्वारा ही सब पुरुषार्थ प्राप्त कर लेते हैं। निराकार आत्मा साकार बनकर ही सब-कुछ कर सकती है। यदि बाहर का कांच न हो तो अन्दर की ज्योति की प्रभा उतनी साफ नहीं पड़ेगी। जब बाहर का कांच सुन्दर और स्वच्छ होगा तभी दीपक का प्रकाश अच्छा पड़ेगा। हमें अपने शरीर में से ही आत्मा-रूपी सूर्य के प्रकाश को बाहर डालना है। यह शरीर जितना नीरोग, सुन्दर, स्वच्छ और पवित्र रहेगा उतना ही आत्मा का प्रकाश अच्छी तरह से होगा।

उपनिषदों में बल की महिमा गाई गई है। दुर्बल कुछ नहीं कर सकता। एक बलवान् मनुष्य आता है और वह सैकड़ों लोगों को झुका देता है। बल न हुआ तो न उठ सकेंगे, न बैठ सकेंगे। यदि बल न हुआ तो घूम-फिर न सकेंगे। यदि घूम-फिर न सकेंगे तो न ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, न अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। न बड़ों से मेल-मिलाप हो सकेगा, न गुरु की सेवा ही हो सकेगी। बल नहीं तो कुछ नहीं। इसीलिए ऋषि कहते हैं कि बल की उपासना करो।

श्रुति का वचन है—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

दुर्बल के लिए दासता और दुःख तैयार रहते हैं। यदि शरीर में शक्ति नहीं तो कुछ नहीं। इमारत की नींव गहरी और मजबूत होनी चाहिए। उसमें अच्छे मजबूत पत्थर डालने पड़ते हैं। चट्टानों पर खड़ी की गई इमारत गिर नहीं सकती। बालू पर बनाई हुई इमारत कब गिर जायगी, कुछ कह नहीं सकते। शरीर सब की नींव है।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

शरीर सब कर्मों का मुख्य साधन है। शरीर की उपेक्षा करना मूर्खता है, पाप है। वह समाज और ईश्वर के प्रति घोर अपराध है। बिना

मजबूत शरीर के हम किसी भी ऋण को नहीं चुका सकते। समाज-सेवा करके देवताओं का ऋण नहीं चुका सकते। सुन्दर सन्तति का निर्माण करके पितृ-ऋण नहीं चुका सकते। ज्ञानार्जन करके ऋषि-ऋण नहीं चुका सकते। ये तीनों ऋण हमारे ऊपर होते हैं। ये तीन ऋण अपने ऊपर लेकर हम पैदा होते हैं। इनसे उऋण होने के लिए हमें अपने शरीर को मजबूत रखना चाहिए।

ब्रह्मचर्य बल की नींव है। ब्रह्मचर्य का महत्त्व एक स्वतन्त्र अध्याय में वर्णन किया गया है। प्राप्त किये हुए बल को संभालकर रखना है। ब्रह्मचर्य-बल प्राप्त करो और उसको संभालकर रखो।

बल प्राप्त करने के लिए शारीरिक व्यायाम करना चाहिए। केवल दिखाऊ बनने से काम नहीं चल सकता। भारतीय संस्कृति में नमस्कार का व्यायाम रखा गया है। सूर्य के सामने नमस्कार करना चाहिए। स्वच्छ हवा में सूर्य को साक्षी रखकर नमस्कार करना चाहिए। प्राणायाम का व्यायाम भी प्रतिदिन करने के लिए कहा गया है। संध्या करते हुए अनेक बार प्राणायाम करना पड़ता है। नमस्कार और प्राणायाम का व्यायाम मृत्युपर्यन्त करना चाहिए।

भारत में भिन्न-भिन्न मल्ल-विद्याएं थीं। भारतवर्ष मल्ल-विद्या के लिए प्रसिद्ध है। प्रत्येक आदमी मल्ल-विद्या सीखता था। व्यायाम के अनेक प्रकार प्रचलित थे। कुछ व्यायाम शरीर को सुदृढ़ और सुन्दर बनाने के लिए होते थे। कुछ व्यायाम आत्मरक्षा के साधन के रूप में किये जाते थे। लाठी, पटा, भाला, तलवार आदि आत्मरक्षा के साधनों के रूप में सिखाये जाते थे।

भारतवर्ष में अनेक प्रकार के खेल थे। सादे, संक्षिप्त, सुव्यवस्थित तथा सामूहिक खेल, कबड्डी आदि कितने ही तरह के थे। श्रीकृष्ण बड़े खिलाड़ी थे। वह बालगोपालों को बुलाकर खेलते थे। खेल-जैसी पवित्र वस्तु कोई दूसरी नहीं है। भगिनी निवेदिता ने एक जगह कहा है, "कृष्ण ने खेलों को दिव्य बनाया।" कृष्ण के नाम का स्मरण होते ही उनकी क्रीड़ा की याद आती है। कृष्ण का नाम लेते ही जिस प्रकार गाय की याद आती है, उसी प्रकार कृष्ण का नाम लेते ही नदी-किनारे के

खेलों का स्मरण हो आता है।

खेल में हम कई बातें सीखते हैं। छोटा-बड़ापन सब-कुछ भूल जाते हैं। आसक्ति भूल जाते हैं। विरोधी दल में यदि कोई अपना मित्र या भाई हो तो भी वह इस समय मित्र या भाई नहीं है, उसे भी पकड़ना है, यही विचार रहता है। खेल निष्ठा है, खेल सत्यता है, खेल आत्म-विस्मृति है।

लड़कों के खेल की तरह लड़कियों के भी खेल हैं। उनके द्वारा शरीर में सौष्ठव आता है, शरीर में चपलता आती है।

शरीर की स्वस्थता के लिए कई तरह के आसनों की खोज की गई है। आसनों के द्वारा थोड़े ही समय में बहुत व्यायाम हो जाता है। आसनों के साथ प्राणायाम भी जुड़ा रहता है। भुजंगासन, गरुड़ासन, कुक्कुटा-सन, शीर्षासन आदि दस-पांच आसन प्रतिदिन नियमित रूप से किये तो स्वास्थ्य बिगड़ नहीं सकता।

काम करते हुए जो व्यायाम मिलता है वह सर्वोत्कृष्ट होता है। व्यायाम भी ऐसा होना चाहिए जिससे कुछ निर्माण-कार्य हो। पाठशाला के बालकों को बगीचे में पानी देने के लिए कहिये, खोदने के लिए कहिये, इससे व्यायाम का व्यायाम होता है और फूल-फल भी पैदा होते हैं। शकुन्तला नाटक में बताया गया है कि कण्व ऋषि के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करनेवाली प्रियंवदा, अनसूया आदि छात्राएं वृक्षों को पानी दे रही हैं। पानी देते हुए शकुन्तला थक जाती है और पसीने में तर हो जाती है।

अपने कपड़े स्वयं धोने, अपना कमरा स्वयं साफ करने, अपने बरतन स्वयं मांजने और घर में पानी भरने से सहज ही व्यायाम हो जाता है। अपने यहां पुराने लोग इसी तरह का परिश्रम करते थे। वे केवल खाने-पीने में ही लगे रहनेवाले नहीं थे। परिश्रम करने में उन्हें कोई छोटा-पन नहीं अनुभव होता था।

सांदीपन के आश्रम में विद्यार्थी पानी भरते थे, लकड़ी काटते थे और जंगल से लकड़ी लाते थे। वहां यह भेद नहीं था कि यह तो धनी विद्यार्थी है और यह गरीब विद्यार्थी है। गरीब सुदामा और सुखी कृष्ण

साथ-साथ जंगल में जाते थे। गुरु के सामने सव समान थे। सव परिश्रम करते थे। क्या गरीव और क्या अमीर, सवका शरीर स्वस्थ रहना चाहिए। सवके लिए आरोग्य की जरूरत है। प्राचीन भारतीय आश्रमों में विद्यार्थियों को सुदृढ़ वनाया जाता था। चाहे ठंड हो, हवा हो, धूप हो, वर्षा हो, वे कुछ चिन्ता नहीं करते थे। शरीर को हवा लगनी चाहिए, धूप लगनी चाहिए। मनुस्मृति में कहा गया है कि पानी वरसने लगे तो वच्चों को छुट्टी दे देनी चाहिए। उन्हें वरसात के समय नाचने दीजिए। तड़के ही लड़के उठ जाते और नदी पर नहाने जाते। वहां पानी में गोते लगाते, तैरते और फिर सूर्य-नमस्कार करते। उसके वाद वे दूध पीते थे। यह है भारतीय संस्कृति का एक प्रकार।

जव हम पुराने लोगों को देखते हैं तो इनके शरीर नीरोग दिखाई देते हैं। साठ वर्ष की आयु होने पर भी आंखों पर चश्मा नहीं है, सव दांत मजवूत हैं, कान तीक्ष्ण हैं, हाजमा अच्छा है, हाथ-पैर मजबूत और ऐसे दिखाई देते हैं कि पांच-दस कोस सरलता से चल सकेंगे। यही हाल पुरानी स्त्रियों का है।

लेकिन आजकल शरीर मानो हड्डियों का ढांचा-मात्र रह गया है। पिचके गाल, गड़ी हुई आंखें, पतली लकड़ी-जैसे हाथ-पांव, मन्द दृष्टि, कीड़े लगे हुए दांत, हमेशा दस्त की शिकायत। ये वातें हर जगह दिखाई देती हैं। सव दिखाऊ लोग। जरा-से वरसात में भीगे कि सर्दी लग गई, सर्दी लगी कि हुआ मलेरिया। धूप लगी कि आये चक्कर। हम सव ऐसे ही हो गये हैं। यह है हम मध्यम श्रेणी के लोगों की हालत।

मजदूर-किसान को काफी श्रम करना पड़ता है। लेकिन भरपेट अन्न न मिलने से उनके शरीर दुवले हो रहे हैं। मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए श्रम नहीं है और श्रमजीवी के लिए अपार श्रम, इस प्रकार का दृश्य दिखाई देता है। श्रमजीवी लोगों को विश्राम और पूरा अन्न दिये विना उनका स्वास्थ्य सुधर नहीं सकता। श्रमहीन लोगों को जवतक श्रम नहीं करने दिया जायगा तवतक वे सुदृढ़ नहीं वनेंगे।

शरीर के लिए जिस प्रकार व्यायाम की आवश्यकता है उसी प्रकार खाने के लिए पर्याप्त अन्न की भी आवश्यकता है। लेकिन समझ नहीं

पड़ता कि हम क्या खाएं और क्या पिएं ? शक्तिवर्द्धक अन्न तो हमें मिलता नहीं है। अतः सर्वत्र ज्ञान का दीपक ले जाना चाहिए। कौन-सी सब्जी अच्छी, कौन-सी पत्तेवाली सब्जी अच्छी, कौन-सी दाल अच्छी, कच्चा खायें या पका हुआ, सूखी चीजें खायें या रसदार, मसाले अच्छे हैं या बुरे, ऐसी एक-दो नहीं सैकड़ों बातों पर ज्ञान का प्रकाश डालना चाहिए।

जीवन-तत्त्वों के नवीन शास्त्र का निर्माण हुआ है। हम आटा छानकर चोकर फेंक देते हैं। शास्त्र कहता है कि यह मूर्खता है। चोकर-सहित आटे की रोटी बनाओ। चोकर में तत्त्व है। वह स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभदायक है। हम मिल के कूटे हुए सफेद-झक दिखाई देनेवाले चावल खाते हैं। लेकिन शास्त्र कहता है कि यह भूल है। बिना कूटे हुए चावल खाना अच्छा है। बिना कूटे चावल में शक्कर होती है। कूटे हुए और न कूटे हुए दोनों तरह के चावल लीजिए। बिना कूटे हुए चावलों में पहले कीड़े लगेंगे, क्योंकि उनमें शक्कर अधिक होती है। यह शक्कर हड्डी के लिए बहुत लाभदायक है। लेकिन उन सफेद-झक चावलों को खाकर हम भी सफेद-झक हो रहे हैं। हमारे चेहरे का तेज कम हो रहा है। लेकिन इस तरफ कौन ध्यान देता है !

यन्त्रों के द्वारा कूटे हुए चावल खाने से बेरी-बेरी नामक रोग होता है। कुछ देशों में तो कानून बन गये हैं कि इन चावलों को न खाया जाय। लेकिन क्या हमें अपने शरीर की फिक्र नहीं करनी चाहिए ? नये पढ़े-लिखे लोग अपनी बुद्धि और स्वतन्त्र विचारों की अकड़ दिखाते हैं; लेकिन एक ओर विज्ञान जो बातें बताता है, उसके अनुसार चलने के लिए वे तैयार नहीं होते। कूटे हुए और बिना कूटे हुए चावल अलग-अलग चूहों को खाने के लिए दिये गए। बिना कूटे हुए चावल खानेवाले चूहे हृष्ट-पुष्ट दिखाई दिये।

गाय का दूध न मिलने से ऊंचाई कम हो रही है। दुग्धाहार को हमने बहुत महत्त्व दिया था। उसी तरह छाछ को भी हमने बहुत महत्त्व दिया था। शहद का पानी पीने की भी प्रथा थी। जब कोई अतिथि आता था तो उसे शहद का पानी दिया जाता था। नियमित रूप से शहद का पानी

पीने से आयु बढ़ती है, यह बात प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। शहद बड़ी आरोग्यवर्द्धक वस्तु है।

फलाहार का महत्त्व भी हमने पहचान लिया था। बीच-बीच में खासकर उपवासों की योजना करके हमारे पूर्वजों ने इस प्रकार की योजना की है कि उस दिन तो कम-से-कम हमें फलाहार करना ही चाहिए। लेकिन फलाहार के दिन हम साबूदाने का चिवड़ा बनाकर खाते हैं। हम तेल-मिर्च की चीजों के प्रेमी बन गये हैं, तली हुई चीजों के प्रेमी हो गये हैं। चटपटे चने और मसालेदार चिवड़ा की घातक चटक हमको लग चुकी है। यदि एक आने के चिवड़े के बजाय हम एक आने का केला खाएं तो कितना लाभ हो! लेकिन आज तो हमारी विचार की आंख फूट गः है। अन्धा व्यवहार चल रहा है।

हम क्या खाएं, क्या पिएं, इसका शास्त्र पूर्वजों ने दिया था। उन्होंं नियम बना दिया कि अमुक वस्तु निषिद्ध है, अतः न खानी चाहिए अमुक वस्तु अच्छी है, अतः खानी चाहिए। उनके नियमों की नवीन शास्त्रीय प्रकाश में परीक्षा कर लेनी चाहिए, नवीन संशोधन कर लें चाहिएं। कोई वस्तु निषिद्ध क्यों है? क्या केवल इसलिए कि उसका रंग लाल है? मसूर की दाल तो बद्धकोष्ठता दूर करनेवाली और रक्त-शोधव है, फिर क्यों न खाई जाय? इसमें केवल भावना ही है या और कुछ? प्याज क्यों निषिद्ध है? चतुर्मास में प्याज-बैंगन क्यों नहीं खाने चाहिएं? प्याज में फासफरस है। प्याज शक्तिवर्द्धक है। लेकिन केवल बौद्धिक श्रम करनेवाले के लिए वह हानिकारक होगा। खेतों में काम करनेवाले किसान के लिये वह हितकारक होगा। आहार के सारे नियम हमें ढूंढ निकालने चाहिएं। शास्त्रीय आहार बनना चाहिए। उसका प्रसार करना चाहिए। टमाटर, आलू, चुकन्दर आदि नवीन पदार्थ हमारे यहां पैदा होने लगे हैं। उनका भी परीक्षण होना चाहिए। पूना में ३०-३५ साल पहले लाल टमाटर निषिद्ध माने जाते थे, लेकिन अब ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि यह टमाटर स्वास्थ्य के लिए बहुत अच्छा है।

अदरक और नींबू का भारतीय आहार में बड़ा महत्त्व है। अदरक और नींबू से साठों चटनियां और साठों कोसम्बीर (एक प्रकार का

रायता) बनाते हैं। यदि अदरक का छोटा-सा टुकड़ा और नींबू की छोटी-सी फांक मिल गई तो सब-कुछ मिल गया। अदरक और नींबू स्वास्थ्य के लिए बड़े लाभदायक हैं।

आहार-विहार पर ही तो स्वास्थ्य निर्भर रहता है। विहार का मतलब है—व्यायाम, खेल। यदि उचित विहार और उचित आहार का ठीक समन्वय हुआ तो शरीर सुन्दर और तेजस्वी रहेगा। सेवा भी बहुत की जा सकेगी।

हमें यह अनुभव होना चाहिए कि बीमार होना मानो पाप है। बर्नार्ड शॉ ने एक जगह कहा है, "यदि कोई बीमार पड़ा तो मैं उसे जेल भेज दूंगा।" यदि सृष्टि के नियमों के अनुकूल न चले, व्यायाम न किया, कोई सीमा न रखी, समय पर न सोये, समय पर नहीं खाया तो बीमार होते हैं। बीमारी मानो प्रकृति द्वारा दी गई सजा है। बीमार पड़ने पर हमारी समाज-सेवा में बाधा तो आती ही है, लेकिन हमारी सेवा-शुश्रूषा में भी दूसरों का समय बिगड़ता है। घर में चिन्ता फैल जाती है। आरोग्य आनन्द है। बीमारी दुःख है।

स्वस्थ शरीर सुन्दर दिखाई देता है। रोगी और निस्तेज शरीर को चाहे जितना सजायें, वह कुरूप ही दिखाई देता है। स्वस्थ और कसरती शरीर पर फटा हुआ कपड़ा भी खिल उठता है। आरोग्य ही सुन्दरता है। यदि आप सुन्दरता चाहते हैं, तो नीरोग बनिये। व्यायाम कीजिए। शरीर-श्रम कीजिए। शरीर को धूप, वर्षा और हवा लगने दीजिए। सृष्टि का वह स्पर्श तेजस्विता प्रदान करेगा।

रोज सुबह-शाम गांव के बाहर स्थित महादेवजी के मन्दिर में जाने की परम्परा चली आ रही है। उसका उद्देश्य यही है कि बाहर की हवा लगे, क्षणभर के लिए संसार के बाहर हमारा मन जाय और हमें आजादी अनुभव हो। इससे पैरों को आजादी मिलती है, मन को मुक्ति मिलती है। हमें विशाल आकाश दिखाई देता है, हरे वृक्ष दिखाई देते हैं। बहती हुई नदी दिखती है, मन लगता है। इस प्रकार मन प्रसन्न होता है। भगवान् और तुलसी की प्रदक्षिणा में व्यायाम का उद्देश्य निहित था। इससे शरीर स्वस्थ होता था और मन भी।

भारतीय और मुसलमानी संस्कृति में धर्म के साथ आरोग्य का भी मेल बैठोया गया है। नमाज पढ़ते समय मुसलमान भाई बैठता है, उठता है और झुकता है। शरीर की भिन्न-भिन्न हलचलों में आरोग्य के तत्त्व भी समाये हुए हैं। दिन में पांच वार नमाज पढ़ने से शरीर को पांच वार नियमित व्यायाम मिलता है। शरीर को तो इससे स्वस्थता मिलती ही है, प्रार्थना के कारण मन को भी स्वस्थता मिलती है। नमस्कार-प्रदक्षिणा आदि वातों में भारतीय संस्कृति ने इसी प्रकार की वातों का मेल मिलाया है।

स्वच्छता पर भारतीय संस्कृति ने विशष रूप से जोर दिया है। इस गरम हवा में प्रतिदिन स्नान करना ही चाहिए। तीन वार स्नान करने की वात कही गई है। पुराणों में स्नान की महिमा गाई गई है। कार्तिक-स्नान, माघ-स्नान, वैशाख-स्नान आदि स्नानों के व्रतों की महिमा खूव कही गई है। स्नान की यह कितनी महिमा है! यह नियम था कि स्नान किये विना खाना न खाया जाय। खाते समय कोई जीव-जन्तु पेट में न चला जाय, इसलिए कितनी सावधानी रखी जाती थी! भोजन करने से पहले हाथ-पैर धोने चाहिएं। रसोईघर, देवघर आदि भी साफ रखने होते थे। घर में धूप आदि जलाये जाते थे। इस प्रकार स्वच्छता के लिए पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। प्रतिदिन धुली हुई धोती पहनी जाती थी। इस प्रकार के आदेश दिये गए हैं कि हम वासी खाना न खायें और पहने हुए कपड़े वदलकर भोजन करें। जिन वस्त्रों को पहनकर हम वाहर घूमते-फिरते हैं उन्हें पहनकर खाना न खायें। पसीने से भरे हुए कुरते-कमीज वाहर निकाल डालिये और स्वच्छतापूर्वक भोजन कीजिये।

सिर के वाल कटवा देने में भी स्वच्छता पर ही दृष्टि रहती थी। उष्ण हवा में पसीना आता है। पसीने से वालों में मैल हो जाता है। इसलिए अनुभव से यह रिवाज-सा पड़ गया कि वाल ज्यादा वढ़ने न दिये जायं।

यदि वाल रखने ही हैं तो उन्हें साफ रखिए। उन्हें सीकाकाई से

धोने की बात कही जाती थी। जिस दिन हमें यह मालूम हो जायगा कि स्वच्छता ही सौन्दर्य है वह सुदिन होगा।

आरोग्य क्यों प्राप्त किया जाय ? शरीर-सम्पदा क्यों प्राप्त करें ? बल की क्या उपयोगिता है ? भारतीय संस्कृति कहती है कि बल स्वधर्माचरण के लिए है—अपने त्रिविध ऋणों से मुक्त होने के लिए है। इसी प्रकार बल दूसरों को सताने के लिए नहीं है। बल तो दूसरों की रक्षा करने के लिए है।

"आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।"

तेरे शस्त्र पीड़ितों की रक्षा करने के लिए हों, निरपराध जनता का वध करने के लिए न हों।

दुर्बलों पर गुस्सा नहीं करूंगा। मेरी शक्ति तो दुर्बलों को सहारा देकर उठाने के लिए है। मेरा बल दुर्बलों को बलवान बनाने के लिए है। पाश्चात्य देशों में नीत्शे का बल-सम्बन्धी एक तत्त्वज्ञान है। उस तत्त्व-ज्ञान का स्वरूप है—'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' संसार में दुर्बलों का क्या काम, दुर्बलों पर तरस खाना ठीक नहीं, दुर्बलों को दूर हटा दीजिये —इस प्रकार का वह तत्त्वज्ञान है। लेकिन संसार इस तत्त्वज्ञान पर नहीं चला। यदि दुर्बलों को दूर हटा देने के तत्त्वज्ञान को स्वीकार कर लिया तो समाज नहीं टिक सकेगा। माता दुर्बल बच्चे का पालन-पोषण क्यों करेगी ? उस गन्दे और रोती शक्ल के बच्चे की फिक्र वह क्यों करेगी ? माता कहती है—मेरा कमजोर बालक बलवान होगा। मैं आज उसकी अंगुली पकड़ूंगी और कल वह चलने लगेगा। एक दिन मेरी सहायता से वह बलवान बन जायगा। फिर उसे मेरी आवश्यकता न रहेगी। मेरा बल दुबले बच्चे को बलवान बनाने के लिए, स्वाश्रयी और स्वावलम्बी बनाने के लिए ही है।

आखिर संसार सहयोग पर ही तो चल रहा है। मैं दूसरे को सहारा दूंगा और वह भी उठ खड़ा होगा। सबको उठने दीजिये, सबको आनन्द के साथ विचरने दीजिये।

जैसा शरीर का बल है वैसा ही ज्ञान का बल है, वैसा ही प्रेम का बल। ये बल उत्तरोत्तर अधिक श्रेष्ठ हैं। हम प्रेम से क्रूर जंगली पशुओं

को भी जीत लेते हैं। हम शास्त्रीय ज्ञान से रोग को भी जीत लेते हैं। शरीर-वल की अपेक्षा वुद्धिवल अधिक श्रेष्ठ है और वुद्धिवल की अपेक्षा प्रेम का, पवित्रता का, शील का, चरित्र का वल अधिक श्रेष्ठ है। हमें ये तीनों वल प्राप्त कर लेने चाहिएं। नीरोगी शरीर, प्रेमपूर्ण व उदार हृदय, विशाल और कुशाग्र वुद्धि—इन तीनों के समन्वय से जिस वल का निर्माण होता है वह अपूर्व है।

गीतांजलि में रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "हे ईश्वर, यह शरीर तेरा मन्दिर है, अतः मैं इसे हमेशा पवित्र रखूंगा। आपने मुझे यह हृदय दिया है, मैं इसे आपको प्रेम से भरकर दूंगा। आपने मुझे यह वुद्धि दी है, इस वुद्धिरूपी दीपक को मैं हमेशा निर्मल और तेजस्वी रखूंगा।"

भारतीय संस्कृति में हनुमान वल के आदर्श हैं। उनमें सव प्रकार के वलों का पूरी तरह विकास हुआ है।

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं वुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये॥

हनुमानजी केवल शक्ति में भीम की तरह नहीं थे, वह मन की भांति चंचल भी थे। वड़े-वड़े पहलवानों से भागा नहीं जाता, चपल लड़के चिकुटी लेकर उन्हें परेशान कर सकते हैं। वे जल्दी ही पीछे नहीं घूम सकते, आगे नहीं मुड़ सकते। इसलिए सव वातें परिमाण के अनुसार होनी चाहिएं। हनुमानजी का वेग हवा की तरह था। वह केवल लट्ठ-मार ही नहीं थे। उनका शरीर वज्र की तरह कठोर और वायु की तरह चंचल था। उनके पैर पत्थरों का चूरा कर देते थे और वे ही पैर द्रोण-गिरि पर्वत को लाने के लिए क्षणभर में दस कोस चले जाते थे।

इस शारीरिक वल के साथ उनमें मनोवल भी था। वह जितेन्द्रिय थे। संयमी थे। शीलवान, सच्चरित्र और व्रती थे। उन्होंने अपने प्राप्त किए हुए वल को व्यर्थ में खर्च नहीं किया। उन्होंने वासना को जीत लिया था। जिस प्रकार उन्होंने शरीर के अवयवों पर विजय प्राप्त कर

ली थी; स्नायुओं के ऊपर जिस प्रकार उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, उसी प्रकार मन की लहर पर भी उन्होंने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। जिसने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली उसने सब-कुछ प्राप्त कर लिया।

जिस प्रकार हनुमानजी का शरीर बलवान, हृदय शुद्ध व पवित्र था, उसी प्रकार उनकी बुद्धि भी अलौकिक थी। वह बुद्धिमानों के राजा थे। वह बुद्धि के दुश्मन नहीं थे। हमारे अन्दर एक कल्पना घर कर गई है कि जो बलवान है वह बुद्धिमान नहीं होता और जो बुद्धिमान् है वह बलवान नहीं होता है। लेकिन हनुमानजी कहते हैं कि दोनों बातें होनी चाहिएं।

यदि हमारे शरीर, हृदय व बुद्धि इन तीनों का विकास हो गया है, तब भी एक और वस्तु की जरूरत रहती है। वह है संगठन-कुशलता। हम अपने प्रति तो बड़े अच्छे होते हैं; परन्तु ज्योंही हम समाज में मिले नहीं कि हमसे काम नहीं होते, हमारा तेज नहीं फैलता। हनुमानजी वानर-सेना के प्रधान थे। हमें युवकों के संगठन का काम अपने हाथों में लेना चाहिए, उनमें घुस जाना चाहिए। उन्हें बलोपासना सिखानी चाहिए—शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक यह त्रिविध बलोपासना है। हमें युवकों के साथ खेलना चाहिए। उनके संगठन बनाने चाहिएं। उनके साथ चर्चा करनी चाहिए। तभी काम शीघ्रता से आगे बढ़ेगा।

समर्थ रामदास स्वामी ने ऐसा ही संगठन किया था। उन्होंने यही त्रिविध बलोपासना सिखाई। उन्होंने हजारों हनुमानों की स्थापना की। ग्राम-ग्राम में अखाड़े बनाये। कुश्तियों के जमघट लगने लगे। यात्राओं में कुश्तियां होने लगीं। इन अखाड़ों के साथ-साथ रामकथा भी गांवों में गई। रामकथा मानो साम्राज्य-नाश के लिए बना हुआ संगठन। यह विचार भी सर्वत्र पहुंचा। पुष्ट मांसल भुजाएं जनता को स्वराज्य दिलाने के काम आने लगीं। 'मराठा तितुका मेळवावा' (जितने मराठे मिल सकें उतनों को इकट्ठा करो) यह मन्त्र देकर हृदयों में एकता का निर्माण किया गया। हृदय, बुद्धि व शरीर तीनों में तेजस्विता आने लगी। दुर्भाग्य दूर होने लगा। जिसे देखो वह अपनी-ही-अपनी चलाता

है—इस प्रकार की मूर्खता नष्ट हुई और सब लोग शिवाजी महाराज के आस-पास इकट्ठे होने लगे। सब लोग धर्म के आस-पास इकट्ठे होने लगे।

शरीर-बल, पवित्र हृदय, प्रखर बुद्धि तथा सब संगठनों का उद्देश्य क्या है? इन सब साधनों का उपयोग राम-सेवा में करना चाहिए। 'रामदूत' होने में हनुमानजी की महानता है। हमारी शक्ति दूसरों को गुलाम बनाने के लिए नहीं है। हमारी बुद्धि दूसरों के ऊपर अपना साम्राज्य लादने के लिए नहीं है। हमारी अन्तर्बाह्य शक्ति राम की सेवा के लिए है। हमारी राम-सेवा का मतलब है तैंतीस करोड़ देवताओं को दासता से मुक्त करना।

ये तैंतीस करोड़ देव कौन हैं? ये देव रावण के यहां झाड़ू लगाते थे, पानी भरते थे, सारे श्रम के काम करते थे। साम्राज्य की स्थापना करनेवाले सारे संसार को गुलाम बनाते हैं। उनको केवल कुली बनाते हैं। देवताओं की तरह सुशोभित होनेवाले व्यक्ति दास बन जाते हैं। भगवान् राम को मनुष्य की महानता सिद्ध करनी थी। देवताओं को दास बनाना उनका काम नहीं था। प्रत्येक मनुष्य में दिव्यता है। प्रत्येक मनुष्य देव है। लेकिन उनकी दिव्यता के प्रकट होने के लिए अवसर नहीं था। सत्ताधारी उनको मजदूर और पानी भरनेवाला बनाकर रखता है। तैंतीस करोड़ देवता का मतलब है करोड़ों व्यक्ति। इन लोगों को मुक्त करना ही भगवान् राम का काम था।

हनुमानजी ने अपना सारा संगठन रामचन्द्रजी के ध्येय के लिए अर्पण कर दिया। उन्होंने अपना सारा बल रामचन्द्रजी को दे दिया। साम्राज्यवाद को नष्ट करनेवाले राम को देखते ही हनुमानजी उठे। उनके साथ-साथ वानर भी उठे। उनका सारा बल अपने बन्धुओं को स्वतन्त्रता और स्वराज्य देने के लिए ही था।

भारतीय संस्कृति यही बात हमसे कह रही है। शरीर, हृदय और बुद्धि की शक्ति प्राप्त करो, संगठन करो, संघ स्थापित करो, वातावरण तेजस्वी बनाओ और इस संगठन का महान् ध्येय के लिए उपयोग करो। राम आर्य और अनार्य नहीं देखते। राम तो पददलित लोगों को देखते

हैं और उनका ही पक्ष लेते हैं। और जो उनको कुचलते हैं उनको वे मिटाते हैं। फिर चाहे कुचलनेवाले कोई भी हों, चाहे हिन्दू हों, मुसलमान हों, अंग्रेज हों, जापानी हों। राम पददलित और पदोद्धत दोनों ही पक्षों को पहचानते हैं। वे पददलितों का ही पक्ष लेकर रहेंगे।

भारतीय संस्कृति 'आर्य' और 'अनार्य' शब्दों को वंशवाचक नहीं मानती। आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ, आर्य का अर्थ है विशाल दृष्टि से देखने वाला, अनासक्त, विमोह। अर्जुन केवल अपने सम्वन्धियों को देखकर ही धनुषवाण डाल देता है। इस कर्म को श्रीकृष्ण 'अनार्य-जुष्ट' कहते हैं। अन्याय करनेवाला कोई भी हो, उसे दण्ड देना ही आर्य का काम है। किसी व्यक्ति को अपना कहकर उसके दोषों को ढंक देना अनार्यों का अर्थात् मोहग्रस्त लोगों का, मूर्खों का, आसक्त लोगों का काम है।

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इसका अर्थ यह नहीं है कि सब लोगों को हिन्दू बना लिया जाय और सबको चोटी-जनेऊ रखवा दी जाय। हम सारे संसार को उदार बनायें, सारे विश्व को मनुष्यता पहचानना सिखायें, सब लोग सच्चे अर्थों में मनुष्य बनें, यही इसका अर्थ है।

जबतक हम स्वयं उदार नहीं बनते तबतक हम संसार को उदार नहीं बना सकते। खुद मोह-रहित बने बिना—अपने-अपने संकुचित घेरों को छोड़े बिना—हम आर्य नहीं बन सकते। हमारी संस्कृति में मानवता की महिमा है, संकुचित घेरों की नहीं। अक्सर हमने सत् और असत् ये दो घेरे ही मान रखे हैं। ये दो भेद हैं। संसार में सत्-असत् के बीच लड़ाई चल रही है—हिन्दू-मुसलमानों की नहीं। 'हिन्दू' भारतीय संस्कृति का शब्द नहीं है। भारत से बाहर के लोगों ने हमको 'हिन्दू' बनाकर एक घेरे में, एक कमरे में, बिठा दिया और हम भी उसमें आनन्द मानने लगे।

जो संगठन असत्य के विरुद्ध लड़ने को तैयार हो वह सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। वही गीता द्वारा बताया हुआ 'आर्य-जुष्ट' संगठन है।

"नाठाळाच्या काठी हाणूं माथा।"

दुष्ट लोगों पर ही वह प्रहार करती है। सच्चे सज्जनों का ही पक्ष

लेते हैं। जो कुछ असत् है उसी से उनका विरोध है। फिर चाहे उस असत् की ओर हमारा जाति-भाई ही क्यों न हो। हमारी गीता कहती है—"मामनुस्मर युद्धय च"—परमश्रेष्ठ सत्य का स्मरण करके लड़ाई कर, प्रहार कर।

इसे आर्य-धर्म कहते हैं। इसे अनासक्त आर्य-कर्म कहते हैं। यह है गीता का सन्देश! यह है भारतीय संस्कृति की महान् विशेषता! यही है रामचन्द्रजी के चरित्र का रहस्य!

: १८ :

ध्येय की पराकाष्ठा

भारतीय संस्कृति में एक-एक सद्गुण के लिए, एक-एक ध्येय के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देनेवाली महान् विभूतियां दिखाई देती हैं। भारतीय संस्कृति मानो इन विभूतियों का ही इतिहास है। कहा जाता है कि महापुरुषों का चरित्र ही इतिहास होता है। भारतीय संस्कृति के इतिहास के मानी हैं भारतीय संतों का इतिहास, भारतीय वीरों का इतिहास।

सत्य के लिए रामचन्द्रजी वन में गये। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए वह चौदह वर्ष तक वन में रहने को तैयार हो गये और चौदह वर्ष बाद जब फिर उन्हें अयोध्या का राजसिंहासन मिला उस समय का उनका व्यवहार कितना उदात्त है! यह बात मालूम होते ही कि भगवती सीता की पवित्रता के सम्बन्ध में प्रजा के मन में शंका है, वह गर्भवती सीता का परित्याग कर देते हैं। प्रजा के सामने धुले हुए चावल की तरह सच्चरित्रता होनी चाहिए। संशय को थोड़ा भी स्थान देना ठीक नहीं होता। हम कहेंगे कि यदि कोई एक दुश्चरित्र आदमी ऐसी बात कहता है तो उसकी बात को रामचन्द्रजी को इतना तूल नहीं देना चाहिए था। लेकिन रामचन्द्रजी के सामने तो एक भिन्न आदर्श था। वह सारी प्रजा की पुंजीभूत पवित्रता के प्रतीक थे। जो राजा प्रजा को पवित्र देखना

चाहता है उसे स्वयं संशयातीत रहना चाहिए। रामचन्द्रजी तो प्रजा के पाप-पुण्य को स्वयं अपने ऊपर लेते थे। अल्पायु ब्राह्मणकुमार के मरने का पाप भी उन्होंने अपने सिर पर ले लिया था। उन्हें ऐसा लगता था कि कहीं-न-कहीं मेरी भूल हुई है।

भारतीय संस्कृति में त्याग और पवित्रता इन दो गुणों का बहुत बड़ा स्थान है। भारतीय मनुष्य केवल पैसे को, केवल सत्ता को महत्त्व नहीं देता। उस गुण के साथ त्याग और पवित्रता भी होनी चाहिए। दरिद्री शुक्राचार्य को भारतीय जनता देवता की तरह मानेगी। भारतीय जनता ने कभी राजा की पालकी नहीं उठाई है; लेकिन संतों की पालकी तो प्रतिवर्ष हजारों लोग उठाते हैं। जनक केवल इसलिए प्रातःस्मरणीय नहीं थे कि वह राजा थे बल्कि इसलिए कि वह ज्ञानी होकर भी विरक्त थे। त्याग के बिना ज्ञान नहीं मिलता। आसक्त के लिए ज्ञान कहां है? ज्ञान का अर्थ है अद्वैत ज्ञान। ज्ञान का मतलब है अद्वैत की अनुभूति। जीवन में जैसे-जैसे अद्वैत की अनुभूति अधिकाधिक होने लगती है वैसे-वैसे अधिकाधिक त्याग भी होने लगता है। अतः भारतीय संस्कृति त्याग को ही अद्वैत का चिह्न मानती है।

इस प्रकार के त्याग के साथ पवित्रता भी आती है। जो त्याग अद्वैत की अनुभूति में से उत्पन्न होता है, वह अपने साथ पवित्रता लाये बिना नहीं रहता। सब लोगों की दृष्टि इस बात पर है कि भारत में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध कैसे हैं? यहां कार्य-पावित्र्य पहले देखा जाता है। आप में दूसरे बहुत-से गुण हैं; लेकिन कार्य-पावित्र्य का महान् गुण नहीं है तो जनता आपका आदर नहीं करेगी। आप जनता के हृदय के स्वामी नहीं हो सकेंगे।

लोकमान्य और महात्माजी के प्रति हमारी अपार भक्ति का कारण है उनका निष्कलंक चरित्र और अपार त्याग। भारतीय जनता सबको कार्य-पावित्र्य का थर्मामीटर लगाकर देखती है, त्याग की कसौटी पर परखती है। जो इन दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है वह उसके पीछे पागल हो जाती है। वह उस महापुरुष को सिर पर उठाकर नाचती है।

लोगों के मन पर इन दोनों गुणों का महत्व अंकित करने के लिए भारतवर्ष में अपार त्याग किया गया है। पवित्रता के सम्बन्ध में थोड़ी-सी भी शंका उत्पन्न होते ही राम सीता का त्याग कर देते हैं। अपनी पवित्रता के भंग होने के भय से राजपूत रमणियां जौहर की ज्वाला में अपना सर्वस्व स्वाहा कर देती थीं। पति की मृत्यु के बाद तन-मन से पवित्र रह सकेंगी या नहीं, इस शंका से स्त्रियां हँसते-हँसते चिता पर चढ़ जाती थीं और ज्वाला का आलिंगन करती थीं। वह आलिंगन ज्वाला का नहीं पवित्रता का होता था। सूरदास के कमल-जैसे सुन्दर नेत्र देखकर एक स्त्री के मन में कामवासना उत्पन्न हो गई। यह बात मालूम होते ही सूरदास ने अपनी आंखें फोड़ लीं। उस प्रेम-विह्वल रमणी ने पूछा, "भगवान को दी हुई आंखें आपने इस तरह क्यों फोड़ लीं ?" सूरदास ने कहा "यदि इन सुन्दर आंखों के कारण तुम्हें सुन्दरतम भगवान् के दर्शन होते तो मैं इन आंखों को धन्यवाद देता। यदि तुम्हारे मन में यह विचार आता कि इन आंखों को देनेवाला ईश्वर कितना अधिक सुन्दर होगा तो कितना अच्छा होता ! तब मेरी आंखें कृतार्थ हो गई होतीं। लेकिन मेरी इन सुन्दर आंखों ने तो तुम्हारे मन में ज्वाला जला दी। क्षुद्र कामभोग की इच्छा उत्पन्न कर दी। इन आंखों ने तुम्हें कीचड़ में घसीटा। जो विषैली आंखें लोगों को इस प्रकार अधःपतन करवा देती हैं उनको मैं कैसे रखूं ? उनको तो फोड़ देना ही ठीक था।"

राम राजा थे। उनका उदाहरण हमेशा लोगों के सामने रहेगा। कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रजा।' अतः राजा के ऊपर बहुत जिम्मेदारी है। भारत के नेताओं को रामचन्द्रजी के इस उदाहरण को नहीं भूलना चाहिए। रामचन्द्रजी ने ध्येय की पराकाष्ठा कर दी। लोगों के मन में पवित्रता के लिए अविचल श्रद्धा उत्पन्न करने के उद्देश्य से जब इस प्रकार का त्याग किया जायगा और जनता उसे देखेगी तभी अधिकांश लोगों पर पवित्रता का थोड़ा-थोड़ा महत्त्व प्रकट होगा, अन्यथा नहीं।

हिमालय के शुभ्र और उच्च शिखर की भांति राम की उदारता जितनी दिखाई देती है, उतनी ही सीता की सहनशीलता भी दिखाई देती है।

अपने पति पर किये गए आक्षेपों को वह किस प्रकार सहन कर सकती थी ? अपनी निन्दा के दुःख की अपेक्षा रामचन्द्रजी के चरित्र की निन्दा उसे ज्यादा बुरी लगी होगी। और राम-सीता कहीं अलग-अलग थोड़े ही थे। वे तो एकरूप ही थे। सीता कहीं भी जाती उसके जीवन में राम ओतप्रोत हो रहे थे। और सीता कहीं भी होती वह तो रामचन्द्रजी के जीवन में विलीन हो चुकी थी।

सीता कोई दुर्बल स्त्री नहीं थीं। उसमें पवित्रता की जबरदस्त शक्ति थी। उसने तो पति-प्रेम का कवच धारण कर रखा था। पति की इच्छा ही उसकी इच्छा थी। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा ही नहीं थी। वह प्रेम में एकरूप हो गई थी। सीता तो कभी की मर चुकी थी, वह राम-रूप हो चुकी थी। राम ने सीता को वनवास नहीं दिया था, उन्होंने तो मानो अपने ही आधे अंग को काटकर फेंक दिया था। प्रेम का अर्थ है प्रिय वस्तु में डूब जाना। प्रेम का अर्थ है—'अपनी आंखों अपनी मृत्यु देखना।' सीता का प्रेम पराकाष्ठा को पहुंच गया था। वह प्रेम की चरम सीमा थी। इसीलिए तो सीता भारतीय स्त्रियों के लिए महान् धर्म बन गई है। मानो सीता ही स्त्रियों का धर्म हो। स्त्रियों के सैकड़ों गीतों में सीता की यह महिमा भरी पड़ी है।

सीता वनवासी। दगडाची केली बाज।
घोर अरण्यांत। अंकुशबाळा नीज।

पत्थर की चारपाई बनाकर सीता जंगल में रहती है। पत्थर के ऊपर अपने बच्चे को लिए हुए लेटी है। कितना करुण और गम्भीर है यह गीत!

और देखिये भरत का भ्रातृप्रेम! मेरा राम तो वन जाय और मैं राजगद्दी पर बैठूं? राम कन्दमूल खाय और मैं मिष्ठान्न खाऊं? भरत नन्दीग्राम में चौदह वर्ष राम को स्मरण करते हुए रहे। उन्होंने भी वल्कल पहने। उन्होंने भी जटाएं धारण कीं। वह भी कंदमूल पर रहे।

लक्ष्मण तो राम के साथ वन में गये। भरत रामचन्द्रजी का चिन्तन

करते हुए जिन्दा रहे परन्तु लक्ष्मण तो उनके दर्शन करके ही जीवित रहे। तुलसीदासजी की रामायण में इस प्रसंग का बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। लक्ष्मण ने कहा, "रामचन्द्रजी, विना पानी के मछली कैसे जीवित रह सकती है? विना मां के वच्चा कैसे रहेगा? उसी तरह आपके विना मैं कैसे रह सकता हूं?

"रामचन्द्रजी, लकड़ी के ऊपर ध्वजा फहराती है। अपने यश की ध्वजा फहरने देने के लिए लक्ष्मण को उसकी लकड़ी वनने दो। लक्ष्मण आपके ही लिए है। आपके विना लक्ष्मण का कोई अर्थ नहीं होता।"

भारतीय संस्कृति को राम-लक्ष्मण, सीता-भरत ने ही वनाया है। भारतीयों के खून के कण-कण में उनके चरित्र समाये हुए हैं। भारतीयों की आंखों के सामने यह लिखा हुआ है कि यह महान् आदर्श अमर है।

भिन्न-भिन्न आदर्शों की कोई कमी नहीं है। ब्रह्मचर्य की साधना करनेवाले भारतीय उपासकों को देखिये। हनुमानजी को देखिये। लंका में इधर-उधर तलाश करते हुए वह रनिवास की ओर नहीं मुड़े। केवल एक झोंपड़ी में से 'राम-राम' का जप सुनकर उन्होंने झांका। वहां त्रिजटा थी। इसी प्रकार हैं अपार इच्छा शक्तिवाले, अपनी इच्छानुसार मरनेवाले भीष्म, और वैराग्य के रंग में पूरे रंगे हुए शुक।

भारतीय साहित्य में कई ऐसे प्रसंग हैं कि उनका सानी विश्व-साहित्य में नहीं मिलता। शुक-परीक्षा का प्रसंग इसी प्रकार का है। वसन्त ऋतु अपना सारा उन्माद और वैभव वहां फैला देता है। कोकिल उत्कट प्रेम-भावना से कुहू-कुहू करती है। प्रेम से एक-दूसरे के पंख खुजलाती है। फूलों में से खुशबू निकल रही है। प्रसन्न हवा वह रही है। नये पल्लव और कोंपलें फूटी हुई हैं। मानो सारा वातावरण मादक हो रहा हो। और वह सुन्दरी रंभा सैकड़ों विलासी हाव-भाव वताती हुई खड़ी है। उसके वस्त्र हवा के झोंकों में उड़ रहे हैं, जैसे सारी सृष्टि आसमान तक सुन्दरता से ओत-प्रोत हो रही है। रंभा शुक को आलिंगन करती है; लेकिन उनका एक रोम भी खड़ा नहीं होता।

वैराग्यमूर्ति शुक के साथ-ही-साथ निश्चयमूर्ति ध्रुव हमारी आंखों के सामने आ जाता है। पिता द्वारा गोदी में से उतार दिये जाने का

अपमान उसे सहन नहीं हुआ। उस अटल पद को प्राप्त करने के लिए वह तेजस्वी बालक घर से निकल जाता है, जहां से उसे कोई उतार नहीं सकता। पिता को लज्जा अनुभव होती है और वह बालक का पीछा करता हुआ जाता है—

"लौटो बेटा, दे दूंगा दो ग्राम तुझे,
बोले ध्रुव—क्या दे सकते हो राम मुझे ?"

पिता सारा राज्य दे देने की बात कहते हैं, लेकिन दृढ़व्रत ध्रुव वापस नहीं लौटता।

ऐसे ही हैं बालभक्त प्रह्लाद। एक बार 'नहीं' कहा तो फिर हमेशा 'नहीं'। वह कहता था, "चाहे पहाड़ से गिरा दीजिये, आग में खड़ा कर दीजिये, चाहे शूली पर चढ़ा दीजिये, चाहे फांसी पर, मैं भगवान् का स्मरण किये बिना नहीं रह सकता।" यह ध्येयवादी प्रह्लाद हमेशा भारत को स्फूर्ति देता रहेगा। हम कहेंगे—वन्देमातरम्, स्वराज्य, इन्कलाब जिन्दाबाद! हम कहेंगे—साम्राज्यवाद का नाश हो! पूंजीवाद का नाश हो! फिर चाहे इस शरीर का कोई कुछ करे। हमारा ध्येय हमारे जीवन में प्रकट होगा। जो होठों पर, वही मन में। जो हाथ में, वही आंखों में। भगवान् के स्मरण का अर्थ है सारी मानव-जाति का स्मरण। जो सारे मनुष्यों का घर है, वही नारायण का स्वरूप है। सारी मानव-जाति को सुखी करने की इच्छा करना मानो भगवान् का झंडा फहराना है।

और सत्यमूर्ति, सत्यसागर राजा हरिश्चन्द्र ? स्वप्न में कहे गये शब्दों का पालन करने के लिए उसने कितना त्याग किया! कितना कष्ट उठाया! वह स्वप्न में भी असत्य का स्पर्श पसन्द नहीं करते थे। तारामती, रोहित और हरिश्चन्द्र तीनों का मूल्य त्रिभुवन के बराबर है।

चाण्डाल के यहां नौकरी करते हुए कितनी हृदयविदारक घटना घटी! वह अपने बालक के लिए भी अग्नि नहीं दे सकते थे। उन्हें अपनी पत्नी को ही हत्या करने के लिए तलवार उठानी पड़ी। उनका मन कितना कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर था!

ध्येय से जरा भी च्युत होने का फल भोगना पड़ता है। ध्येय तो ध्येय

ही है। कपड़े के ढेर में एक भी चिन्गारी पड़ जाने से सब स्वाहा हो जाता है। 'नरो वा कुंजरो वा' कहते ही धर्मराज का पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर चलनेवाला रथ दूसरों के रथ की तरह ही पृथ्वी पर चलने लग गया। पवित्रतम राजा नल के पैर की अंगुली का एक थोड़ा-सा भाग अच्छी तरह धुल नहीं पाया, थोड़ा मैला रह गया; वस उस तिल वरावर जगह में से ही कलियुग उसके जीवन में प्रविष्ट हो गया।

इस प्रसंग में एक महान् सत्य कहा गया है। पाप तो मालूम हुए विना ही धीरे-धीरे प्रविष्ट होता रहता है। वस, एक ही प्याला।[1] इस एक प्याले को ही फेंक देना चाहिए। इस वात में सावधान और चौकन्ने रहना चाहिए कि पहला ही गलत कदम न उठने पाए। रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि में एक वड़ा ही सुन्दर गीत है—

"वह वोला, 'मुझे एक कोने में जगह दे दो। मैं कोई गड़वड़ नहीं करूंगा।' लेकिन रात्रि के समय उसने विद्रोह किया और वह मेरी छाती पर चढ़ बैठा। मेरे हृदयासान पर बैठी हुई मूर्ति को ढकेलकर उसने वहां अपना राज्य जमा लिया।"

इस गीत का भाव यही है। शैतान का आगमन इसी प्रकार हमें धोखे में डाल देता है। रोग के जन्तु धीरे-धीरे प्रवेश करते हैं और फिर सारे शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। विदेशी सत्ता धीरे से आती है और सर्वत्र फैल जाती है। अतः पहले ही से सचेत रहना चाहिए।

महारथी कर्ण और राजा वलि ने दानशीलता की हद कर दी। यह जानकर भी कि अपने शरीर के कवच-कुण्डल देने से मृत्यु का आलिंगन करना होगा, कर्ण अपने शरीर के कवच-कुण्डल काट-काटकर दे देता है। मुंह से 'नाहीं' कहने के वजाय मृत्यु स्वीकार कर लेना उसका स्वभाव ही वन गया था। वह अपने पिता सूर्य से कहने लगा, "मैं मूर्ख नहीं हूं। मैं तो व्यावहारिक हूं। संसार उसे ही व्यावहारिक व्यक्ति कहता है जो थोड़ी कीमत देकर वहुत-कुछ प्राप्त कर लेता है। मैं इस नश्वर

---

१. एक मराठी नाटक का नाम।

शरीर को देकर अमर कीर्ति को प्राप्त कर रहा हूं। इस मिट्टी को देकर ऐसा यश ले रहा हूं जो संसार के अन्त तक टिका रहेगा।" उसने यह कितना सुन्दर और अच्छा सौदा किया!

इसी तरह राजा बलि भी है। जब वामन के पैर रखने के लिए जगह नहीं बची तब उसने अपना सिर आगे कर दिया। बलि को मुसीबत में पड़ा देखकर मदमत्सर से भरे हुए देवता नगाड़े बजाने लगे, दुन्दुभी बजाने लगे; लेकिन धीर-वीर बलि कहता है—

अमरों की जयजयकारों का मुझे नहीं भय उतना।
अपने अपयश का प्रतिदिन ही लगता है भय जितना॥

मुझे तो अपने यश की चाह है। मैं इन देवताओं के होहल्ले की चिन्ता नहीं करता।

'मृच्छकटिक' में चारुदत्त ने भी इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किए हैं—

"विशुद्धस्य हि मे मृत्युः
पुत्रजन्मसमः किल।"

यह भारतीय संस्कृति की आवाज है।

शरणागत की रक्षा करने के लिए राजा शिवि अपनी जंघा का मांस काटकर दे देता है। मयूरध्वज आधा शरीर काटकर दे देता है और जब उसे मालूम होता है कि मेरी बायीं आंख में आंसू देखकर अतिथि चला जायगा तो वह कहता है, "यह पानी मेरी आंख में इसलिए नहीं आया कि इस शरीर को करवत से काटकर मुझे देना पड़ रहा है बल्कि इसलिए कि दाहिना अंग सार्थक हो रहा है और इसे उतना सौभाग्य नहीं मिला है।"

अतिथि के सामने अपने इकलौते पुत्र के सिर का मांस पकाकर परोसनेवाली चांगुणा अपने पुत्र का सिर गाते हुए कूटती है। कितना धैर्य है! कितना त्याग है! कितनी ध्येयोत्कटता है! और अन्त में अतिथि राजा को भी भोजन करने के लिए बुलाता है। राजा श्रीपाल विकल हो जाता है। उस समय वह महासती पति को धैर्य देते हुए कहती है—

'मैंने रखा था इस सुत को खुशी-खुशी नव मास उदर में।
क्या तुम निपट विकल होओगे रखकर उसको चार प्रहर में।"

अर्थात् "मैंने अपने इस पुत्र को नौ महीने तक पेट में रखा था। क्या

तुम उसे चार प्रहर भी अपने पेट में नहीं रख सकोगे ?"

राजा हंसध्वज मुनादी करवाता है कि जो लड़ाई के लिए तैयार होकर घर से बाहर नहीं आयगा उसे गरम-गरम तेल में डाल दिया जायगा। लेकिन उसका प्रिय पुत्र सुधन्वा पत्नी-प्रेम के कारण घर रह जाता है। उसे आने में देर हो जाती है। लेकिन न्यायी हंसध्वज आगा-पीछा नहीं देखता। वह अपने मन में सोचता है कि जो सज़ा मैं दूसरों को देता हूं क्या मुझे वही सजा अपने पुत्र को नहीं देनी चाहिए ? सुधन्वा गरम तेल में डाल दिया जाता है।

सावित्री अपने पति के लिए यमराज के पीछे-पीछे जाने के लिए तैयार होती है। घोर जंगल ! रात्रि का समय ! सामने मृत्यु-देवता ! लेकिन वह सती डरती नहीं है। वह यमराज का ही हृदय-परिवर्तन कर देती है।

और वह गान्धारी ! उसने सोचा—जब पति अंधे हैं तब मैं दृष्टि का सुख कैसे भोगूं ? वह जन्मभर तक अपनी आंखें बांधकर रखती है। इस त्याग की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। गान्धारी के सामने भगवान् कृष्ण थर-थर कांपते हुए खड़े रहते थे।

विश्वभर से प्रेम करनेवाले भगवान् बुद्ध भूखी वृद्ध बाघिन के मुंह में अपनी जंघा दे देते हैं। सन्त नामदेव यह सोचकर कि कुत्ता बिना चुपड़ी हुई रोटी कैसे खायगा, उसके पीछे घी लेकर दौड़ते हैं। वृक्ष काटनेवाले के सामने तुलसीदास जाते हैं और उससे कहते हैं, "भाई, मेरी गरदन पर प्रहार कर, लेकिन उस वृक्ष पर मत कर।" कबीर की आज्ञा पर जंगल से घास काटकर लानेवाला कुमार कमाल जब प्रभात की मन्द-मन्द वायु में घास को हिलते हुए देखता है तो द्रवित हो जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो घास के पौधे कहते हैं, "भाई, हमें मत काटो। भाई, हमें मत काटो।" उसके हाथ से हंसिया गिर जाता है। आंखों में प्रेमाश्रु उमड़ पड़ते हैं। वह वैसे ही लौट आता है। यह सब सुनकर कबीर कमाल के चरणों में गिर जाते हैं।

जगन्नाथपुरी के पास के नीले आकाश को देखकर और मन में यह सोचकर कि यह मेरा घनश्याम कृष्ण ही है, हाथ ऊंचे करके समुद्र में

नाचते फिरनेवाले महान् बंगाली वैष्णव वीर चैतन्य ! विष का प्याला पीनेवाली, काले सांप को शालिग्राम माननेवाली, भक्ति-प्रेम से नाचनेवाली मीरा ! स्वामी के काम के लिए अपने पुत्र का बलिदान करनेवाली पन्ना !

'यदि दिन में चौबीस के बजाय पचीस घंटे होते तो मैं प्रजा का अधिक कल्याण कर सका होता'—यह कहनेवाला विश्व-भूषण राजा अशोक !

प्रति पांचवें साल अपने सारे खजाने को लुटाकर अकिंचनत्व को सुशोभित करनेवाला राजा हर्ष !

जंगल में कन्द-मूल-फल पर जीवित रहनेवाला, घास-फूस पर सोनेवाला राणा प्रताप !

'प्रजा के द्वारा लगाये गए पेड़ों को भी हाथ न लगाओ'—इस प्रकार का आज्ञापत्र निकालनेवाले और पर-स्त्री को माता के समान समझनेवाले छत्रपति शिवाजी !

फल के बगीचे में से अपने हाथों एक फल तोड़ लिये जाने पर अपने हाथ कटवा देने की इच्छा रखनेवाले दादाजी कोंडदेव !

'मैंने पांच तोपें सुन लीं, अब सुख से मर रहा हूं'—ये शब्द कहनेवाले बाजी प्रभु !

'पहले कोंडाण्या का विवाह, बाद में रायबा का'—यह कहनेवाले तानाजी !

धर्म के लिए अपने राई-जैसे टुकड़े करवा लेनेवाले संभाजी !

अपने स्वामी के कार्य के लिए सब-कुछ बेच देनेवाले खंडो बल्लाल !

'बचेंगे तो और लड़ेंगे'—कहनेवाले दत्ताजी !

'ऐसा काम कीजिए कि मुंह से गिरनेवाला कफ़ शौच के द्वारा निकल जाय और मेरा मुंह राम-राम बोलने के लिए मुक्त हो जाय'—वैद्यों से इस प्रकार की प्रार्थना करनेवाले पेशवा प्रथम माधवराव !

'तुम्हें प्रायश्चित्त के रूप में अग्नि-स्नान करना चाहिए'—ऐसा राघोबा को कहनेवाले न्यायमूर्ति रामशास्त्री !

प्रजा को कष्ट पहुंचानेवाले अपने पुत्र को भी त्याग देनेवाली देवी अहिल्यावाई !

'मेरे मरने के वाद दूसरों को मेरे शरीर का स्पर्श न करने देना'—यह वात कहनेवाली झांसी की रानी लक्ष्मीवाई !

'मैंने जो उचित था वही किया, मुझे खुशी से फांसी दे दी जाय'—यह कहनेवाले तांत्या टोपे !

यह है भारतीय परम्परा ! यह है ध्येय पूजा ! भारत के प्रत्येक प्रान्त में इस प्रकार की ध्येय-पूजा करनेवाले नर-नारी-रत्न सतत जन्म लेते रहे हैं।

आज भी उस दृष्टि से भारत मरु नहीं वना है। परतन्त्रता के सर्व-भक्षक काल में भी भारत ने हमेशा ऐसे ध्येयनिष्ठ मनुष्यों को जन्म दिया है जो सवके हृदय में श्रद्धा का स्थान प्राप्त करने योग्य हैं।

: १९ :

अवतार-कल्पना

ऐसा समझा जाता है कि अपौरुषेयवाद और अवतारवाद के कारण भारतीय लोगों का अधःपतन हुआ। अव अपौरुषेयवाद में तो किसी का विश्वास नहीं है। इस वीसवीं शताव्दी में कोई भी यह मानने के लिए तैयार नहीं होगा कि वेद मनुष्यों ने नहीं लिखे, वे आकाश से गिरे हैं। वेद में अनेक स्तोत्र इस प्रकार के उद्गार प्रकट करते हुए दिखाई देते हैं कि "मैं आज इस नवीन स्तोत्र की रचना कर रहा हूं।" वेद का अर्थ तो विचार, ज्ञान और अनुभव का खजाना—वस इतना ही करना चाहिए। वेद के आधार पर स्थापित किए हुए धर्म का मतलव है ज्ञान के ऊपर, अनुभव के ऊपर स्थापित किया हुआ धर्म। जैसे-जैसे ज्ञान की वृद्धि होती जायगी, नया-नया अनुभव मिलता जायगा, वैसे-वैसे सनातन धर्म का स्वरूप भी नया-नया वनता जायगा। सनातन धर्म का अर्थ है प्रगतिशील धर्म।

लेकिन यह समझ में नहीं आता कि अवतारवाद से क्या नुकसान होता है? अवतारवाद की मूलभूत कल्पना त्रिकालाबाधित है। अवतारवाद का अर्थ दुर्बलतावाद नहीं। अवतारवाद का अर्थ प्रयत्नों का अभाव नहीं। अवतारवाद का अर्थ है अपार प्रयत्नवाद और अवतारवाद का अर्थ है अविरत कर्म, अखण्ड उद्योग।

हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने से अवतार नहीं होते। विलोये बिना मक्खन नहीं मिलता। बिना परिश्रम के फल नहीं मिलता। बिना कष्ट उठाये काम नहीं होता। इसी तरह बिना प्रयत्न के अवतार नहीं होता। प्रयासों की पराकाष्ठा में ही अवतार-रूपी फल लगता है।

हमारे मन की आशा-आकांक्षाएं हमें जिस व्यक्ति में अवतरित दिखाई दें वही अवतार है। हमारे मन के ध्येय, हमारी भावनाएं, हमारे सुख-दुःख और हमारे मन के विचार हमें जिस व्यक्ति में मूर्तिमान दिखाई दें वही अवतार है।

अवतार पहले नहीं होता। पहले हम होते हैं, बाद में अवतार! हम सब प्रयत्न करते हैं, छोटे-बड़े सब प्रयत्न करते हैं। सभी अपनी-अपनी ओर से समाज में सुख और शान्ति का निर्माण करने के लिए शक्ति-भर कष्ट उठाते हैं। लेकिन हमारे सब के प्रयत्नों में एकसूत्रता नहीं होती, एकवाक्यता नहीं होती। हम जिधर मन में आया दौड़ने लगते हैं—जिधर मन में आया प्रयत्न करने लगते हैं। हम सबको यह मालूम रहता है कि हमें एक नये संसार का निर्माण करना है। सबमें उत्कट भावना होती है, सबमें लगन होती है, लेकिन ये सारे प्रयत्न अलग-अलग होते हैं।

हमारे मन में कुछ-न-कुछ कल्पना अवश्य होती है। लेकिन वह कल्पना स्पष्ट नहीं होती है। हमारी आंखों के सामने हमारा ध्येय अस्पष्ट रहता है। इस अस्पष्ट ध्येय को स्पष्ट करने के लिए ही अवतार की आवश्यकता होती है, अतः वह होता है। वह एक सामाजिक आवश्यकता ही है। अवतार अकस्मात् नहीं होता। वह धूमकेतु की भांति कहीं दूसरी जगह से नहीं आता। लाखों लोगों के अस्पष्ट प्रयत्नों में से स्पष्ट ध्येय दिखानेवाला अवतार सृष्टि के नियमों के अनुसार ही होता है।

घर्र-घर्र घूमनेवाले अणु जिस प्रकार स्थिर हो जाते हैं उसी प्रकार चक्कर में पड़े हुए साधारण जीव ध्येय की स्पष्ट दिशा दिखानेवाले के आस-पास स्थिर हो जाते हैं। जिस प्रकार लोहे के कण चुम्बक के पास आ जाते हैं, जिस प्रकार ग्रह सूर्य के आस-पास घूमने लगते हैं, उसी प्रकार प्रयत्न करनेवाले जीव प्रयत्नों का गन्तव्य स्थान दिखानेवाले महापुरुष के आस-पास घूमने लगते हैं।

श्रीरामचन्द्र के जन्म के पहले वन्दर प्रयत्न कर रहे थे। उन वानरों के प्रयत्नों के कारण ही राम का जन्म हुआ था। गोकुल में ग्वालों के प्रयत्न के कारण ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था। ग्वालों के हाथ में लकड़ी रहती थी; लेकिन उन लकड़ियों को एक ध्येय पर केन्द्रित करने के लिए श्रीकृष्ण की आवश्यकता थी। हाथ में लकड़ी लेकर घूमनेवाले ग्वालों को पुकारकर श्रीकृष्ण ने कहा, "आओ, आओ, सब लोग आ जाओ! हमें इन्द्र के जुल्म को मिटाना है न? आओ, हम सब लोग मिलकर गोवर्द्धन पर्वत को उठाएं। लगाओ एक साथ लाठियां। एक ध्येय के लिए सब लोग खड़े हो जाओ!" ग्वालों ने ही लकड़ियां उठायीं। उन्होंने ही पर्वत उठाया। कृष्ण ने क्या किया? उन्होंने तो केवल अंगुली दिखाई। यहां लकड़ी लगाओ। यहां एक जगह आओ। इस पर्वत को उठाओ। इस जुल्म को दूर करो। कृष्ण तो केवल पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। अवतारी पुरुष जनता के प्रयत्नों को एक विशेष दिशा में मोड़ देते हैं। शक्ति जनता की ही होती है; लेकिन केन्द्रीभूत और सुसंगठित न होने के कारण वह परिणामकारक नहीं होती। जब उस शक्ति को व्यवस्थित स्वरूप दे दिया जाता है तब वह अमोघ हो जाती है, तेजस्वी हो जाती है, अप्रतिहत हो जाती है। वह सारे संकटों को समाप्त किये विना नहीं रहती।

छत्रपति शिवाजी महाराज मानो महाराष्ट्र के लाखों प्रयत्नशील लोगों को एकत्र करनेवाली एक महान् शक्ति थी। उनकी बलवान मूर्ति आंखों के सामने आते ही उस काल के सारे प्रयत्न करनेवाले लोग शीघ्र ही विना बुलाये उस मूर्ति के सामने खड़े हो जाते हैं और उनके आदेश को मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। अवतारी विभूति का अर्थ है स्थिर

विभूति—ध्येय पर दृष्टि रखकर अटल खड़ी रहनेवाली विभूति। हम सब ध्येयपूजक हैं। लेकिन हमारा यह निश्चय नहीं रहता है कि चाहे आसमान टूट पड़े या पृथ्वी फट जाय हम उसे ही पकड़े रहेंगे। हम मोह में पड़ जाते हैं, सुख के लालच में फंस जाते हैं। कष्टों से घबराने लगते हैं, मुसीबत से डरने लगते हैं और मृत्यु से पराङ्मुख होते हैं। हम सब ध्येय के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन वह प्रयत्न कब ठंडा पड़ जायगा, कब समाप्त हो जायगा, यह नहीं कह सकते।

इस प्रकार के चंचल लोगों की ध्येय-श्रद्धा को महापुरुष दृढ़ बनाते हैं। संसार उन महापुरुषों की परीक्षा लेता है। सुकरात की परीक्षा ली गई थी। ईसा की परीक्षा ली गई थी। परन्तु वे महान् पुरुष अविचल रहे और वे संसार के श्रद्धाभाजन बने हुए हैं। वे संसार के प्रयत्नों को अपने दिव्य-भव्य धैर्य से और आत्मत्याग से सही दिशा में मोड़ देते हैं।

महात्मा गांधी के पीछे करोड़ों भारतीय क्यों खड़े रहते थे? बात यह थी कि करोड़ों भारतीय लोगों के तिल-तिल प्रयत्नों से उनका निर्माण हुआ था। करोड़ों भारतीय लोगों को अपने ध्येय और अपनी आशा-आकांक्षाएं उस महापुरुष में अत्यन्त उत्कटता से समाई हुई दिखाई देती थीं। अपने हृदय का ध्येय जिस व्यक्ति में हमें अत्यन्त प्रखरता और स्पष्टता से मूर्तिमान होता दिखाई दे, वही हमारा अवतारी पुरुष है। जहां हमारे प्रयत्नों की पराकाष्ठा मूर्तिमान रूप ग्रहण करती दिखाई दे वही हमारा अवतारी पुरुष है।

फिर अवतार का अर्थ क्या है? जबरदस्त लगन के साथ प्रयत्न करना। हमारे छोटे प्रयत्नों में से छोटे अवतार का निर्माण होगा, बड़े प्रयत्नों में से बड़े अवतार का निर्माण होगा। महात्माजी की शक्ति बढ़ाना हम लोगों के हाथ में था। राम के शब्दों की कीमत बढ़ाना वानरों के हाथ में था। इंग्लैंड जाते समय गांधीजी ने कहा था, "मैं वहां से क्या लाऊंगा? मैं लानेवाला कौन होता हूं? जो कुछ तुम दोगे वही मैं लाऊंगा, मैं तो तुम्हारी ही शक्ति हूं।" महापुरुषों की शक्ति बहुजन समाज की शक्ति से मर्यादित रहती है। जिस अनुपात से बहुजन समाज प्रयत्नों की पराकाष्ठा

करेगा उसी परिमाण से अवतारी-पुरुष अपनी प्रभा फैलायेगा।

आपको अवतार की आवश्यकता है न? तो फिर भारतीय संस्कृति कहती है, "अपनी सारी शक्ति से ध्येय की ओर बढ़ने के लिए खड़े हो जाओ। स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, राजा-रंक, सभी खड़े होओ। जरा आंच लगने दो, हृदय जलने दो, हाथ-पैर हिलने दो, करोड़ों लोगों के ऐसे हार्दिक आंदोलनों में से ही महापुरुष प्रकट होते हैं और उनके प्रयत्नों में आगे सफलता के फल लगते हैं।"

इमर्सन ने एक स्थान पर कहा है कि 'महापुरुष मानो लहर के ऊपर की झाग हैं।' कितनी सुन्दर उपमा है! लहर कितनी दूर से चढ़ती-गिरती आती है, निरन्तर बढ़ती हुई जाती है। अन्त में वह ऊंचाई की पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है। उस समय उस लहर के शिखर पर स्वच्छ झाग आ जाती है, वह उस लहर का निर्मल अन्तरंग है। समाज में कितने ही वर्षों से आन्दोलन हो रहा है, प्रयत्न हो रहे हैं। कदम बढ़ते जा रहे हैं। समाज में आन्दोलन बढ़ते-बढ़ते प्रचण्ड लहर-जैसे बन जाते हैं और उस लहर के सिर पर महापुरुष खड़ा रहता है। उस लहर की स्वच्छता ही मानो वह अवतार है। जनता के अनन्त प्रयत्नों में हलचल पैदा होने से जो स्वच्छ पवित्र स्वरूप ऊपर आ जाता है वही स्वरूप मानो महापुरुष है। जनता के प्रयत्नों की सारी प्रखरता, सारा पवित्र मांगल्य, सारी निर्दोष विशालता उस अवतारी पुरुष के द्वारा संसार को दिखाई देती है। लोगों के प्रयत्नों का सुन्दर नवजात शिशु ही मानो वह महान् विभूति है।

कहा जाता है कि सत्पुत्र सत्कुल में ही उत्पन्न होता है। इस कहावत का यही अर्थ है। तपस्या के गर्भ में एक सद् अंकुर का निर्माण होता है। जिस समाज में तपस्या है, लगन है, प्रयत्न है, ध्येय-निष्ठा है, उस समाज में महात्माओं का अवतार होता है। महात्मा बुद्ध के जन्म लेने के पूर्व भारत में एक प्रचण्ड वैचारिक आन्दोलन चल रहा था। जगह-जगह यह बहस शुरू हो गई थी कि यह बात सत्य है या वह। जगह-जगह चर्चा और अध्ययन-मण्डल दिखाई देते थे। उस प्रकार की प्रचण्ड वैचारिक क्रांति में से महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ। उस वैचारिक लहर के ऊपर शुद्ध स्वच्छ झाग ही मानो यह महान् सिद्धार्थ है।

अपने अनन्त प्रयत्नों या आन्दोलनों का संचालन करनेवाला, हमारे अनन्त प्रयत्नों का अर्थ बतानेवाला महापुरुष देखकर हमारा हृदय उछलने लगता है। मां को जब बालक के नौ मास उदर में रखने और प्रसव-पीड़ा के सहन करने के फलस्वरूप बालक का जन्म होता है तब वह सब-कुछ भूल जाती है। यही हाल जनता का है। जनता महापुरुषों की जननी है। इन महापुरुषों का नामोच्चार करते-करते जनता में अपूर्व स्फूर्ति आ जाती है।

हम स्वाभाविक रूप से कह देते हैं कि नाम-जप का क्या अर्थ है? लेकिन नाम-जप में अपार शक्ति है। 'वन्देमातरम्' मंत्र का जप करते-करते छोटे बच्चे हँस-हँसकर कोड़े खा लेते थे। 'भारत माता की जय' बोलते-बोलते शहीद फांसी के तख्ते पर चढ़ जाते थे। 'महात्मा गांधी की जय' बोलते-बोलते स्त्रियां अपने सिर पर लाठियों के वार सहन कर लेती थीं। 'इन्कलाब ज़िन्दाबाद' कहते-कहते क्रान्तिकारी लोग गोलियों के सामने सीना तानकर खड़े हो जाते थे।

नाम-जप का अर्थ है, ध्येय का जप। महात्मा गांधी का अर्थ है भारतवर्ष की आजादी। राम-नाम का अर्थ है रावण का विनाश और पददलितों का उद्धार, गोपालकृष्ण का अर्थ है दैववाद के विरुद्ध विद्रोह और शुद्ध कर्मयोग की महिमा का प्रसार। गोपालकृष्ण का अर्थ है भेदातीत प्रेम; स्त्री, शूद्र, वैश्य सबको समान मानना। 'कार्ल मार्क्स की जय', 'लेनिन की जय' का अर्थ है सारे श्रमजीवी लोगों का महान् वैभव। इस प्रकार के प्रत्येक नाम में अनन्त अर्थ हैं। इस एक नामोच्चार में अपार स्फूर्ति है। वह हमारे ध्येय का मूर्तिमान् स्मरण है। वह स्मरण हमारी मृत्यु पर सवार रहता है।

फिर अवतारी पुरुष क्यों निर्भय रहते हैं? वज्र को भी मोड़ देने की शक्ति उनमें कहां से आती है? अवतारी पुरुष को मालूम रहता है कि मैं अकेला नहीं हूं। 'मेरा' का अर्थ है लाखों लोग। मैं उन लाखों लोगों का प्रतीक हूं। मैं लाखों लोगों से जुड़ा हुआ हूं। लाखों लोगों के लाखों हाथ मेरे आस-पास हैं। मेरे शरीर को हाथ लगाने का अर्थ है लाखों लोगों के

शरीरों को हाथ लगाना। मेरा अपमान करना मानो लाखों लोगों का अपमान करना है।

क्या महात्मा गांधी अकेले थे ? लाखों चर्खों पर सूत कातनेवाले लोग उस सूत के द्वारा उनसे हमेशा के लिए वंध गए थे। ग्राम-सेवा करनेवाले हजारों लोग गांधीजी के साथ जुड़ गये थे। हरिजन-सेवा करनेवाले सैकड़ों भाई गांधीजी के साथ एक हो गये थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करनेवाले, साम्प्रदायिक झगड़े मिटानेवाले, शराव-वन्दी करनेवाले, सव लोग गांधीजी के साथ जुड़ गए थे। इन करोड़ों लोगों की, इस जनता-जनार्दन की सुदर्शन-शक्ति गांधीजी के आस-पास घूमती थी। और क्या जवाहरलाल अकेले हैं ? पददलितों का पक्ष लेनेवाले, मदान्ध एवं विलासी लोगों का नाश उतारनेवाले, श्रम का महत्त्व पहचाननेवाले, किसान-मजदूरों के लिए वलिदान करनेवाले, उनका संगठन करनेवाले सच्चे मानवधर्म को पहचाननेवाले और सारे दम्भों को दूर हटा देनेवाले हजारों लोग जवाहरलाल के आस-पास खड़े हैं। और जिनके लिए जवाहरलाल व्याकुल हैं, तड़प रहे हैं, वे करोड़ों हिन्दू-मुसलमान भाई उनके साथ जुड़े हुए हैं। इसीलिए जवाहरलाल के शब्दों में तेज है, वाणी में ओज है और दृष्टि में तेजस्विता है।

महापुरुष का अर्थ है पुंजीभूत विराट जनता। इसलिए वलवान सरकारें भी ऐसे महापुरुषों से झुकी रहती हैं। महापुरुषों का खून गिराना कोई सरल वात नहीं है। सम्भाजी के खून ने मुगल-साम्राज्य को धूल में मिला दिया। गुरु गोविंदसिंह के खून ने सिक्ख साम्राज्य का निर्माण कर दिया।

राजा विराट के दरवार में चौसर का खेल हो रहा था। खेलते-खेलते गुस्से में भरकर राजा विराट ने धर्मराज पर पासा फेंक दिया। धर्मराज के ललाट से खून की धार वह निकली। धर्मराज ने उस खून को नीचे नहीं गिरने दिया। सैरन्ध्री एक पात्र लेकर आ गई। उस पात्र में वह खून इकट्ठा कर लिया गया। धर्मराज से किसी ने पूछा, "आपने अपनी अंजलि में रक्त क्यों रखा ? यदि वह नीचे गिरता तो उससे क्या हानि होती ?"

धर्मराज ने उत्तर दिया, "यदि इस रक्त की एक बूंद भी जमीन पर गिर पड़ती तो विराट का राज्य भस्म हो गया होता।"

अवतारी पुरुषों के रक्त में भी बड़ी शक्ति होती है। ईसा का खून गिराया गया, लेकिन उस खून ने संसार को जीत लिया। कभी-कभी सत्तालोलुप लोग अवतारी पुरुषों की इस प्रचण्ड शक्ति को भूल जाते हैं। वे अवतारी पुरुषों का खून गिराते हैं और उस खून के गिरते ही सत्ताधारियों की सत्ता रसातल पहुंच जाती है, यह इतिहास का सिद्धांत है।

अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर ऐसा अवतारी पुरुष जिन्हें देखता है वे धन्य हो जाते हैं। ऐसा अवतारी पुरुष उत्पन्न करने के लिए, जो साथ-साथ परिश्रम करते हैं, जो एक-दूसरे के निकट आते हैं, छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, श्रेष्ठ-कनिष्ठ आदि भेदों को दूर हटाकर कर्मयज्ञ करते हैं, वे धन्य हैं। यह महान् सहयोग है, इस कर्म में सबके लिए मौका है, चाहे पतित हो, चाहे पुण्यवान। सब प्रयत्न करने के लिए हैं। अपने-अपने छोटे कर्मों से, आइये, हम महापुरुष को जन्म दें। हम कर्मों के पर्वत बनाए, प्रयत्नों के पहाड़ रचें। कण-कण से ही पर्वत बने हैं। सेवा और श्रम के ये पर्वत महापुरुष-रूपी जीवनदायी मेघों को खींच लेंगे और समाज सुखी एवं समृद्ध बनेगा।

भारतीय संस्कृति कहती है कि यदि महापुरुष का जन्म चाहते हों तो चुपचाप मत बैठो, केवल 'हरि-हरि' जपते रहकर खटिया पर बैठे रहने से श्रीहरि का जन्म नहीं होता !

"न हि श्रांतस्य ऋते सख्याय देवाः।"

यह श्रुति-वचन है। जो थके-मांदे हैं, भगवान् उन्हीं के मित्र होते हैं। उन्हीं की रक्षा करते हैं। जो परिश्रम नहीं करते; हाथ-पैरों का, हृदय-बुद्धि का उपयोग नहीं करते, ऐसे कर्मशून्य लोगों के लिए भगवान् खड़े नहीं रहते।

अवतारी पुरुषों को आंखों से देखने से अधिक सौभाग्य की क्या बात है! ऐसे पुरुष हमारी आशा हैं। ऐसे पुरुष हमारी सामर्थ्य हैं। ऐसे पुरुषों को देखने की हमें जबरदस्त इच्छा रहती है। ऐसी विभूति के दर्शनों के लिए आंखें प्यासी रहती हैं। ईश्वर की महिमा ऐसे लोगों में ही मालूम

होती है। मानव की महिमा भी ऐसे लोगों में प्रकट होती है। महापुरुष मानव की शक्ति दिखा देते हैं। मनुष्य कितना ऊंचा जा सकता है, यह बात भी महापुरुष ही दिखा देते हैं।

भारतीय संस्कृति में कर्मशून्यता के लिए, आलस्य के लिए, निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है प्रयत्नों की पराकाष्ठा, अमर आशावाद और करोड़ों छोटे-बड़े लोगों का सहयोग। अवतार-कल्पना में इन सब बातों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। जिस दिन सब लोग उसे समझने लग जायंगे, वह बड़ा सुदिन होगा।

: २० :

मूर्तिपूजा

भारतीय संस्कृति में मूर्तिपूजा एक महान् और मधुर कल्पना है। मनुष्य उत्तरोत्तर अपना विकास कर सके इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति ने जिन अनेक साधनों का निर्माण किया है उनमें यह एक महान् साधन है। जितना ही हम मूर्तिपूजा का विचार करते हैं, उतना ही हमें मालूम होता है कि उसके मूल भाव में कितनी गहराई है!

मनुष्य विभूतिपूजक है, यह प्रवृत्ति हम लोगों में अपने आप उत्पन्न हुई है। जो हमसे बड़े हैं उनके संबंध में हमें आश्चर्य होता है। जो बुद्धि में, उदारता में बड़े हैं, उनके संबंध में हमें ऐसा लगने लगता है कि हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। यदि हममें यह महान् विभूतियों की पूजा करने की वृत्ति न होती तो हमारा विकास नहीं होता। विभूतिपूजा विकास का प्रभावशाली साधन है।

मूर्ति का अर्थ है आकार। मूर्तिपूजा का अर्थ है आकारपूजा, प्रत्यक्ष पूजा। अपनी आंखों के सामने हमें कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जीवन की प्रथमावस्था से ही हम सब आकारपूजक होते हैं। हम व्यक्ति के आस-पास इकट्ठे होते हैं, व्यक्ति के बिना हमारा कोई कामकाज नहीं चलता। हमें ऐसी मूर्ति की जरूरत रहती है, जिसे हम

आंखों से देखें, कानों से जिसके शब्द सुनें और हाथ-पैरों से जिसे पकड़ सकें। इसीलिए बुद्ध-धर्म में तीन साधकावस्थाएं बताई गई हैं—

बुद्धं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि

मनुष्य को इन तीन स्थितियों में से गुजरना पड़ता है। वह पहले महान् व्यक्ति की शरण में जाता है। हमें अपनी आंखों के सामने जो महान् विभूति दिखाई देती है, हम उसके पास जाते हैं। कोई गांधीजी के आस-पास इकट्ठे हो जाते हैं, कोई अरविंद के चरणों के पास जाते हैं, कोई रवींद्रनाथ की विश्वभारती में प्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार मनुष्य विकास की ओर जाना चाहता है।

लेकिन व्यक्ति तो क्षणभंगुर है। आज नहीं तो कल उसे पर्दे की ओट में जाना पड़ेगा। जिस महापुरुष के शरीर से हम प्रेम करते हैं, वह शरीर एक दिन मिट्टी में मिल जाता है। वे प्रेमभरी पवित्र आंखें बन्द हो जाती हैं। वह अमृत बरसानेवाला मुख बन्द हो जाता है और वे आशीर्वाद देनेवाले हाथ ठंडे पड़ जाते हैं।

जिस विभूति के चरणों में हम बैठते हैं वह अदृश्य हो जाती है। लेकिन उस विभूति के बाह्य आकार का महत्त्व नहीं है। उस आकार में से जो दिव्य तत्त्व बाहर निकलते हैं, उन्हीं का महत्त्व है। वे तत्त्व क्या थे, कैसे थे?

उस महापुरुष के निकट के सारे लोग एकत्र होते हैं और अपना एक बन्धु-संघ बनाते हैं। वे सब एक गुरु के शिष्य होने के कारण गुरु के उद्देश्यों का अनुकरण करना चाहते हैं। लेकिन गुरु के उद्देश्यों के संबंध में उनमें मतभेद हो जाता है। वह बन्धु-संघ स्थायी नहीं रहता, उसमें से शाखाएं फूट निकलती हैं। भिन्न-भिन्न पंथ शुरू हो जाते हैं। अतः प्रश्न होता है कि ऐसे समय क्या करें?

व्यक्ति चला गया। संघ मिट गया। अब क्या रहा? अब तो धर्म शेष रहा। हमारे गुरु जिस बात के लिए जिए और जिस बात के लिए मरे, हम उसी धर्म की शरण में जाते हैं। उस महाविभूति का जो तत्त्वज्ञान

हमारी समझ में आता है, उसी तत्त्वज्ञान की हम पूजा करने लगते हैं। अपनी दृष्टि से उस महापुरुष का जो स्वरूप हमारे मन पर अंकित होता है हम उसी स्वरूप की उपासना करने लगते हैं।

हम व्यक्ति-पूजा से आरम्भ करते हैं और तत्त्व-पूजा में उस आरम्भ का पर्यवसान हो जाता है। हम मूर्त की ओर से अमूर्त की ओर जाते हैं। मूर्तिपूजा की यह मर्यादा हमें पहचाननी चाहिए। अन्त में कभी-न-कभी व्यक्त से अव्यक्त की तरफ, मूर्त से अमूर्त की तरफ, आकार से आन्तरिक तत्त्व की तरफ हमें जाना ही पड़ेगा। उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।

हम मंगलमूर्ति की पूजा करते हैं। गणेश-चतुर्थी के दिन हम गणपति की मूर्ति लाते हैं। उस मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। लेकिन दो, चार, दस दिन रखकर उसका विसर्जन कर देते हैं। उस मूर्ति का अव्यक्त, अमर भाव स्थायी रूप से जीवन से जोड़कर मूर्ति को डुबो देते हैं। मूर्तिपूजा स्थायी ध्येय नहीं है। उसका यही अर्थ है कि हमें कभी-न-कभी मूर्तिपूजा से आगे बढ़ना चाहिए।

मानवीय विकास के लिए मूर्तिपूजा की तरह ही मूर्ति-भंग करना भी आवश्यकीय है। हम मूर्तिपूजक हैं, और मूर्ति-भंग करनेवाले भी। जिस मूर्ति की हमने कल पूजा की आज भी उसी की पूजा करते रहेंगे, यह वात नहीं है। हमारी मूर्ति का तो उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। पुरानी मूर्ति जाती और नई मूर्ति आती है। मान लीजिये कि वचपन में हम अपने माता-पिता की मूर्ति की पूजा करते थे। लेकिन जव वड़े होते हैं तो इस मूर्ति को दूर करके भारत माता की मूर्ति की पूजा करने लगते हैं। छोटी मां का वड़ी मां में पर्यवसान हो गया। छोटी मां की मूर्ति तोड़कर हम वड़ी मां की मूर्ति वनाते हैं। हम इससे आगे भी जाते हैं। अव भारत माता की भी मूर्ति अच्छी नहीं लगती। हम विश्वम्भर मां की मूर्ति वनाकर उसकी पूजा करते हैं। सारी मानव-जाति की मूर्ति वनाकर उसकी उपासना करते हैं। जन्म देनेवाली मां गई और भारत माता आई। भारत माता गई और मानव-जाति की मां आई। इस प्रकार हम उत्तरोत्तर अपनी मूर्तिपूजा विशाल करते जाते हैं।

फिर श्रीराम की मूर्ति केवल रामचन्द्रजी की मूर्ति नहीं रहती। वाली को मारनेवाले, शम्बूक का संहार करनेवाले राम हमारी आंखों के सामने नहीं रहते। राम की मूर्ति बढ़ते-बढ़ते जगदीश्वर की मूर्ति बन जाती है। अयोध्यापति राम विश्वव्यापी राम हो जाते हैं। राम की मनुष्य-कल्पना नष्ट हो जाती है, और अतिमानुष्य कल्पना खड़ी रहती है।

इस प्रकार मूर्तिपूजा विश्व-पूजा बन जाती है। वह छोटी-सी मूर्ति अनन्त की मूर्ति हो जाती है। लेकिन मूर्तिपूजा में समाया हुआ यह विकास हममें से बहुत-से लोगों में नहीं होता। उस मूर्ति में समाई हुई अनन्तता हमारे अनुभव में नहीं आती। मन्दिर से बाहर आते ही मूर्ति का खयाल नहीं रहता। उस पाषाण-मूर्ति की पूजा करते-करते ऐसा अवसर कभी नहीं आता कि हमें सर्वत्र ईश्वर की ही मूर्ति दिखाई दे। भगवान् की मूर्ति उस मूर्ति से आगे कभी जाती ही नहीं। लेकिन मूर्त से अमूर्त की ओर गए बिना आत्मसन्तोष नहीं हो सकता।

छोटा बच्चा हमेशा यह चाहता है कि मां उसके पास रहे। जब वह थोड़ी-सी भी दृष्टि की ओट होने लगती है तो बालक रोता है। लेकिन बालक को तो मां से दूर रहने की आदत डालनी ही पड़ती है। मां की भावना रखकर संसार में घूमना पड़ता है। मूर्त से अमूर्त की ओर जाना पड़ता है। उस आकार में समाई हुई मां को उसे विशाल बनाना पड़ता है। मां की प्रेममयी, स्नेहमयी, ज्ञानमयी मूर्ति हृदय में बसानी पड़ती है। फिर वह जहां जायगा वहां मां-ही-मां दिखाई देगी।

जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।

हम सब लोग जब मन्दिर में जाते हैं तब हममें भक्ति-भाव रहता है। तब अपने हृदय में हम भगवान् के सामने खड़े रहकर अपने कान पकड़ते हैं। धीरे से गाल पर चपत लगाते हैं। साष्टांग प्रणाम करते है, प्रदक्षिणा करके भगवान् की मूर्ति को हृदय में रखने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन मन्दिर के बाहर आते ही हमारा व्यवहार पहले-जैसा हो जाता है। हमारी मूर्तिपूजा तभी सार्थक होगी जब मन्दिर के बाहर भी भगवान् हमारे मन में बसे रहेंगे। आजकल तो मन्दिर के भगवान् मन्दिर में ही

रहते हैं। हम उन्हें बाहर नहीं लाते। इसलिए समाज में अपार दुःख और विषमता है।

जिस प्रकार हमेशा हमें मां का स्मरण रहता है उसी प्रकार हमेशा हमें मन्दिर की मूर्ति का भी स्मरण रहना चाहिए। वह मूर्ति त्रिलोक में संचार करनेवाली होनी चाहिए। हमें सर्वत्र उसका दर्शन होना चाहिए। यद्यपि हिन्दुओं ने मूर्तिपूजा का ऐसा विकास नहीं किया, ऐसा विकास करने की ओर उनका ध्यान भी नहीं गया, तथापि अन्य धर्मावलम्बियों की अपेक्षा उन्होंने इसका अधिक विकास किया है। हिन्दू-धर्म की अपेक्षा दूसरे धर्मों में भी मूर्तिपूजा अधिक है। हिन्दू-धर्म की मूर्तिपूजा की अपेक्षा दूसरे धर्मों की मूर्तिपूजा कम उदार है। उदाहरणार्थ, ईसाइयों के क्रास अथवा मुसलमानों के काबा को हिन्दू धर्मावलम्बी पवित्र मानता है। हिन्दू कहता है, जैसी हमारी शालिग्राम की मूर्ति वैसी ही यह उनके लिए है। हिन्दू कभी ऐसा नहीं कहेगा कि राम की ढाई हाथ की मूर्ति के बाहर संसार में कहीं पवित्रता नहीं है। लेकिन इसके विरुद्ध क्रास को पवित्र माननेवाला ईसाई राम की मूर्ति को पवित्र नहीं मानेगा। वे इस कल्पना को सहन भी नहीं करते कि उनके धर्म और उनके धर्मचिह्न को छोड़कर संसार में कहीं भी पवित्रता हो सकती है।

वे मानते हैं कि केवल क्रास ही सत्य है, केवल काबा ही सत्य है। उस मूर्ति के परे, उस चिह्न के परे वे जाते ही नहीं। यदि इस रीति से देखें तो हमें यह स्पष्ट दिखाई देगा कि मुसलमान और ईसाई केवल आकार-पूजक और अत्यन्त संकुचित मूर्तिपूजक हैं। हिन्दू तो उस आकार के परे जाकर अन्य मूर्तियों को भी उतनी ही पवित्र मान सकता है।

मूर्तिपूजा कब से शुरू हुई? मनुष्य के जन्म से! सूर्य की पूजा, समुद्र की पूजा, वृक्षों की पूजा, सर्प की पूजा—ये पूजा के प्रकार अनादि हैं। लेकिन पत्थर का आकार बनाकर मन्दिर का निर्माण करके पूजा करना कब से शुरू हुआ? बहुत-से लोग कहते हैं कि यह मन्दिर की मूर्तिपूजा बुद्ध के निर्वाण के बाद प्रचलित हुई। बुद्ध के निधन के बाद उनकी सैकड़ों मूर्तियां बनीं। भिन्न-भिन्न संघारामों में बुद्ध की मूर्तियों की

स्थापना की गई। बुद्ध-धर्म को आत्मसात् कर लेने के बाद हिन्दू-धर्म ने उसी प्रथा को पकड़ लिया। सैकड़ों देवताओं के सैकड़ों मन्दिर भी बन गये।

यह बात नहीं भुलाई जा सकती कि यद्यपि पाषाणमय आकार की पूजा बुद्ध से शुरू हुई तथापि मूर्तिपूजा सनातन है। शिल्पकला का विकास होने पर महान् विभूतियों का स्मरण ताजा रखने की दृष्टि से उनकी मूर्तियां बनाई जाने लगीं। प्रतिमाएं बनाई जाने लगीं। सबके मन में इस बात की उत्कण्ठा होती है कि महापुरुष कैसे दिखाई देते हैं। हम कल्पना करने लगे कि भगवान् कैसा होगा। हमारे दो हाथ हैं, उसके चार होंगे। हमारा एक मुंह है, उसके चार मुंह होंगे। मनुष्य इस प्रकार की कल्पना करने लगा; लेकिन परमेश्वर की सच्ची मूर्ति की कल्पना कौन कर सकता है!

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये
सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटियुगधारिणे नमः॥

यही उसका अन्तिम स्वरूप निश्चित किया गया।

आखिर ईश्वर की कल्पना हम किस आधार पर करें? कवि बायरन कहता है, "भगवन्, समुद्र तुम्हारा सिंहासन है।" इस भव्य सिंहासन के ऊपर सिंहासन पर बैठनेवाले राजाधिराज की कल्पना करनी है। सृष्टि में जो महान् वस्तु दिखाई देती है उसी में हमें भगवान् के अपार वैभव की कल्पना होती है। अतः उसे ही हम भगवान् मानकर पूजने लगते हैं। सागर को देखकर भगवान् के वैभव की कल्पना होती है, अतः हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सागर भी भगवान् की एक मूर्ति है। सागर को देखकर हम हाथ जोड़ते हैं। अनन्त लहरों से रात-दिन उछलनेवाले, सतत गर्जना करनेवाले सागर को हम प्रणाम न करें तो फिर किसको करें?

आकाश का सूर्य भगवान् की ही मूर्ति है। जिसके पास अंधेरा फटकता नहीं, जो रात-दिन जलता रहता है, संसार को जीवन दे रहा

है, यदि ऐसे प्रज्वलित तेज के गोले को ईश्वर का अंश न मानें तो फिर किसे मानें ?

हजारों एकड़ जमीन को शस्यश्यामला बनानेवाली गंगा-जैसी नदी, हिमालय-जैसा गगनचुम्बी हिमाच्छादित पर्वत, आकाश को चूमनेवाले विशाल वट वृक्ष; उदार, वीर, गम्भीर वनराज केसरी तथा अपने भव्य, दिव्य पंख खड़े करनेवाला सौन्दर्यमूर्ति मयूर, यदि इन सबमें हम भगवान् का वैभव न देखें तो फिर कहां देखें ?

विश्वामित्र द्वारा अपनी आंखों के सामने अपने सौ पुत्रों की हत्या देखकर भी शान्त रहनेवाले भगवान् वशिष्ठ, सत्य के लिए राजपाट छोड़कर वन जानेवाले भगवान् रामचन्द्र, अपने शरीर का मांस करवत से कटवा कर देनेवाले राजा मयूरध्वज, बचपन में ही जंगल में चलनेवाले तेजस्वी ध्रुव, महाभारत की रचना करनेवाले महर्षि व्यास, ये सब ईश्वर की ही विभूतियां थीं।

बच्चे का लालन-पालन करनेवाली, बच्चे को दुःखी देख सुध-बुध खो देनेवाली, अपने प्राणों की बाजी लगाकर बच्चे के प्राण बचानेवाली, कहीं कुछ भी अच्छी चीज मिले तो पहले बच्चों को लाकर देनेवाली, बच्चे को मीठा भोजन, अच्छे कपड़े, सब-कुछ पहले देनेवाली तथा जिसका सारा जीवन ही पुत्रमय हो गया हो, यदि उस प्रेमसागर मां को भगवान् न मानें तो फिर किसे मानें ?

मातृदेवो भव।

यह श्रुति की आज्ञा है। क्या आपको भगवान् की पूजा करनी है ? यदि करनी हो तो अपनी माता की पूजा करो। वह भगवान् की ही पूजा हो जायगी। ईश्वर के अपार प्रेम की कल्पना हमें माता के प्रेम से ही हो सकेगी।

और पशु से मनुष्य बनानेवाला महान् सद्गुरु भी तो ईश्वर की ही मूर्ति है। मां-बाप ने शरीर ही दिया; लेकिन गुरु ने ज्ञान-चक्षु दिये। उसने यह सिखाया कि मानव-जन्म किस प्रकार सार्थक हो सकता है। वे गुरु मानो हमारे भगवान् ही हैं।

ये सब भगवान् की ही मूर्ति हैं। संसार में इन महान् लोगों के

बहुत-से मन्दिर हैं। जिधर देखिये उधर मूर्तियां हैं, तसवीरें हैं, स्मारक हैं। यदि आप यूरोप महाद्वीप में जायं तो आपको हर जगह विभूतिपूजा दिखाई देगी। वहां ईश्वर की अनन्त रूपों में पूजा होती है। भारतीय संस्कृति सन्तों की दिव्यता पहचानती है। लेकिन यूरोपीय संस्कृति कवि, दार्शनिक, गणितज्ञ, वैज्ञानिक, वीर, राजनीतिज्ञ, संगीतज्ञ, चित्रकार, शिल्पकार, अभिनेता आदि सभी प्रकार के रूपों में परमेश्वर की विभूतियों की पूजा करती है।

भारतीय मूर्तिपूजा आखिर क्या सन्देश देती है? भगवद्गीता का दसवां अध्याय मूर्तिपूजा सिखाता है। "संसार में जहां-जहां विभूति दिखाई दे, वहां-वहां मेरा अंश मान," यह बात गीता कह रही है। लेकिन गीता इतना ही कहकर चुप नहीं होती। वह कहती है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाऽर्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

इन सारे चराचरों में सर्वत्र मैं-ही-मैं समाया हुआ हूं। पहले मुझे महान् विभूतियों में देखना सीख। लेकिन इतने से ही काम नहीं चल सकता। जिस प्रकार छोटे बच्चे को शिक्षा देते समय उसे पहले सरल अक्षर सिखाये जाते हैं, उन्हें बड़े आकार में बनाया जाता है। परन्तु केवल इतने से ही बालक का साहित्य में प्रवेश नहीं हो पाता। बच्चे को यह समझना चाहिए कि जो बड़े अक्षर हैं वे ही छोटे अक्षर हैं। स्लेट पर लिखा हुआ बड़ा 'ग' और पुस्तक में लिखा हुआ बारीक 'ग' दोनों एक ही हैं। साधारण अक्षरों को सीख लेने के बाद और यह सीख लेने के बाद कि छोटे-मोटे अक्षर एक ही हैं, छोटे बच्चों को जुड़े हुए अक्षर समझाये जाते हैं। यदि संयुक्त अक्षर उसकी समझ में नहीं आये तो उसे पद-पद पर रुकना पड़ेगा, रोना पड़ेगा।

'मां' एक सीधा सरल अक्षर है। आप यह समझ गए कि मां भगवान् है। आप यह समझ गए कि राम-कृष्ण भगवान् हैं। आप यह समझ गए कि सागर और वट-वृक्ष भगवान् हैं। लेकिन रावण, कंस, काट खानेवाला विषैला सांप, भयंकर व्याघ्र, ये किसके रूप हैं?

ये भी भगवान् के ही रूप हैं, परन्तु ये संयुक्ताक्षर हैं। इन्हें

समझना जरा कठिन है। लेकिन इन्हें समझना तो है ही। यदि न समझे तो जीवन में कोई आनन्द नहीं रहेगा। मोक्ष नहीं मिलेगा।

अन्त में हमें यही सीखना है कि सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन हो रहा है। यही मूर्तिपूजा का पर्यवसान है। फिर सब ओर उसी की मूर्ति, सर्वत्र उसी के अनन्त मन्दिर। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक व्यक्ति मानो उस चिदम्बर, दिगम्बर का ही मंगल मन्दिर है। सच्चे भक्त को प्रत्येक वस्तु में उस चिन्मय ईश्वर का ही दर्शन होता है। वह सारे संसार को भक्ति और प्रेम से देखता रहता है और उसकी आंखें आनन्दाश्रुओं से भर जाती हैं।

मूर्तिपूजा करते-करते विश्व ही मूर्ति दिखाई देने लगना चाहिए। लेकिन यदि सारी चराचर सृष्टि मंगल और पवित्र प्रतीत न हो तो कम-से-कम मानव प्राणी को तो पवित्र और महान् प्रतीत होने दो। मूर्तिपूजा का यह पहला पाठ तो हमें सीखना ही चाहिए। परन्तु मनुष्य ने यह पाठ अभी तक नहीं सीखा है।

हमें यान्त्रिक ढंग का कर्म पसन्द आता है। परन्तु धर्म का अर्थ है संस्कार। प्रत्येक कार्य की छाप जीवन पर पड़नी चाहिए। हम रोज मूर्तिपूजा करते हैं। लेकिन जीवन पर उसकी क्या छाप पड़ती है? क्या पूजा करते हुए हम मन से कहते हैं, "भगवान्! आज की अपेक्षा कल मेरे ये हाथ अधिक पवित्र बनेंगे। आज की अपेक्षा कल मेरी ये आंखें अधिक प्रेमपूर्ण और प्रामाणिक बनेंगी। आज की अपेक्षा कल मेरा यह हृदय अधिक विशुद्ध और विशाल बनेगा। आज की अपेक्षा कल मेरी बुद्धि अधिक स्वच्छ और सतेज बनेगी।"

हमारे मन में कुछ भी नहीं रहता। चौबीस वर्ष पूर्व हमारे ये हाथ जितने अपवित्र थे, उतने बल्कि उससे भी अधिक अपवित्र आज चौबीस वर्ष की पूजा के बाद हैं। न विकास है, न पवित्रता है, न प्रेम है। अभी भेद मिटा नहीं है। अहंकार खत्म नहीं हुआ है; फिर यह यान्त्रिक पूजा क्या काम आयगी?

मूर्तिपूजा में कृतकृत्यता की सुन्दर कल्पना है। कृतज्ञता-जैसी सुन्दर वस्तु संसार में कोई नहीं है। ईश्वर ने हमें सब-कुछ दिया है।

हम उससे उऋण किस तरह होंगे, यही भावना प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में रहती है। जिस ईश्वर ने इस विश्व-मन्दिर में रवि, शशि, तारे जलाकर रखे हैं, उसकी हम दीपपात्र से आरती करते हैं। बत्ती से आरती करते हैं। जिसने अनेक प्रकार की सुगंधवाले करोड़ों फूल पृथ्वी पर खिलाये हैं, उसे हम अगरबत्ती की खुशबू देते हैं। जिसने रस से भरे हुए फल दिये, अनेक प्रकार के अनाज दिये, कन्द-मूल दिये, दूध-दही दिये, उसे हम कटोरी-भर दूध का नैवेद्य लगाते हैं। जिसने उमड़ता हुआ सागर बनाया है, जो मेघमाला भेजता है, नदी-नालों में जल बढ़ा देता है, कुएं-तालाब भर देता है, उसके ऊपर हम लोटे-भर पानी का अभिषेक करते हैं। यह क्या ईश्वर का मजाक है? क्या सब पागलपन है? लेकिन यह पागलपन नहीं है। यह कृतज्ञता का चिह्न है। उस विराट विश्वम्भर को हम अपने छोटे हाथों से कैसे पकड़ें, उसे कौन-से देव-मन्दिर में बिठाएं? हम अपने मन के सन्तोष के लिए उस विश्वम्भर की एक छोटी-सी मूर्ति बनायेंगे। हमें जो स्वरूप पसन्द आता है उसके अनुरूप उसे बना लेते हैं और उस मूर्ति की पूजा करते हैं। उसे गन्ध लगाते हैं, फूल चढ़ाते हैं। धूप-दीप जलाते हैं। उस मूर्ति की प्रदक्षिणा करते हैं। उसको साष्टांग प्रणाम करते हैं। इस तरह हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं और उस सर्वव्यापी ईश्वर के पास वह पूजा पहुंचती है।

बच्चा पिता की थाली में से कुछ लेकर उन्हें खिलाना चाहता है। पिता को इसमें कोई अपमान प्रतीत नहीं होता। वह प्रेम से मुंह आगे बढ़ा देता है। इसी प्रकार वह चराचर पिता भक्तों पर नाराज नहीं होता। ईश्वर से लेकर ईश्वर को देना है। गंगा के पानी से गंगा को ही अर्घ्य देना है। हमें कहीं भी कृतज्ञता प्रकट करने का साधन मिले तो वह काफी है।

मन्दिर की मूर्ति के सामने हम भक्ति-प्रेम से, कृतज्ञता से कुछ-न-कुछ अर्पण करते हैं। लेकिन ईश्वर के सामने हम जो कुछ रखते हैं, उसका क्या उपयोग होता है? भगवान् तो तटस्थ हैं। पुजारी या मालिक ही सब चीजें ले लेता है और उस पवित्र मन्दिर में व्यभिचार की पूजा शुरू हो जाती है। राम को पहनाया हुआ दुपट्टा मन्दिर के मालिक की वेश्या

के शरीर पर सुशोभित होता है। भगवान् को चढ़ाये हुए हीरे-मोती वेश्या के नाक-कान की शोभा बढ़ाते हैं।

आज मूर्तिपूजा में गन्दगी आ गई है। हमें आंखें खोलकर मूर्ति-पूजा करनी चाहिए। मूर्ति के सामने रुपया-पैसा चढ़ाना बन्द होना चाहिए। मन्दिर तो एक ऐसा स्थान है जहां सबको बड़ी नम्र भावना से आना चाहिए। वह स्थान बड़ा स्वच्छ और पवित्र रखना चाहिए। यदि वहां आते ही मंगल-भावना मन में आ जाय तो काफी है। मूर्तिपूजा का यही उद्देश्य है कि पवित्र मन्दिर में जाकर हम भी पवित्र बनें और बाहर के संसार में पवित्र व्यवहार करने के लिए निकलें। भारतीय संस्कृति में मूर्तिपूजा की बहुत बड़ी महिमा है। जिस संस्कृति में मूर्तिपूजा है उस समाज में तो प्रेम, स्नेह और दया की बाढ़ आ जानी चाहिए। लेकिन बड़े दुःख की बात है कि इन मन्दिरों में ऊंच-नीच की भावना के पिशाच ऊधम मचा रहे हैं। हमारे देवताओं की मूर्ति भ्रष्ट होती हैं और उनको छूत लगती है। जहां भगवान् ही पतित और भ्रष्ट होने लगे वहां शुद्धि कौन करेगा? भूदेव ब्राह्मण करेगा?

वास्तव में तो मन्दिरों की आवश्यकता नहीं है। इस विश्व-मन्दिर में अनन्त मूर्तियां हैं। इस विश्व के प्रत्येक अणु-अणु से उसकी पृष्ठभूमि में रहनेवाली शक्ति की कल्पना होती है। एक अरब-निवासी से एक ईसाई मिशनरी ने पूछा, "आपको यह किसने बताया कि ईश्वर है?" उस अरब-निवासी ने कहा, "इस रेगिस्तान में कल-कल शब्द करके बहनेवाले झरने ने। इस रेगिस्तान में पैदा होने और रसपूर्ण फल देनेवाले खजूर के वृक्षों ने। रात को दिखाई देनेवाले हरे-नीले तारों ने।" इस उत्तर पर वह मिशनरी नीची गर्दन करके चला गया।

प्रत्येक जगह भगवान् की मूर्ति है। तारों को देखते ही ऐसा लगता है कि उसे प्रणाम करना चाहिए। फूलों को देखकर ऐसा लगता है कि उसे प्रणाम करना चाहिए। महापुरुष को देखते ही ऐसा लगता है कि उसे प्रणाम करना चाहिए। भव्य दृश्य को देखकर ऐसा लगता है कि प्रणाम करना चाहिए। इस अनन्त विश्व में अनन्त मन्दिर और अनन्त मूर्तियां हैं लेकिन उन्हें देखता कौन है?

विवेकानन्द ने कहा, "जिस मूर्तिपूजा ने संसार को रामकृष्ण परमहंस जैसा भक्त-शिरोमणि दिया, यदि उस मूर्तिपूजा में हजारों बुराइयां आ जायं तो भी मैं उस पर श्रद्धा रखूंगा। साधन पवित्र होते हैं; लेकिन स्वार्थी लोग उन्हें भ्रष्ट कर देते हैं। गंगा पवित्र है, लेकिन यदि उसे गन्दी बना देने वाले मिल जायं तो वह बेचारी क्या करेगी ?"

: २१ :

प्रतीक

प्रत्येक संस्कृति कुछ प्रतीकों का निर्माण करती है। जिस प्रकार फल में सारे वृक्ष का विस्तार समाया रहता है उसी प्रकार प्रतीकों में अनन्त अर्थ समाया रहता है। हमारे यहां सूत्रग्रंथों की रचना प्रसिद्ध है। बहुत-से शास्त्रों के सूत्रग्रंथ हैं। सारांश यह कि शास्त्रों के सिद्धांत उन सूत्रों में समाये रहते हैं। प्रतीक मानो संस्कृति के सूत्र ही हैं। वास्तव में देखा जाय तो प्रत्येक बाह्य क्रिया आन्तरिक विचारों की प्रतीक होती है। हमारा मन ही सैकड़ों कृतियों में प्रकट होता है। पहले मन झुकता है तब फिर बाहर सिर झुकता है। पहले हृदय भर आते हैं तब आंखें भर आती हैं। पहले मन को पीड़ा होती है तब हाथ उठते हैं। मन में फूटा हुआ अंकुर ही क्रिया है।

भारतीय संस्कृति में सैकड़ों प्रतीक हैं। हमें उनका अर्थ खोजना चाहिए। जिस समय अर्थहीन प्रतीक पूजे जाने लगते हैं तब धर्म यन्त्रवत् बन जाता है। उस प्रतीक-पूजा का फिर जीवन पर कोई भी संस्कार नहीं होता। फिर ये यान्त्रिक प्रतीक निरुपयोगी प्रतीत होने लगते हैं। नवयुवक उन प्रतीकों को फेंक देते हैं। वे कहते हैं कि हमें इन प्रतीकों का अर्थ समझाइये। जब अर्थ मालूम हो जाता है तो प्रतीक जीवित होते हैं। उन प्रतीकों में जैसे शक्ति आ जाती है।

मुझे तो जैसे इन भिन्न-भिन्न प्रतीकों को अर्थपूर्ण दृष्टि से देखने की आदत ही पड़ गई है। यह बात नहीं कि उसके अर्थ सही ही होंगे। यह बात भी नहीं है कि उन प्रतीकों का निर्माण होते ही वे भाव भी रहेंगे। लेकिन उन प्रतीकों में नया अर्थ देखने से भी कुछ नहीं बिगड़ता। अर्थ का विकास होता है।

कमल भारतीय संस्कृति का प्रधान प्रतीक है। कमल को हम सारे प्रतीकों का राजा भी कह सकते हैं। भारतीय संस्कृति में कमल की सुगन्ध आ रही है। अतः इस कमल-पुष्प में इतना बड़ा और अच्छा अर्थ कौन-सा है?

ईश्वर के सारे अवयवों को हम कमल की उपमा देते हैं। कमल-नयन, कमल-वदन, कर-कमल, चरण-कमल, हृदय-कमल आदि कहने में कौन-सी मधुरता है? कमल में अलिप्तता का गुण है। पानी में रहकर भी वह पानी के ऊपर रहता है, कीचड़ में रहकर भी वह कीचड़ के ऊपर फूलता है। कमल अनासक्त है। हम कहते हैं कि ईश्वर करके भी अकर्ता ही रहता है। वह इस सारे संसार का व्यवहार चलाता है; लेकिन यह सारा व्यवहार वह अनासक्त रहकर ही चलाता है।

कमल में अलिप्तता है। इसी प्रकार उसमें दूसरा गुण यह है कि वह बुराई में से भी अच्छाई ग्रहण कर अपना विकास करता है। वह कीचड़ में से भी रमणीयता ग्रहण कर लेता है। वह रात-दिन तपस्या करके अपना हृदय मकरंद से भर लेता है।

उसका मुंह सूर्य की ओर रहता है। प्रकाश को देखते ही वह फूल उठता है। प्रकाश के समाप्त होते ही वह बन्द हो जाता है। प्रकाश मानो कमल का प्राण है। भारतीय संस्कृति प्रकाशोपासक है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' भारतीय संस्कृति की आरती है।

कमल शतपत्र है, सहस्रपत्र है। कुछ कमलों में सौ और कुछ में हजार पंखुड़ियां होती हैं। भारतीय संस्कृति में भी सौ पंखुड़ियां हैं। सैकड़ों जातियां, अनेक वंश, अनेक धर्म, अनेक पंथ सभी का सार ग्रहण करके वह बढ़ती है। वह एक-एक नवीन पंखुड़ी जोड़ देती है। भारतीय संस्कृति का कमल अभी पूरा खिला नहीं है। वह अभी खिल रहा है।

विश्व के अन्तकाल तक वह फूलता रहेगा। भारतीय संस्कृति अनन्त पंखुड़ियों का पुष्प बनेगी, क्योंकि पृथ्वी अनन्त है, काल अनन्त है, ज्ञान अनन्त है।

खिले हुए कमल-पुष्प के गीत गाते हुए सैकड़ों भ्रमर आते हैं; लेकिन कमल उनकी ओर ध्यान नहीं देता। भारतीय संस्कृति अपनी प्रशंसा के गीत गाती हुई बैठी नहीं रह सकती। हां, यदि संसार चाहे तो भले ही उसकी प्रशंसा करे। भारतीय संस्कृति तो बिना हो-हल्ले और बाज-गाजे के पल्लवित-पुष्पित होती रहेगी। संसार को गीता की स्तुति करने दीजिये। उसे बुद्ध की महिमा गाने दीजिये। उसे गांधीजी को महात्मा कहने दीजिये। उसे रवीन्द्रनाथ को महर्षि कहने दीजिये। भारतीय संस्कृति अपने बालकों से कहती है—कर्म करो, निंदा-स्तुति छोड़कर अपने ध्येय के साथ एकरूप हो जाओ। यदि आप स्वकर्म में इतने तल्लीन हो जायंगे तो कीर्ति अपने आप आपके पास दौड़ी हुई आने लगेगी। संसार अपने आप प्रशंसा के गीत गायगा।

कमल कहता है—अनासक्त रहो। प्रकाश की पूजा करो। अमंगल में से मंगल ग्रहण करो, तपस्या करो। केवल सत्कर्म करते रहो। नई-नई बातें ग्रहण करते रहो। यदि प्रश्न किया जाय कि भारतीय संस्कृति का अर्थ क्या है तो उसका उत्तर होगा 'कमल'।

दूसरा महान् प्रतीक है यज्ञ अथवा हवन। भारतीय संस्कृति का अर्थ है त्याग। समाज में हमें एक-दूसरे के लिए कष्ट सहना पड़ेगा, त्याग करना पड़ेगा। एक-दूसरे का जीवन बनना पड़ेगा। चाहे कोई भी संस्कार हो, कोई भी धार्मिक विधि हो, सबमें हवन होता ही है। आप कोई भी संघ रचिये, कोई भी समाज-सेवा का काम शुरू कीजिये, आपको उसमें हवन करना ही पड़ेगा। आपको उत्तरोत्तर अधिक हवन करना पड़ेगा।

उपनयन-संस्कार के समय हवन होता है। यदि ज्ञान प्राप्त करना है तो आपको अपने सारे सुखों का हवन करना पड़ेगा। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि—"सुखार्थिनः कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।"

विवाह के समय भी हवन होता है। यदि आप दोनों संसार में आनन्द

चाहते हैं तो परम्परा के लिए अपनी व्यक्तिगत इच्छा का हवन करना पड़ेगा। तभी आपका गृहस्थाश्रम सुखी बन सकेगा। यदि पति अपनी ही चलायगा, अपनी ही बात के लिए हठ करेगा, तो फिर सुख कैसे मिल सकेगा? संसार तो मानो सहयोग है, लेन-देन है। और अन्त में आपका गृहस्थाश्रम भी समाज के लिए ही है। यदि समाज मांग करे तो अपने बाल-बच्चे, घरबार, अपना सर्वस्व अर्पण कर दीजिये। सेवा तो मानो हवन ही है।

पवित्रता मानो चिर यज्ञ ही है। उत्तरोत्तर अधिकाधिक पवित्रता प्राप्त करने के लिए क्षुद्र वस्तु का होम करना पड़ता है। सर्वस्व-त्याग ही तो निर्वाण है, मोक्ष है, 'अपनी आंखों अपनी मृत्यु देखना' है। और वही है पवित्रता की पराकाष्ठा।

इस यज्ञ-प्रतीक का ही रूपान्तर भस्म-प्रतीक में हो गया है। संध्या करते समय, देव-पूजा करते समय शरीर में भस्म लगाई जाती है। सारे शरीर में भस्म लगाई जाती है। भगवान् की प्राप्ति, ध्येय-प्राप्ति सस्ती नहीं है, उसके लिए होली जलानी पड़ती है। स्वार्थ की, सुख-विलास की राख बनानी पड़ती है। सब इन्द्रियों की वासना को भस्म करना पड़ता है। शरीर को भस्म करना पड़ता है। यदि देव-मन्दिर में जाना है तो भस्म लगाकर उसमें प्रवेश करो। यदि ध्येय की पूजा करनी है तो सर्वस्व में आग लगाकर बाहर आ जाओ।

तुकाराम महाराज ने कहा है—

'अपने घर में आग लगाकर। देखो उसे न पीछे मुड़कर।"

अपने घर में आग लगाकर पीछे मत देखो। पीछेवालों का क्या होगा इसकी चिन्ता मत करो। बस तुम्हारा ध्येय और तुम। प्रसिद्ध संत सखाराम महाराज जब पंढरपुर के लिए रवाना होते थे, तब वह सबसे पहले अपनी झोंपड़ी में आग लगाते थे और तब पंढरपुर की ओर जाते थे। भगवान् के पास जाते समय पीछे की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। भगवान् के पास जाना, ध्येय की पूजा करना मानो सती का व्रत है।

हम मस्तक पर गन्ध क्यों लगाते हैं? पहले भगवान् को गन्ध लगा

कर बाद में खुद को लगाया जाता है। पहले गन्ध भगवान् को, फिर हमें। भक्त भगवान् की पूजा करके उसके चरणों में अपना सिर रख देता है। भगवान् के चरणों पर रखे हुए अपने मस्तक पर वह गन्ध लगाता है। गन्ध लगाने में उसकी भावना यह रहती है कि—"यह सिर अब मेरा नहीं है। अब तो भगवान् को अच्छे लगनेवाले विचार ही इस मस्तक में आयंगे। यह मंगलमूर्ति का सिर है। यह अब बन्दर का आग लगानेवाला तथा गन्दगी से भरा हुआ सिर नहीं है। अब इस मस्तक की पूजा करने दीजिये। अब इस मस्तक पर भी गन्ध लगाने दीजिए।"

भिन्न-भिन्न महाराज और उनके भक्त अपने शरीर पर छापे लगाते हैं। ललाट पर, छाती पर, भुजाओं पर सर्वत्र छापे लगाते हैं। उसमें भी यही भावना समाई हुई है। यह हाथ भगवान् का है, यह हृदय भगवान् का है, सारे शरीर पर भगवान् की छाप है। भगवान् की सेवा में, जनता-नार्दन की सेवा में, सारे संसार को महान् सुखी बनाने के महान् कर्म में ह शरीर चन्दन की तरह घिसता रहेगा यही प्रतिज्ञा छापा लगाने में ।

हम यज्ञोपवीत पहनते हैं। उसका पहले अर्थ कुछ भी रहा हो। मुझे ो उसके तीन धागों में एक बहुत बड़ा अर्थ दिखाई दिया। कर्म, भक्ति ौर ज्ञान के तीन धागे ही मानो यह जनेऊ है। इन तीनों को एकत्र करके गाई हुई गांठ ही ब्रह्मगांठ है। जब हम कर्म, ज्ञान और भक्ति को एक-दूसरे के साथ जोड़ेंगे, तभी ब्रह्म की गांठ लग सकेगी। केवल कर्म से, केवल ज्ञान से, केवल भक्ति से ब्रह्मगांठ नहीं लग सकेगी। फूल की पंखुड़ी, उसके रंग और उसके गन्ध में जिस प्रकार एक ही भाव है, और जिस प्रकार दूध, शक्कर और केशर को हम एक कर लेते हैं उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति को भी एक बना लेना चाहिए।

हम भगवान् को बिना सूंघे फूल चढ़ाते हैं। सड़ा हुआ, सूंघा हुआ फूल हीं चढ़ाते। वह फूल क्या है? वह फूल हमारे हृदय का प्रतीक है। स फूल के रूप में हम अपना हृदय-रूपी फूल ही भगवान् को अर्पण रते हैं। जिस हृदय को वासना की गन्ध नहीं लगी हो, जिस हृदय की िसी दूसरे ने खुशबू न ली हो, जिस हृदय का कोई अन्य स्वामी न हो,

जिसका कोई अन्य भोक्ता न हो, उस हृदय को ही भगवान् को अर्पण करो। भक्ति अव्यभिचारिणी होती है। 'Love is jealous'—प्रेम किसी अन्य को सहन नहीं करता। हृदय एक ही व्यक्ति को दीजिये। यदि भगवान् को देना है तो भगवान् को दो। जिस किसी को देना हो पूरी तरह से दो। अपना ताजे रस से पूर्ण, निर्दोष, पूरी तरह खिला हुआ व सुगन्धित हृदय-पुष्प सेवाकर्म को अर्पण कर दीजिए।

हम भगवान् को नैवेद्य लगाते हैं तो क्या करते हैं? भगवान् को कौन-सा नैवेद्य प्रिय है? हमारी सारी क्रियाएं ही नैवेद्य हैं। वह छोटी-सी कटोरी या निर्मल दूध मानो आपकी स्वच्छ सुन्दर क्रिया है। भगवान् को कर्म का नैवेद्य लगाना चाहिए। जो कुछ करें भी उसे भगवान् को अर्पण करना चाहिए। 'ओ३म् तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु' यह प्रत्येक कर्म का अन्तिम मन्त्र है।

जिस दिन मेरे मन में यह कल्पना आई उस दिन मुझे भगवान् पर दया आ गई। मन में ऐसा लगा कि भगवान् अनन्त जन्मों से भूखा है। यदि घर में कोई वृद्ध पवित्र माता हो और वह कोई अन्य पदार्थ न खाती हो; लेकिन यदि उसके बच्चे उसे प्याज की पकौड़ियां, लहसुन की चटनी तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ लाकर दें तो वह व्रत-उपवास करनेवाली माता क्या कहेगी? वह कहेगी, "बच्चो, मेरी मजाक मत उड़ाओ। क्या मैं इन पदार्थों को स्पर्श करती हूं? यदि देना ही है तो अच्छी चीज दो, नहीं तो मुझे कुछ भी मत दो। लेकिन मेरे सामने गन्दगी मत आने दो।" भगवान् भी यही बातें कहते होंगे। हम मानव आज हजारों वर्षों से अनन्त अन्तर्बाह्य क्रियाएं करते आ रहे हैं। वे सब भगवान् के पास जाती हैं। भगवान् को उन क्रियाओं का नैवेद्य मिल रहा है। लेकिन क्या वह उस नैवेद्य को खा सकेगा? क्या वह उसमें से एक भी ग्रास निगल सकेगा? नैवेद्य लगानेवाले प्रत्येक व्यक्ति के मन में ये विचार आने चाहिएं।

हम भगवान् का अभिषेक करते हैं। अभिषेक का अर्थ है सतत धार। एकदम घड़ाभर पानी डाल देना अभिषेक नहीं है। अभिषेक तो एक प्रतीक है। जिस प्रकार पानी की अखण्ड धारा भगवान् पर पड़ती है

उसी प्रकार मन की धारा का भी अखण्ड रूप से भगवान् के चरणों पर पड़ना, परमेश्वर के स्वरूप में मन-बुद्धि का मग्न हो जाना, यही उसका अर्थ है। वह जलाभिषेक मानो आपकी जागृति का अभिषेक है।

हम गीली करके दक्षिणा देते हैं। आप समाज को जो कुछ भेंट देना चाहते हैं, जो कुछ दान देना चाहते हैं उसमें हृदय की आर्द्रता लाइये। जिन कामों में हृदय की आर्द्रता होती है वे अमूल्य होते हैं। अतः अपनी सारी क्रियाएं आर्द्र होने दीजिये, उनमें रूखी सहानुभूति न हो। मुंहदेखी बातें न हों। मुसीबत में पड़ने के कारण ही राम-नाम का जाप न होना चाहिए।

हम दक्षिणा पर तुलसी-पत्र रखते हैं। वह रुक्मिणी का तुलसी-पत्र है। दक्षिणा चाहे पैसे की हो, चाहे दस हजार रुपये की हो, उसके ऊपर तुलसी-पत्र अवश्य रखिये। यह तुलसी-पत्र भक्तिभाव का प्रतीक है। यह प्रश्न नहीं है कि यह पाई है या रुपया। यदि उसमें भावना है तो काफी है। भगवान् तो भाव के भूखे हैं। जिस भेंट पर यह भक्तिभाव का तुलसी-पत्र नहीं वह भेंट मर्यादित है। लेकिन भक्तिभाव से दिया हुआ पैसा भी कुबेर की सम्पत्ति से अधिक मूल्यवान है।

भगवान् तो पत्र-प्रिय हैं। भगवान् को तुलसी-पत्र, बेलपत्र, दूर्वादल बड़े अच्छे लगते हैं। साधारण लोगों के काम सीधे होते हैं। उनमें न तो अधिक सुगंध होती है, न रूप। लेकिन भगवान् को ये कर्म पसन्द हैं। सुगन्धित एवं रसमय कर्म तो कोई महात्मा ही भगवान् के अर्पण कर सकेगा। लेकिन हम सब तो कमजोर प्राणी हैं। हमारे यदि ये सादे काम भी निर्मल हों तो वे भगवान् को बड़े कामों की अपेक्षा ज्यादा अच्छे लगेंगे। संगीतज्ञ की राग-रागनियों की अपेक्षा छोटे बच्चे की तुतली वाणी मां को ज्यादा अच्छी लगेगी।

भारतीय संस्कृति में स्वस्तिक चिह्न का बड़ा महत्त्व है। दीवार पर पक्के स्वस्तिक बनाइये। स्वस्तिक का अर्थ है कल्याण। उस चिह्न के अन्तर्गत यह भाव है कि सबका शुभ हो, सबका भला हो।

उपनयन-संस्कार के समय लंगोटी लगाई जाती है। कमर में तिहरी मूंज बांधते हैं। कमर बांधकर विद्या के लिए बाहर जाओ। लंगोटी

लगाने का अर्थ है इन्द्रिय-दमन करना। हे भाई, जब लंगोट-बन्द रहोगे तभी ज्ञान मिल सकेगा। संयमी बनो।

जंघा और भुजा पर दर्भ काटी जाती है। गुरु के पास सेवा करते हुए हाथ-पैर टूटने लगेंगे; लेकिन इससे परेशान मत होना। गायों के पीछे-पीछे जंगल में जाना होगा। तुम्हारे पैर दुखने लगेंगे। पानी खींचने से तुम्हारे हाथ टूटने लगेंगे। लेकिन विद्या के लिए यह सब करना चाहिए। यदि दर्भ के सिरे की भांति कुशाग्र बुद्धि प्राप्त करना चाहते हो तो बिना हाथ-पैर हिलाये वह कैसे प्राप्त हो सकेगी?

जनेऊ के समय मातृ-भोजन होता है। इतने दिनों तक मां के पास रहा। अब दूर जाना है। ज्ञान के लिए दूर जाना है। अब मां अपने बच्चे को दूर कर रही है। इतने दिनों तक सगुण भक्ति थी। अब निर्गुण भक्ति शुरू करना है। अब मां मन में रहेगी। गुरु-गृह ही मां होंगे। अब नई ज्ञान देनेवाली मां प्राप्त करनी होगी।

ब्रह्मचारी, परिव्राजक, संन्यासी इन सबके हाथों में दण्ड रहना चाहिए। दण्डधारी होने का बड़ा गूढ़ अर्थ है। जिस प्रकार दण्ड सरल होता है, वह टेढ़ा-मेढ़ा नहीं होता, झुकता नहीं है; उसी प्रकार मोह के आगे गरदन नहीं झुकानी चाहिए। यदि काम-क्रोध सामने आयें, तो उन्हें भगा देना चाहिए। ब्रह्मचारी और संन्यासी को किसी की खुशामद नहीं करनी चाहिए। वे ध्येयनिष्ठ रहेंगे। ध्येय को नहीं छोड़ेंगे। ध्येय कभी समझौता नहीं करता। सत्य कभी समझौता नहीं करता। गृहस्थाश्रम में सारे समझौते हैं। गृहस्थाश्रम का अर्थ है थोड़ा आपका, थोड़ा मेरा। लेकिन ब्रह्मचर्य और संन्यास का अर्थ तो है प्रखरता। वहां 'त्वया अर्ध मया अर्ध' जैसा बाज़ार नहीं होता। वहां सारे काम सीधे-सरल होते हैं। ब्रह्मचर्य और संन्यास की गरदन केवल ध्येय के सामने ही झुकेगी। गुरु मानो ध्येय-मूर्ति है। उनके सामने ही वह झुकेगा। दूसरे किसी के सामने वह नहीं झुकेगा। यह ब्रह्मचर्य और संन्यास का प्रज्वलित तेज है। इस तेज के सामने संसार झुक जायगा। वह उसके चरणों में गिर जायगा। वासना-विकार जिसके चरणों में गिर जाते हैं उसके चरणों में कौन नहीं गिरेगा!

विवाह के समय पर्दा रखा जाता है, अन्तिम ताली बजने पर यह

पर्दा दूर हो जाता है। अब वर-वधू में कोई अन्तर नहीं रहता। इसके पहले क्षण तक अन्तर था; लेकिन अब तो उनका जीवन एकरूप हो गया है। अब मिलन हो गया है। अब मैं तेरा और तू मेरी। मेरा हाथ तेरे हाथ में और तेरा हाथ मेरे हाथ में। तेरा हार मेरे गले में और मेरा हार तेरे गले में सुशोभित होगा। हम एक-दूसरे को सुशोभित करें, संतुष्ट करें। अब जो कुछ मेरा है वह तेरा और जो कुछ तेरा है वह मेरा!

सप्तपदी की विधि सबसे अधिक महत्त्व की है। सात कदम साथ-साथ चलना। लेकिन सात कदम का अर्थ केवल सात कदम ही नहीं है। हम हमेशा साथ-साथ रहें, साथ-साथ चलें—

सन्त म्हणति सप्तपदें सहवासें सख्य साधुशीं घडतें।

सन्त के साथ चार कदम ही चलिये। वह आपका हो जायगा। वह आपको नहीं भूलेगा। सात कदम चलने का मतलब है हमेशा का साथ होना। वार सात हैं। सप्ताह के सातों दिन हम साथ-साथ रहें। प्रत्येक दिन हमारे कदम साथ-साथ पड़ें। सप्तपदी का मतलब यह है कि जीवन-यात्रा में हम साथ रहें, साथ-साथ चढ़ें और साथ-साथ गिरें। सुख-दुःख में एकरूप रहें। सप्तपदी के समय ही अग्नि की सात प्रदक्षिणा करते समय वर-वधू उसके आस-पास सूत बांधते हैं। वर-वधू के आस-पास सूत बांधा जाता है। वर-वधू एकत्र बांध दिये जाते हैं। अब उनका जीवनरूपी वस्त्र एक साथ बुना जायगा। अब उन दोनों का अलग जीवन नहीं रहा। अब उन्हें साथ-साथ रहकर दुःख-सुख का एक ही कपड़ा बुनना है। भला-बुरा जो कुछ भी हो वह दोनों का ही है। उस सूत्र में एकसूत्रता ही दिखाई देती है। उसमें यह भाव भी है कि हम संसार में एकसूत्रता से रहें। एक-दूसरे के प्रति आततायी न बनें।

बारात के जाने के समय झाल[1] लाई जाती है। जब वर के घर वधू आती है तब उसमें सोलह दीपों को रखकर उससे उसकी आरती की

---

१. झाल बांस की एक बड़ी-सी टोकरी होती है, जिसका आकार बड़ी थाली-जैसा होता है।

जाती है। फिर झाल को सबके सिर पर रखा जाता है। ये सोलह दीपक किस बात के द्योतक हैं? ये मानो चन्द्रमा की सोलह कलाएं हैं। चन्द्र मन का देवता है। श्रुति कहती है—'चन्द्रमा मनसो जातः'। चन्द्रमा को मन का देवता मानने में एक बड़ा काव्य समाया हुआ है। चन्द्रमा के हमेशा दो पक्ष होते हैं—कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। चन्द्र कभी आधा, कभी पाव और कभी बिलकुल कुछ नहीं होता है। हमारे मन का भी यही हाल है। कभी वह अत्यन्त उत्साही होता है, कभी बिलकुल निराश, कभी सात्विक वृत्तियों से भरा-पूरा रहता है तो कभी द्वेष, मत्सर आदि से भर जाता है। कभी मन में अंधेरा रहता है, कभी प्रकाश। मन क्षणभर में रोने लगता है, क्षणभर में हँसने। घड़ीभर में आकाश में और घड़ीभर में अनन्त गहरी खाई में।

इस प्रकार यह मन चंचल है। इसका तुम्हारे वर-वधू दोनों के जीवन में विकास हो। मन की सोलह सत्कलाओं के विकास के लिए, इन सोलह दीपों से एक-दूसरे की आरती करने में, इन सोलह दीपों को वर-वधू को दिखाने में कुछ अर्थ होगा। विवाह क्यों होता है? विवाह आखिर एक-दूसरे के विकास के लिए है। एक-दूसरे को सहारा देकर, एक-दूसरे को शिक्षा देकर, एक-दूसरे को संभालकर उत्तरोत्तर अधिक विकास करे। केवल पुरुष अपूर्ण है, केवल स्त्री अपूर्ण है; लेकिन दोनों को एक होकर जीवन में पूर्णता लानी है—इत्यादि कितने ही भाव इस झाल में होंगे। वह बड़ा ही पवित्र और सुन्दर दृश्य होता है। रात का समय होता है। वधू पीहर रहकर ससुराल आई है। अब उसके नवीन जीवन का प्रारम्भ हो रहा है। वधू का नाम बदल दिया जाता है मानो उसने अपने जीवन से संन्यास ले लिया हो। संन्यास-आश्रम में पहले का नाम बदल दिया जाता है मानो नया जन्म ही शुरू हो रहा है। पहले के सम्बन्ध, पहले की आसक्ति, पहले की सब बातें मिटा डालनी पड़ती हैं। पति के नये घर में नई गृहस्थी शुरू करनी होती है। हृदय में उथल-पुथल होती है। ऐसे समय ही उन सोलह दीपों का दर्शन कराया जाता है। उस झाल में रखे हुए दीपकों की ज्योति जगमगाती है। तुम्हारे आत्मचन्द्र का भी ऐसा ही प्रकाश पड़े—

नजर न आवे आतम-ज्योति
तेल न बत्ती बुझ नहीं जाती
जैसे माणिक मोती ॥ नजर० ॥
झिलमिल-झिलमिल निशिदिन चमके
जैसी निर्मल ज्योति ॥ नजर० ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधू
घर-घर बांचत पोथी ॥ नजर० ॥

रात-दिन में चमकते रहनेवाले इस दीपक को पहचान लीजिए। घर-घर पुस्तकें पढ़ी जाती हैं; लेकिन वह आत्मतत्व, वह कभी न बुझने-वाली आत्म-ज्योति माणिक-मोती की भांति, निर्मल तारों की भांति, अखण्ड-रूप से जल रही है। क्या वह किसी को दिखाई देती है? वह किसी को भी दिखाई नहीं देती। लेकिन वर-वधू, तुम आत्मा को पहचानो। धीरे-धीरे विषयों को शान्त करके मन की प्रसन्नता, संपूर्ण प्रसन्नता, चिरंजीव प्रसन्नता प्राप्त करो।

भारतीय संस्कृति में, सोलह संस्कारों में, इस प्रकार के अनेक प्रतीक हैं। मृत्यु के वाद जब शव ले जाया जाता है तब एक मटका उसके आगे ले जाया जाता है। इसका मतलब यह है कि यह तो मृण्मय शरीर था, यह अब फूट गया है। इसमें रोने-जैसी या अनैसर्गिक बात कौन-सी है? उस शव को स्नान कराया जाता है, नये वस्त्र पहनाये जाते हैं क्योंकि वह नवीन घर में जा रहा है। अतः उसे शुद्ध-स्वच्छ होकर भगवान् के पास जाने दीजिए। उसे बिलकुल कोरे नये वस्त्र पहनकर जाने दीजिये। मरते समय कम्बल पर सुलाया जाता है। इससे यह ध्वनि होती है कि अनासक्त होकर, संचयवृत्ति छोड़कर, भगवान् के घर जाओ, इस शरीर को छोड़ दो। मरते समय, प्राण निकलते ही मुंह में तुलसी-पत्र रखा जाता है। इसका अर्थ यह है कि शरीर पर तुलसी-पत्र रख दिया गया है। अब यह शरीर भगवान् का हो गया है। जीवित अवस्था में भी तुलसी की माला आदि गले में पहनी जाती हैं। इसका यही मतलब है कि देह भगवान् की है। देह पर तुलसी-पत्र रख दिया गया है। अब यह देह भगवान् की हो गई है।

कान में रुद्राक्ष पहने जाते हैं। इसका मतलब यह है कि कान शुभ बातें सुनें। शिव—कल्याणकर—ही सुनें। क्योंकि रुद्राक्ष शंकर को प्रिय है। शंकर का अर्थ है कल्याणकारक। शंकर को हमेशा वही अच्छे लगते हैं जो हमेशा शिव होते हैं, हितकर, मंगल होते हैं। गले में भी रुद्राक्ष पहना जाता है। अंगुली में पवित्रक पहनते हैं। इसका यही भाव है कि अंगुलियां पवित्र काम ही करेंगी।

वारकरी[1] हमेशा अपने पास भगवा झण्डा रखता है। इसका मतलब यह है कि वह जहां जाता है वहां भगवान् के सैनिक के रूप में, खुदाई खिदमतगार के रूप में। भगवा रंग ही क्यों? भगवा रंग त्याग का सूचक है। संन्यासी के वस्त्र भी भगवे होते हैं। संन्यास का अर्थ है संपूर्ण त्याग, महान् यज्ञ। भगवा रंग ज्वाला का है। वह बिलकुल लाल नहीं होती। इसीलिए यह भगवा रंग है।

शंकराचार्य के पास हमेशा मशाल होती थी। संभवतः इसका यह मतलब है कि हमेशा प्रकाश ही की पूजा की जायगी। धर्म का ज्ञान देने-वाला आचार्य अंधेरे में कैसे रह सकता है? हमेशा ज्ञान-रूपी यज्ञ प्रज्वलित रहना चाहिए। ज्ञान-सूर्य चमकता रहना चाहिए।

जब हम कोई बड़ी यात्रा करके आते हैं तब किसी चीज को छोड़ देते हैं। भगिनी निवेदिता देवी ने एक स्थान पर इसका रहस्य बताया है। उस यात्रा की स्मृति ताजी रखने के लिए हम प्रिय-वस्तु का त्याग करते हैं। यात्रा तो पवित्र वस्तुओं का, पवित्र स्थानों का दर्शन है। यात्रा तो मानो जीवन को पवित्रता प्रदान करनेवाला अनुभव है। जीवन में यह अनुभव अमर हो जाना चाहिए। नहीं तो उस समय तक के लिए तो गंगा का दर्शन पवित्र-पावन प्रतीत होता है; घर आ जाने पर उसकी कोई स्मृति नहीं रहती। अतः ऐसा न होने देने के लिए हम कुछ-न-कुछ त्याग करने का संकल्प करते हैं। कोई कहता है, 'मैं रामफल छोड़ूंगा, प्याज छोड़ूंगा,' कोई कहता है, 'मैं अनार छोड़ूंगा।' इस प्रकार कुछ-न-कुछ

---

१. वारकरी—एक सम्प्रदाय के साधु जो भिक्षा मांगते और भजन करते हुए पंढरपुर की यात्रा करते रहते हैं।

छोड़ने का निश्चय कर लेने से जब-जब हमें रामफल दिखाई देता है, प्याज या अनार दिखाई देता है तब-तब काशी-यात्रा की फिर से याद आ जाती है। फिर गंगा का स्मरण, महादेव का स्मरण हो आता है। गंगा-किनारे प्राचीन ब्रह्मर्षि, राजर्षि की तपस्या का स्मरण, शंकराचार्य के अद्वैत का स्मरण होता है, मानो हम फिर से यात्रा करने गये हों। क्षणभर में वह सारा अनुभव फिर जागृत हो जाता है और जीवन में अधिक गहरा हो जाता है। वह अनुभव हमारे रक्त में मिल जाता है, हमें अधिक होने लगता है।

हम जीवन के महान् अनुभवों की सम्पत्ति की चिन्ता नहीं करते, अतः हम अन्तःकरण से दरिद्री रहते हैं—हृदय भी दरिद्री और मन भी दरिद्री।

"भिकारी जरि इतुकी केलीं मीं वणवण
रिकामी झोळी माझी जवळ नाहीं कण।"

हमारी जीवन की झोली हमेशा खाली है, क्योंकि सारे अमूल्य अनुभव नष्ट हो जाते हैं। यदि हमने गांधीजी का दर्शन किया है तो उसे हमें अपने जीवन में अमर बनाकर रखना चाहिए। विदेशी वस्त्र छोड़कर जो ग्रामोद्योग की वस्तु नहीं है, उनका त्याग करनें से, अस्पृश्यता का त्याग करने से वे दर्शन अमर हो जायंगे।

ये अनुभव दो तरह से अमर होंगे। कुछ वस्तुओं का त्याग करने से और कुछ वस्तुओं को स्वीकार करने से। जो अमंगल है, उसका त्याग करो। जो मंगल है, उसे ग्रहण करो। विदेशी छोड़ो और खादी का व्रत लो। खादी के कारण गांधीजी का वह दर्शन स्थायी बन जायगा। वह प्रसंग हमेशा याद रहेगा, उस समय की भावना याद रहेगी। वह वातावरण याद रहेगा। हमें अपने अनुभवों को ऐसे ही नहीं उड़ने देना चाहिए। ये मूल्यवान अनुभव, पवित्र प्रसंग ही मानो जीवन की सच्ची सम्पत्ति हैं; लेकिन हम उन्हें ही भूल जाते हैं, फेंक देते हैं।

जब हम घर से कहीं बाहर जाते हैं तो हाथों पर दही दिया जाता है। वह दही खा लेना होता है; लेकिन हाथ नहीं धोने होते हैं। हाथ वैसे ही चाट लिये जाते हैं। आरोग्य की दृष्टि से देखनेवाले को इसमें गन्दापन प्रतीत होगा। लेकिन भावना की दृष्टि से देखनेवाले को इसमें

सहृदयता दिखाई देगी। दही स्निग्ध वस्तु है। स्निग्धता को भूलो मत। उसे धोओ मत, जाते समय मैं आपके ऊपर स्नेह की स्निग्धता डाल रहा हूं। वह चिपचिपा हाथ मानो प्रेम से हृदय जोड़ने का साधन है। हाथ गीला ही लेकर जाओ। सूखे हाथ मत जाओ और उस हाथ को वैसा ही रहने दो। अर्थात् उस प्रेम, उस आर्द्रता को मत भूलो।

जामाता के हाथों पर विवाह के भोजन के समय घी डालते हैं। उसमें भी यही भाव है। लड़की की माता कहती है, कि यह प्रेम लीजिये। आपके हाथ में लड़की सौंप दी है। उस अपने हाथ को कठोर मत करो। अपने उस हाथ को स्नेहार्द्र रहने दो। प्रेम से सने हाथ से मेरी लड़की का हाथ पकड़ो। हाथ पर घी लेनेवाला यह जामाता क्या अपना हाथ हमेशा प्रेमपूर्ण रखता है? घी की उस धार को देखते ही मेरा हृदय भर आता है। मुझे नहीं मालूम कि जामाता का हृदय भर आता है या नहीं। लेकिन उस प्रतीक में मुझे सहृदयता का सागर दिखाई देता है।

वर-वधू को हल्दी लगाई जाती है। उनके कपड़े भी हल्दी में रंगे जाते हैं। पीले रंग का क्या मतलब है? कोई कहेगा कि हल्दी आरोग्य की दृष्टि से अच्छी है अतः उसका उपयोग किया जाता है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि आरोग्य के अलावा इसमें कोई और दृष्टि है। इसमें यह भाव है कि 'तुम्हारा सब-कुछ सोना हो।' सुख का संसार सोने-जैसा हो। उनके शरीर पर भले ही सोने के गहने न हों। यदि भारी गहने न हुए तो कोई बात नहीं। उससे हमारे गृहस्थ-जीवन में कोई कठिनाई उपस्थित न होगी। ऐसा लगता है कि उसमें यह भाव होगा कि हम कहीं भी, किसी भी परिस्थिति में हों, आनन्द से रहें। इसमें हृदय की उच्चाशयता दिखाई देती है। वह हल्दी यह बताती है कि भावनाओं की, सम्पत्ति की, सहानुभूति की कमी न हो। उसमें यह भावना है कि जीवन ही सोने का बना लें।

संक्रान्ति पर हम तिल-गुड़ देते हैं। तिल मानो स्नेह है। उस स्नेह में गुड़ मिलाना है। इसका मतलब यह है कि कृत्रिम, दिखाऊ और मन में जहर रखकर प्रेम नहीं करेंगे। तब फिर उस स्नेह में सचमुच सद्भावना होगी। वह प्रेम मधुर होगा। पहले की बातें भुला दें। अपने जीवन में

परिवर्तन कर, क्रान्ति करें। पहले के मत्सर-द्वेष भुलाकर प्रेम के, सत्प्रेम के, संबंध कायम करें।

पूर्णिमा के दिन होली जलाकर शोर किया जाता है। पूर्णिमा के एक मास पूर्व से फाग चलता है। इसका यह मतलब है कि मनुष्य के मन में दबी हुई विषय-वृत्ति को बाहर निकालकर जला दें। और तुम्हारे मन में क्या है? उसे बाहर निकाल दो। बताओ, तुम्हारे मन में और क्या है? मन की सारी गन्दगी बाहर निकाल दो। दस दिन छोटी-छोटी होलियां जलती हैं। लेकिन अन्त में प्रचण्ड होली जलानी चाहिए। संसार में यह बात प्रकट करनी चाहिए कि जीवन की सारी गन्दगी जल गई है। देखो, यह सारी गन्दगी जल गई है। हो-हल्ला करके संसार को गन्दगी दिखाकर उसे सबके सामने जलाना और उस तत्त्व को भभूत समझकर लगा लेना चाहिए। क्योंकि उस राख से नवजन्म होगा। जीवन पर नया विशुद्ध रंग चढ़ जायगा। होली के बिना रंगपंचमी भी नहीं हो सकती। जीवन की गन्दगी जलाओ और फिर रंगपंचमी खेलो। तभी सच्चा आनन्द मिलेगा। शंकर के मन्दिर में बू-बू करते हैं। कारण यह है कि शंकर ने मदन की होली जला दी थी। मन्दिर में एक कछुआ होता है। कछुए की ही भांति इंद्रियों पर संयम होना चाहिए।

'संपूर्ण विषयों से जो हटा ले इन्द्रियां सभी
जैसे कच्छप अंगों को, उसकी प्रज्ञा हुई स्थिर।'

कछुआ मानो इन्द्रिय-संयम का प्रतीक है। मन्दिर में जो घंटा बजाया जाता है उसमें ऐसा प्रतीत होता है कि योग की अनहद ध्वनि की कल्पना होगी। आत्मा-परमात्मा की एकता हो गई। समाधि लग गई। आनन्द के गीत शुरू हो गए। जीवन-मन्दिर में मंगल-वाद्य शुरू हो गये। अनहद ध्वनि की गर्जना शुरू हो गई। कहा जाता है कि योगमार्ग में अनहद ध्वनि सुनाई देती है। अनहद का अर्थ है निरन्तर बढ़नेवाली। कहा जाता है कि निरन्तर एक अखण्ड नाद सुनाई देता है। इसका यह अर्थ होगा कि घंटा बजाने में यह अनहद ध्वनि समाई हुई होगी। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि भगवान् के दर्शन होने पर मंगल बजाने चाहिएं। अथवा विश्व का सारा कामकाज चलानेवाले ई...

पुकारकर घंटा बजाकर कहा जाता है कि भगवान्, क्षणभर ही सही, लेकिन मैं आपके द्वार पर आया अवश्य हूं। और यह भाव भी हो सकता है कि क्षणभर ही सही, लेकिन संसार से अपना मन हटाकर, अपने संकुचित घेरे से निकलकर मैंने आपके दर्शन किये हैं।

भरे हुए कलश का बहुत महत्त्व है। विवाह के समय वरातिन अपने हाथों में भरे हुए कलश रखकर खड़ी रहती हैं। जीवन मानो एक मिट्टी का कलश ही है। जिस प्रकार खाली घड़े का कोई महत्त्व नहीं होता उसी प्रकार खाली जीवन का भी कोई महत्त्व नहीं होता। घड़ा भरते ही हम उसे अपने सिर पर उठा लेते हैं। उसी प्रकार यदि आपके जीवन का कलश प्रेम से, सत्कर्मों से भर जायगा, ज्ञान से भर जायगा, तभी लोग तुम्हें अपने सिर पर उठायेंगे। खाली घड़ा अमंगलसूचक है। भरा हुआ घड़ा मंगलसूचक है। भारतीय संस्कृति में यह मंगल-कलश कह रहा है, "जीवन मंगलमय बनाओ।"

भगवान् की दीपपात्र से आरती करने का क्या अर्थ है? वास्तव में इस जीवन को जलाकर भगवान् की आरती करनी है, जीवन का दीपक हमेशा जलता हुआ रखना है। भगवान् की दीपपात्र से आरती करके कहना चाहिए, "भगवान्, इस जीवन का दीपक समाज के लिए जल गया है।" पंचारती का अर्थ है पंच प्राण। ध्येय के लिए पंच प्राण को न्योछावर करके फेंक देना होता है।

धूपबत्ती का मतलब क्या है? इसका मतलब यह कहना है कि 'मैं इस जीवन को जलाकर सुगन्ध दूंगा।' जबतक जलते नहीं, तबतक सुगन्ध नहीं निकलती। भगवान् को चन्दन लगाने का क्या मतलब है? उसका यही मतलब है कि 'अपने इस शरीर को चन्दन की तरह घिसकर आपको उसकी सुगन्ध अर्पित करूंगा।' भगवान् की प्रदक्षिणा करने का क्या मतलब है? प्रदक्षिणा से मन में भगवान् का स्वरूप बैठ जाता है। एक प्रदक्षिणा करने के बाद भगवान् के दर्शन करना चाहिए, प्रणाम करना चाहिए और फिर दूसरी प्रदक्षिणा शुरू करनी चाहिए। तीन प्रदक्षिणा कीजिये, ग्यारह प्रदक्षिणा कीजिये, एकसौ आठ प्रदक्षिणा कीजिये। जितनी अधिक प्रदक्षिणा की जायंगी, उतना ही अधिक भगवान् का स्वरूप

मन में बैठेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ध्येय की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। जिसने अपना ध्येय मजदूरों की सेवा करना ही बना लिया है उसे निरन्तर मजदूरों के आस-पास प्रदक्षिणा करनी चाहिए। उसे उनके निवासस्थान देखने चाहिएं। उनके जीवन देखने चाहिएं। जब निरन्तर मजदूर-भगवान् की प्रदक्षिणा की जायगी तभी मजदूरों का सच्चा स्वरूप मालूम होगा। उनकी आंखों में अश्रु हैं या आनन्द है, उनके चेहरों पर तेजस्विता हैं या मलिनता, उनको भोजन मिला है या नहीं, उनके शरीर पर वस्त्र हैं या नहीं, यह सब उसी समय मालूम होगा। यदि कांग्रेस ग्रामों के करोड़ों किसानों को भगवान् मानती है तो कांग्रेस के भक्तों को इन ग्रामों की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। ग्राम मानो महादेवजी के मन्दिर ही हैं। उस ग्राम में भगवान् का स्वरूप कैसा है, वे वहां कैसे रहते हैं, क्या खाते हैं, क्या पीते हैं, क्या पढ़ते हैं, उनमें ज्ञान है या नहीं, उनके घरों में दीपक है या नहीं, इन देवताओं के बैल कीचड़ में फंसते हैं या नहीं, गर्मी के दिनों में पानी के बिना उनका शरीर व्याकुल रहता है या नहीं—ये सब बातें देखनी चाहिएं। यदि आपका ध्येय ज्ञान प्राप्त करना है तो विद्वानों के आस-पास फिरो, उनकी सेवा करो। पृथ्वी चन्द्र-सूर्य के आस-पास घूमकर प्रकाश प्राप्त करती है। आप भी निरहंकार वृत्ति से ज्ञान-सूर्य के आस-पास घूमिए। यदि आप-कला के उपासक हैं तो कलाकारों के आस-पास घूमिए।

प्रदक्षिणा करते-करते ऐसा प्रतीत होगा कि उन ध्येय-देवताओं की जन्म-जन्मान्तर तक पूजा करते रहें। ऐसी इच्छा होगी कि—'आंखों में बसा रहना, इस मन में रमा रहना'—फिर साष्टांग प्रणाम करें। हम ऐसा निश्चय करें कि यह शरीर ध्येय-देवता के चरणों में दण्डवत् करता रहे। इसीलिए प्रदक्षिणा के बाद प्रणाम किया जाता है। उसके बाद अन्तिम मंत्रपुष्प और अन्तिम महासमर्पण। वह जीवनरूपी पुष्प का चिर-समर्पण है।

उपनिषदों में भगवान् सूर्य नारायण को प्रतीक कहा गया है। यह सूर्य मानो नारायण ही है। सूर्य उस चैतन्यमय प्रभु का स्वरूप है। सूर्य चराचर को चेतना देता है। सूर्य के आते ही फूल फूलने लगते हैं, पक्षी

पुकारकर घंटा वजाकर कहा जाता है कि भगवान्, क्षणभर ही सही, लेकिन मैं आपके द्वार पर आया अवश्य हूं। और यह भाव भी हो सकता है कि क्षणभर ही सही, लेकिन संसार से अपना मन हटाकर, अपने संकुचित घेरे से निकलकर मैंने आपके दर्शन किये हैं।

भरे हुए कलश का वहुत महत्त्व है। विवाह के समय वरातिन अपने हाथों में भरे हुए कलश रखकर खड़ी रहती हैं। जीवन मानो एक मिट्टी का कलश ही है। जिस प्रकार खाली घड़े का कोई महत्त्व नहीं होता उसी प्रकार खाली जीवन का भी कोई महत्त्व नहीं होता। घड़ा भरते ही हम उसे अपने सिर पर उठा लेते हैं। उसी प्रकार यदि आपके जीवन का कलश प्रेम से, सत्कर्मों से भर जायगा, ज्ञान से भर जायगा, तभी लोग तुम्हें अपने सिर पर उठायेंगे। खाली घड़ा अमंगलसूचक है। भरा हुआ घड़ा मंगलसूचक है। भारतीय संस्कृति में यह मंगल-कलश कह रहा है, "जीवन मंगलमय वनाओ।"

भगवान् की दीपपात्र से आरती करने का क्या अर्थ है? वास्तव में इस जीवन को जलाकर भगवान् की आरती करनी है, जीवन का दीपक हमेशा जलता हुआ रखना है। भगवान् की दीपपात्र से आरती करके कहना चाहिए, "भगवान्, इस जीवन का दीपक समाज के लिए जल गया है।" पंचारती का अर्थ है पंच प्राण। ध्येय के लिए पंच प्राण को न्योछावर करके फेंक देना होता है।

धूपवत्ती का मतलव क्या है? इसका मतलव यह कहना है कि 'मैं इस जीवन को जलाकर सुगन्ध दूंगा।' जवतक जलते नहीं, तवतक सुगन्ध नहीं निकलती। भगवान् को चन्दन लगाने का क्या मतलव है? उसका यही मतलव है कि 'अपने इस शरीर को चन्दन की तरह घिसकर आपको उसकी सुगन्ध अर्पित करूंगा।' भगवान् की प्रदक्षिणा करने का क्या मतलव है? प्रदक्षिणा से मन में भगवान् का स्वरूप वैठ जाता है। एक प्रदक्षिणा करने के वाद भगवान् के दर्शन करना चाहिए, प्रणाम करना चाहिए और फिर दूसरी प्रदक्षिणा शुरू करनी चाहिए। तीन प्रदक्षिणा कीजिये, ग्यारह प्रदक्षिणा कीजिये, एकसौ आठ प्रदक्षिणा कीजिये। जितनी अधिक प्रदक्षिणा की जायंगी, उतना ही अधिक भगवान् का स्वरूप

मन में वैठेगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ध्येय की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। जिसने अपना ध्येय मजदूरों की सेवा करना ही वना लिया है उसे निरन्तर मजदूरों के आस-पास प्रदक्षिणा करनी चाहिए। उसे उनके निवासस्थान देखने चाहिएं। उनके जीवन देखने चाहिएं। जव निरन्तर मजदूर-भगवान् की प्रदक्षिणा की जायगी तभी मजदूरों का सच्चा स्वरूप मालूम होगा। उनकी आंखों में अश्रु हैं या आनन्द है, उनके चेहरों पर तेजस्विता है या मलिनता, उनको भोजन मिला है या नहीं, उनके शरीर पर वस्त्र हैं या नहीं, यह सव उसी समय मालूम होगा। यदि कांग्रेस ग्रामों के करोड़ों किसानों को भगवान् मानती है तो कांग्रेस के भक्तों को इन ग्रामों की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। ग्राम मानो महादेवजी के मन्दिर ही हैं। उस ग्राम में भगवान् का स्वरूप कैसा है, वे वहां कैसे रहते हैं, क्या खाते हैं, क्या पीते हैं, क्या पढ़ते हैं, उनमें ज्ञान है या नहीं, उनके घरों में दीपक है या नहीं, इन देवताओं के बैल कीचड़ में फंसते हैं या नहीं, गर्मी के दिनों में पानी के विना उनका शरीर व्याकुल रहता है या नहीं—ये सव वातें देखनी चाहिएं। यदि आपका ध्येय ज्ञान प्राप्त करना है तो विद्वानों के आस-पास फिरो, उनकी सेवा करो। पृथ्वी चन्द्र-सूर्य के आस-पास घूमकर प्रकाश प्राप्त करती है। आप भी निरहंकार वृत्ति से ज्ञान-सूर्य के आस-पास घूमिए। यदि आप-कला के उपासक हैं तो कलाकारों के आस-पास घूमिए।

प्रदक्षिणा करते-करते ऐसा प्रतीत होगा कि उन ध्येय-देवताओं की जन्म-जन्मान्तर तक पूजा करते रहें। ऐसी इच्छा होगी कि—'आंखों में समा रहना, इस मन में रमा रहना'—फिर साष्टांग प्रणाम करें। हम ऐसा निश्चय करें कि यह शरीर ध्येय-देवता के चरणों में दण्डवत् करता रहे। इसीलिए प्रदक्षिणा के वाद प्रणाम किया जाता है। उसके वाद अन्तिम मंत्रपुष्प और अन्तिम महासमर्पण। वह जीवनरूपी पुष्प का चिर-समर्पण है।

उपनिषदों में भगवान् सूर्य नारायण को प्रतीक कहा गया है। यह सूर्य मानो नारायण ही है। सूर्य उस चैतन्यमय प्रभु का स्वरूप है। सूर्य चराचर को चेतना देता है। सूर्य के आते ही फूल फूलने लगते हैं, पक्षी

गाते हैं, उड़ते हैं, गाय-ढोर घूमने-फिरते लगते हैं, मनुष्यों के काम शुरू होने लगते हैं। उस विश्वम्भर के विश्व चलाने की कल्पना इस सूर्य को देखकर हो जाती है। इस सूर्य की उपासना ही मानो उस विश्वम्भर की उपासना करना है।

मूर्तिपूजा भी प्रतीक है। राम की मूर्ति देखते ही राम का चरित्र आंखों के सामने आ जाता है। क्षणभर में सारी रामायण याद आ जाती है। क्षणभर में ही सारी पवित्रता आकर साकार हो जाती है।

लेकिन पाषाणमूर्ति को देखने के लिए जरा दूर जाना पड़ता है। पाषाणमूर्ति को गढ़ने में भी श्रम करना पड़ता है। हम जो इन मूर्तियों, पुतलियों, चित्रों आदि के द्वारा अपने वड़े-छोटे या प्रिय व्यक्तियों के प्रतीक वनाते हैं वे उतने सहजसाध्य नहीं हैं।

अतः नाम सबसे बड़ा प्रतीक है। इन्द्र का स्वरूप क्या है? इन्द्र की मूर्ति कैसी होती है? मीमांसक इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—'इं' और 'द्र'—इंद्र—ये दो अक्षर ही इंद्र का स्वरूप हैं। यही उसकी अक्षर-मूर्ति है। हमने ॐ को परमेश्वर का नाम माना है। फिर राम, कृष्ण आदि अनेक नाम किसलिए हैं? उन सब नामों का सार ही ॐ है। सारी शब्द-सृष्टि को मथकर इस एक ॐ अक्षर का निर्माण किया गया है। ॐ में सारे स्वर आ गये हैं, सारे व्यंजन आ गये हैं, सारा साहित्य आ गया है, सारे वेद आ गये हैं। ॐ परमेश्वर की साहित्य-मूर्ति है।

पाषाण-मूर्ति वनाने में कष्ट होता है, फिर वह टूट-फूट जानेवाली है। लेकिन यह अक्षरमय मूर्ति सबके लिए सुलभ होने के कारण सरल और अक्षर अर्थात् अभंग है। मेरे होंठों में राम की जो अक्षरमय मूर्ति है उसे कौन तोड़ सकेगा?

अतः नाम एक महान् प्रतीक है। नाम के उच्चारण के साथ ही सब बातें याद आ जाती हैं। मानो सारा इतिहास ही एक नाम में समाया हुआ है। माता शब्द के उच्चारण करते ही माता का अनन्त प्रेम याद आ जाता है। वालक शब्द के याद आते ही मां के मन में वालक की सैकड़ों स्मृतियां ताजी हो जाती हैं। हम ऋषियों का तर्पण करते हैं। उस समय हम उनके केवल नाम का ही उच्चारण करते हैं। उस नाम में ही

सारी पवित्रता समाई रहती है। जैसे-जैसे समय बीतता है वैसे-वैसे इतिहास कड़ा होकर एक नाम में समा जाता है। जैसे आकाश में दूर के पवित्र तारे हैं वैसे ही वे दूर के नाम हैं।

हम कहते हैं—'वसिष्ठं तर्पयामि, अत्रि तर्पयामि।' लेकिन वसिष्ठ का अर्थ क्या है? अत्रि का अर्थ क्या है? केवल पवित्रता। उन नामों का उच्चारण करने में पवित्रता मालूम होती है। राम बोलते ही संस्कार भिन्न हो जाता है। इस प्रिय भारतवर्ष का नाम लेते ही सारा महान् इतिहास आंखों के सामने आ जाता है। इसीलिए नाम को अपार महत्व दिया गया है। नाम कहीं भी लिया जा सकता है। घर में, द्वार में, उठते-बैठते यह नाम-रूपी दर्शन होता रहता है। उसमें कोई पैसा नहीं लगता, शुल्क नहीं लगता, दक्षिणा नहीं लगती, कुछ नहीं लगता। 'राधाकृष्ण बोल, तेरा क्या लगेगा मोल?' अरे भाई, राधाकृष्ण बोल। इसमें कौन-सी कीमत चुकानी पड़ेगी?

इस अक्षर प्रतीक में कितनी ज्यादा शक्ति है! इमली का नाम लेते ही मुंह में पानी आ जाता है। मिर्च का नाम लेते ही मुंह जलने लगता है। यह सब लोगों का अनुभव है। अतः इन नामों को आप कम मत समझिये; सारा संसार नाम-रूपात्मक है। लेकिन वे रूप भी नाम में समा जाते हैं और केवल नाम ही शेष रहता है।

भारतीय संस्कृति बढ़ती रहती है। बढ़ती हुई संस्कृति में प्रतीक भी नये-नये आयंगे। नवीन तत्वज्ञान के आते ही नवीन प्रतीक भी आते हैं। कांग्रेस का तिरंगा झंडा सारे धर्मों की एकता का चिह्न है! उस झंडे पर बना हुआ चर्खा शोषणविहीन जीवन का प्रतीक है। चर्खा मानो स्वावलम्बन, चर्खा मानो व्यक्तित्व, चर्खा मानो निर्दोष श्रम का महत्व है। खादी एक नवीन प्रतीक बन गया है। ग्रामों के भूखे लोगों का स्मरण ही मानो खादी है।

इस दृष्टि से हमें प्रतीकों को देखना चाहिए। जब हमें गहराई से देखने की दृष्टि मिल जाती है, तब एक प्रकार का आनन्द होता है। फिर हमें वे क्रियाएं और वे चिह्न अर्थपूर्ण प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमने वस्तुओं के अंतरंग को स्पर्श कर लिया है। हम रस-

ग्राही हैं। वाह्य छिलके से किसको सन्तोष होगा ? अतः यदि भारतीय संस्कृति के अन्तरंग को स्पर्श करना है, उसके सच्चे स्वरूप को समझना है, उसके सच्चे उपासक बनना है तो गहरी दृष्टि प्राप्त कीजिये। फिर आपको इस संस्कृति का अन्तरंग, प्रेम से खिला हुआ, पवित्रता से सजा हुआ, त्याग से प्रज्वलित, माधुर्य से पूर्ण, ज्ञान से अलंकृत, आशा से सुशोभित उत्साह से स्फूर्त, आनन्द से पूर्ण दिखाई दिये विना न रहेगा।

: २२ :

श्रीकृष्ण और उनकी मुरली

भारतीय हृदय के चिरंजीव राजा दो हैं—एक अयोध्याधीश राजा रामचन्द्र और दूसरे द्वारिकानाथ श्रीकृष्ण। दूसरे सैकड़ों राजा-महाराजा आये और गये, लेकिन इन दो राजाओं का राज अटल है। उनके सिंहासन पर अन्य कोई भी सत्ताधीश नहीं बैठ सकता। भारतीय संस्कृति मानो राम-कृष्ण ही है।

इस अध्याय में मैं राम और कृष्ण के चरित्रों को एक भिन्न प्रकार से देखनेवाला हूं। गोकुल में प्रेम-स्नेह का साम्यवाद स्थापित करनेवाले, अथवा जरासंध, शिशुपालादि सम्राटों को धूल में मिलानेवाले, द्रौपदी-जैसी सती का चीरहरण देखकर उसका पक्ष लेनेवाले और अर्जुन के घोड़े प्रेम से हांकने वाले कृष्ण का वर्णन इस अध्याय में नहीं है। यहां मैं कृष्ण को एक प्रत्यक्ष व्यक्ति के रूप में नहीं, वल्कि एक प्रतीक के रूप में देखनेवाला हूं।

'गोकुल में श्रीकृष्ण'—इसमें वड़ा गूढ़ अर्थ समाया हुआ है। गोकुल का अर्थ क्या है ? गो का अर्थ है इन्द्रियां ? जिस प्रकार गाय जहां भी हरी-भरी घास देखती है, वहां चरने चली जाती है, उसी प्रकार ये इन्द्रियां अपने-आप विषय देखकर उनके पीछे अनियन्त्रित होकर भागने लगती हैं। हमारा जीवन ही मानो गोकुल है। 'कुल' का अर्थ है समुदाय। जहां

इंद्रियों का समुदाय है वहां गोकुल। इस प्रकार यह गोकुल हम सबके पास है।

लेकिन इस गोकुल में आनन्द नहीं था। इस गोकुल में सुख-समाधान नहीं था, यहां संगीत नहीं था, मधुर मुरली नहीं थी, यहां व्यवस्था नहीं थी, नृत्य-गीत नहीं थे। इस जीवनरूपी गोकुल में सारे काम बेसुरे चल रहे थे। इन्द्रियों के सैकड़ों आकर्षण हैं। वे इन्द्रियों को खींचते हैं। इन्द्रियां उनको खींचती हैं। मन की भी सैकड़ों प्रवृत्तियां होती हैं। उन प्रवृत्तियों में एक-वाक्यता नहीं होती। अन्तःकरण में सब-कुछ गोलमाल है। सर्वत्र पटक-झटक है। इस गोकुल में दावाग्नि जल रही है। अन्तःकरण की यमुना में अहंकार का कालिय नाग घर करके बैठता है। अघासुर, बकासुर (दंभासुर) इस गोकुल में आना चाहते हैं। हमें अपने हृदय में हमेशा शोर और ऊधम सुनाई देता है। रात-दिन हृदय-मन्थन जारी रहता है। हम समुद्र-मन्थन की बात सुनते हैं। समुद्र-मन्थन का अर्थ है हृदय-रूपी समुद्र का मन्थन। इस हृदय-सागर में वासना-विकारों की लहरें प्रत्येक क्षण आती रहती हैं। इस मंथन में से बहुत-सी वस्तुएं निकली हैं। कभी लक्ष्मी बाहर आती है और लाभ पैदा कर देती है, कभी अप्सरा मुग्ध करती है, कभी शराब सामने आकर खड़ी हो जाती है, कभी हम लोगों को कोड़े लगाने लग जाते हैं तो कभी हम शंख बजाते हैं, कभी प्रेम का चन्द्र उदय होता है तो कभी द्वेष का हलाहल पैदा होता है, कभी सद्विचारों के फूल देनेवाला पारिजात खिलता है तो कभी सबको तोड़-मरोड़ देनेवाला ऐरावत आ जाता है। अमृत प्राप्त होने तक, सच्चा समाधान, सच्ची शान्ति प्राप्त होने तक इस प्रकार का मन्थन चालू रहेगा।

अपने इस हृदय में अशान्ति की ज्वाला जलती रहती है। द्वेष-मत्सर से भर जानेवाले जीवनरूपी गोकुल में अन्त में श्रीकृष्ण-जन्म होता है। नन्द-यशोदा के पेट से कृष्ण का जन्म हुआ। नन्द का अर्थ है आनन्द। यशोदा का अर्थ है यश देनेवाली सद्वृत्ति। आनन्द के लिए व्याकुल रहनेवाले जीवात्मा और इस जीवात्मा की सहायता करनेवाली सत्प्रवृत्ति की व्याकुलता में से यह श्रीकृष्ण ही जन्म लेता है। हृदय में मोक्ष के लिए

व्याकुलता होना ही श्रीकृष्ण-जन्म है।

यदि हम देखें कि श्रीकृष्ण और श्रीराम का जन्म कब हुआ तो हमें इसमें कितना अर्थ दिखाई देगा!

रामचन्द्रजी का जन्म भरी दोपहरी में हुआ। पैर जल रहे हैं। कहीं छाया नहीं है। कहीं विश्राम की जगह नहीं है। ऐसे समय रामचन्द्रजी का जन्म होता है। जिस समय जीवात्मा तड़पता रहता है, हृदय दुःख से 'हाय-हाय' करता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संसार जलती हुई दावाग्नि है। ऐसे समय जीवात्मा को आह्लादित करनेवाला, हृदय में दस इन्द्रिय-रूपी मुखवाले सम्राट् रावण को मारनेवाला राम जन्म लेता है।

और श्रीकृष्ण कब जन्म लेते हैं? राम भरी दोपहरी में पैदा हुए तो कृष्ण मध्यरात्रि को पैदा हुए। भादों की मूसलाधार वर्षा, मेघों की गड़-गड़ाहट, बिजली की चमचमाहट, यमुना किनारे तक भरी हुई, ऐसे समय श्रीकृष्ण जन्म लेते हैं। जिस समय जीवन में कृष्णपक्ष का अंधेरा रहता है, भयंकर निराशा होती है, आंखों से आंसुओं की धारा बहती रहती है, कोई मार्ग दिखाई नहीं देता, हृदय की यमुना पूर्ण होकर बहने लगती है, दुःख-दैन्य के काले बादल घिर आते हैं, ऐसे समय ही श्रीकृष्ण जन्म लेता है।

कृष्ण का अर्थ है व्यवस्था करनेवाला। राम है प्रसन्न करनेवाला, कृष्ण है आकर्षित करनेवाला। कृष्ण सारे गोकुल के मन पर छा जाता हैं। वह गोपाल था। गोपाल का अर्थ है—इन्द्रियों का स्वामी। वह इन्द्रियों को चरने देता है। लेकिन वे उन्हें जहां चाहें जाने नहीं देता। इन्द्रिय-रूपी गायों को जहां मन हो वहां न जाने देने के लिए वह मीठी मुरली बजाता है। कृष्ण सारी इन्द्रियों को सुख और समाधान देता है। वह उन्हें आकर्षित करके संयम में रखकर संगीत का निर्माण करता है।

श्रीकृष्ण ने हमारे अव्यवस्थित जीवन को व्यवस्थित बनाया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने गीतांजलि में कहा है, "सारा दिन सितार में तार लगाते-लगाते ही बीत गया; लेकिन अभी तक तार नहीं लग पाये और न संगीत

ही शुरू हुआ।" हम सब लोगों की भी ऐसी ही हालत है। हमारे जीवन में मेल नहीं है। जीवन की सितार के तार ठीक तरह नहीं लग पाते। जीवन की यह सितार सात तारों की नहीं हजारों तारों की है। यह अनन्त तारों की हृत्तन्त्री कब ठीक से बजेगी?

हमारी हजारों प्रवृत्तियां ही ये तार हैं। आज एक प्रतीत होती है, कल दूसरी। इस क्षण कुछ करने की इच्छा होती है और दूसरे क्षण कुछ और करने की इच्छा होती है। ये हजारों वासनाएं हमें नचाती रहती हैं। हमारी खींचातानी हो रही है। यदि किसी व्यक्ति के दो स्त्रियां हों तो उसकी कितनी दयनीय स्थिति हो जाती है! फिर भला इस जीवात्मा की वे हजारों स्त्रियां क्या दशा करती होंगी!

चल रही हमेशा खींचतान
खिच रहा हृदय, खिच रहे प्राण
मिलता न तनिक भी मुझे त्राण
क्या करूं? हाय, क्या मर जाऊं?

जीव को ऐसा ही प्रतीत होने लगता है।

हम पढ़ते हैं कि श्रीकृष्ण की सोलह हजार स्त्रियां थीं। सोलह हजार क्या सोलह करोड़ भी होंगी। हमारी ये क्षण-क्षण में बदलनेवाली सैकड़ों मनःप्रवृत्तियां ही स्त्रियां हैं, अर्थात् गोपियां। ये गोपियां जीवन को खींच रही हैं। लेकिन गोकुल में जन्म लेनेवाला श्रीकृष्ण इन गोपियों को परेशान करता है। वह वस्त्र-हरण करके उन्हें लज्जित करता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति सुन्दर स्वरूप धारण करके जीवात्मा को मोहित करने का प्रयत्न करती है। गेते के 'फाँउस्त' नामक काव्य में एक स्थान पर एक व्यक्ति कहता है—

"मुझे मालूम था कि यह पाप है! लेकिन इस पाप ने कितना सुन्दर वेश धारण किया था! यह पाप कितना मीठा और सुन्दर दिख रहा था!"

लेकिन श्रीकृष्ण गोपियों के इस बाह्य रूप-रंग पर मुग्ध नहीं होते। वह उनका सही रूप प्रकट कर देते हैं। उनका आन्तरिक, गन्दा और विकृत रूप वह उनको दिखा देते हैं और उनके दिखाऊ वस्त्रों को दूर

कर देते हैं। वे दुष्ट प्रवृत्तियां लज्जित होती हैं। वे नम्र बनती हैं; नष्ट हो जाती हैं। वे श्रीकृष्ण के चरणों में मग्न होकर कहती हैं, "हे कृष्ण ! अब जैसा आप कहेंगे, वैसा करेंगी। जैसा आप कहेंगे वैसा चलेंगी। जैसा आप कहेंगे वैसा बोलेंगी। आप हमारे मालिक हैं।"

जीवन में यही मुख्य काम है—सारी इन्द्रियों और सारी प्रवृत्तियों को एक महान् ध्येय के पीछे लगाना और जीवन में स्थिरता लाना। नदी सागर के पास जायगी। पतंग प्रकाश के पास जायगा। भौंरा कमल के पास जायगा। मोर मेघ के पास जायगा। हमारी सारी प्रवृत्तियों, सारी शक्तियों को किसी-न-किसी ध्येय की ओर ले जाने का काम रहता है।

श्रीकृष्ण यह काम करता है। वह सारी प्रवृत्तियों को खींचकर उन्हें ध्येय की ओर मोड़ देता है। इससे जीवन की अशान्ति लय हो जाती है। मन में एक ही स्वर गूंजने लगता है। लेकिन यह काम सरल नहीं है। हृदय में ऐक्य की मुरली बजाने के पहले कृष्ण को कितने ही काम करने पड़ते हैं।

अहंकार के कालिया नाग को मिटाना पड़ता है। हमारा अहंकार निरन्तर फुफकारें मार रहा है। हमारे आस-पास कोई आ नहीं सकता। मैं बड़ा हूं। मैं श्रेष्ठ हूं। दूसरे सब मूर्ख हैं। इस प्रकार के अहंकार के आस-पास कौन रहेगा ?

"जो सबसे हीं रहे झगड़ता, उसके जैसा कौन अभागा ?"

ऐसी दुनिया में सबसे लड़ता रहनेवाला यह अकेला अहंकारी कब मुक्त होगा ?

कृष्ण इस अहंकार के फन पर खड़ा रहता है। जीवन-यमुना से वह इस कालिया नाग को भगा देता है।

इस जीवन-रूपी गोकुल के द्वेष-मत्सर के बड़वानल को श्रीकृष्ण निगल जाता है। वह दम्भ, पाप के राक्षसों को नष्ट कर देता है।

इस प्रकार जीवन शुद्ध होता है। एक ध्येय दिखाई देने लगता है। उस ध्येय को प्राप्त करने की लगन ज़ीव को लग जाती है। जो मन में वही होंठों पर, वही हाथों में। आचार, उच्चार और विचार में एकता

आ जाती है। हृदय की गड़बड़ रुक जाती है। सारे तार ध्येय की खूंटियों से अच्छी तरह बांध दिये जाते हैं। उनसे दिव्य संगीत फूटने लगता है।

गोकुल में कृष्ण की मुरली कब बजने लगी ?

सुखद शरद का हुआ आगमन
वन में खड़ी हुई ग्वालिन।
लो, बांट रहे हैं सुरभि सुमन,
उस मलयाचल से बही पवन॥

ऐसा था वह प्रफुल्ल करनेवाला पावन समय। हृदयाकाश में शरद् ऋतु होनी चाहिए। अब हृदय में वासना-विकार के बादल नहीं हैं। आकाश स्वच्छ है। शरद् ऋतु में आकाश निरभ्र रहता है। नदियों की गन्दगी नीचे बैठ जाती है। शंख-जैसा स्वच्छ पानी बहता रहता है। हमारा जीवन भी ऐसा ही होना चाहिए। आसक्ति के बादल नहीं घिरने चाहिएं। अनासक्त रीति से केवल ध्येयभूत कर्मों में ही मन रंग जाना चाहिए। रात-दिन आचार और विचार शुद्ध होते रहने चाहिएं।

शरद् ऋतु है और है शुक्ल पक्ष। प्रसन्न चन्द्र का उदय हो चुका है। चन्द्र का मतलब है मन का देवता। चन्द्र उगा है इसका यह मतलब है कि मन का पूर्ण विकास हो गया है। सद्भाव खिल गया है। सद्विचारों की शुभ्र चांदनी खिली हुई है। अनासक्त हृदयाकाश में शील का चन्द्र सुशोभित हुआ है। प्रेम की पूर्णिमा खिल गई है।

ऐसे समय सारी गोपियां इकट्ठी होती हैं। सारी मनःप्रवृत्तियां श्रीकृष्ण के आस-पास इकट्ठी हो जाती हैं। उन्हें इस बात की व्याकुलता रहती है कि हृदय में सुव्यवस्थिता पैदा करनेवाला, गड़बड़ी में से सुन्दरता का निर्माण करनेवाला वह श्यामसुन्दर कहां है? उस ध्येय-रूपी श्रीकृष्ण की मुरली सुनने के लिए सारी वृत्तिया अधीर हो उठती हैं।

एक बंगाली गीत में मैंने एक बड़ा ही अच्छा भाव पढ़ा था। एक गोपी कहती है, "अपने आंगन में कांटे बिखेरकर मैं उसके ऊपर चलने की आदत बना रही हूं। क्योंकि उसकी मुरली सुनकर मुझे दौड़ना पड़ता है और यदि मार्ग में कांटें हों तो शायद एकाध बार मुझे रुकना पड़ेगा।

यदि आदत हो तो अच्छा रहेगा।

"अपने आंगन में पानी डालकर मैं खूव कीच वना देती हूं, और मैं उस कीच में चलने का अभ्यास करती हूं। क्योंकि उसकी मुरली सुनते ही मुझे जाना पड़ता है और यदि मार्ग में कीचड़ हुआ तो परेशानी होगी। लेकिन यदि आदत हुई तो भाग निकलूंगी।"

एक वार ध्येय के निश्चित हो जाने पर फिर चाहे वह विष हो, अपने मन का आकर्षण उसी तरफ होना चाहिए। कृष्ण की मुरली सुनते ही सवको दौड़ते हुए आना चाहिए। घेरा वनाना चाहिए। हाथ-में-हाथ डालकर नाचना चाहिए। अन्तर्वाह्य एकता होनी चाहिए।

हृदय शुद्ध है। प्रेम का चन्द्रमा चमक रहा है। सारी वासनाएं संयत हैं। एक ध्येय ही दिखाई दे रहा है। आसक्ति नहीं है। द्वेष-मत्सर मिट गये हैं। अहंकार का शमन हो चुका है। दम्भ छिप गया है। ऐसे समय गोकुल में मुरली शुरू होती है। इस जीवन में से गीत शुरू होता है। उस संगीत की मिठास का कौन वर्णन कर सकेगा ? उस संगीत की मिठास का स्वाद कौन ले सकेगा ?

महात्माजी ने कहा था, "मेरे हृदय में तम्वूरा स्वर में मिला हुआ है।" महान् उद्‌गार है यह। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में इस प्रकार तम्वूरा स्वर में मिला हुआ हो सकता है। प्रत्येक के जीवन-रूपी गोकुल में यह मधुर मुरली वज सकती है। लेकिन कव ? उस समय जवकि व्यवस्था करनेवाला तथा इन्द्रियों को आकर्षित करके ध्येय की ओर ले जानेवाला श्रीकृष्ण पैदा हो।

यह श्रीकृष्ण हमारे सवके जीवन में है। जिस प्रकार किसी पहाड़ में वाहर के ऊवड़-खावड़ पत्थरों में कोई शिवालय होता है, उसी प्रकार अपने इस ऊवड़-खावड़ और गन्दे जीवन के अन्त:प्रदेश में एक शिवालय है। हमारे सवके हृदय-सिंहासन पर शंभु, मृत्युंजय, सदाशिव विराजमान हैं। वह हमेशा दिखाई नहीं देता; लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह है। एक वड़े पश्चिमी विचारक श्री अमिल ने एक स्थान पर लिखा है—

"Deep within this ironical and disappointed

being of mine, there is a child hidden, sad simple creature who believes in the ideal, in love, in holiness and all heavenly superstitions."

भावार्थ यह है कि मेरे इस परस्पर-विरोधी, संशयी, निराश जीवन के अन्तःप्रदेश में एक छोटा-सा बालक है। वह बालक ध्येय पर श्रद्धा रखता है, प्रेम पर, पवित्रता पर, मांगल्य पर विश्वास रखता है, सारी दैवी वृत्तियों पर आस्था रखता है। वह बालक यद्यपि दिखाई नहीं देता तथापि वह है अवश्य। वह अभी छोटा है, भोला-भाला है, खिन्न है लेकिन है वह अवश्य।

यह बालक ही बालकृष्ण है। यह बालकृष्ण बड़ा होने लगता है। वह उदास न रहकर बलवान् बनता है। गुप्त न रहकर प्रकट होने लगता है। जीवन-गोकुल में संगीत का निर्माण करने के लिए प्रयत्न करने लगता है। इस बालकृष्ण को बड़ा करना हमारा काम है। यदि आप अपने जीवन में संगीत लाना चाहते हैं तो इस मुरलीधर को पाल-पोसकर बड़ा कीजिये।

हृदय की यह वेणु कभी-कभी सुनाई देती है। लेकिन वेणु का यह नाद अखण्ड रूप से सुन पा सकने योग्य बनना चाहिए। जबतक हम दूसरी आवाजें बन्द नहीं करते तबतक इस अन्तर्नाद को नहीं सुन सकेंगे। दूसरी वासनाओं के गीत बन्द किये बिना ध्येय-गीत किस प्रकार सुना जा सकेगा? ऊपर के कंकड़-पत्थर दूर करते ही, उसके नीचे बहनेवाला झरना दिखाई देने लगता है; उसी प्रकार अहंकार, आसक्ति व रागद्वेष के पत्थर फोड़कर दूर करने पर ही हृदय में भाव-गंगा की कलकल-ध्वनि सुनाई देगी। काम-क्रोध के नगाड़े बन्द कीजिये, तभी हृदय के अन्दर के शिवालय की मुरली सुनाई देगी।

हरिजनों के लिए किये गए उपवास के समय महात्माजी ने आश्रम के बालकों को लिखे एक पत्र में कहा था —

"चालीस वर्षों की सेवा से मैंने अन्तःकरण में थोड़ी व्यवस्था का निर्माण किया है। संयम व तपस्या के द्वारा मैंने अपने जीवन का बेसुरापन दूर किया है, इसीलिए मैं अन्तर की सुन्दर आवाज को सुन

सकता हूं।"

सेवा के द्वारा, संयम के द्वारा इस संगीत का निर्माण करना है। कृष्ण मानो मूर्त संयम है। कृष्ण तो आकर्षित करनेवाला, अर्जुन के घोड़ों को संयम में रखनेवाला, और इंद्रियों के घोड़ों को मनमाने न जाने देनेवाला ही कृष्ण है। संयम के विना संगीत नहीं। संगीत का अर्थ है मेल, प्रमाण। प्रमाण का अर्थ है सौन्दर्य। जीवन में सारी वातों का प्रमाण साधने का मतलब ही है संगीत का निर्माण करना। यही योग है।

इसके लिए प्रयत्न की आवश्यकता है। रात-दिन प्रयत्न करना है। यदि उस अत्यन्त मधुर मुरली की आवाज सुनने का सौभाग्य प्राप्त करना है तो रात-दिन अविश्रांत प्रयत्न करना चाहिए, दक्षता रखनी चाहिए।

निशिवासर चल रहा युद्ध
अन्दर-बाहर, जग में मन में॥

रात-दिन बाह्य दुनिया में और मन में कदम-कदम पर झगड़े होंगे। वार-बार गिरना होगा, लेकिन वार-बार उठना होगा, बढ़ना होगा। प्रयत्न करना ही मनुष्य के भाग्य में है। पशु के जीवन में प्रयत्न नहीं होता। आज की अपेक्षा कल आगे जाय, आज की अपेक्षा कल अधिक पवित्र बने, पशु में यह भावना नहीं है। जो मुक्त हो गया है, उसको यह प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जिसके जीवन में प्रयत्नशीलता नहीं, वह या तो पशु है या मुक्त है।

प्रयत्नशीलता हमारा ध्येय है। हम सब प्रयत्न करनेवाले बालक हैं। 'इन्कलाव जिन्दावाद' का अर्थ है क्रांति चिरायु हो। प्रयत्न चिरायु हो। उत्तरोत्तर विकास हो। प्रयत्न करते-करते एक दिन हम परम पद प्राप्त करें।

इसीलिए श्रम किया निरन्तर
अन्तिम दिन वन जाय मधुर।

यह सारा कठिन परिश्रम, यह सारा प्रयत्न उस अन्तिम दिन को मधुर वनाने के लिए ही है। इसीलिए है कि वह मधुर ध्वनि सुनाई दे। यदि वह दिन सौ जन्मों में आये तव भी यह कहना चाहिए कि वह जल्दी आया।

फ्रांस के प्रसिद्ध कहानी-लेखक अनातोले ने एक स्थान पर लिखा

है, "यदि ईश्वर मुझसे पूछे कि तेरी क्या-क्या बातें मिटा दूं तो मैं कहूंगा मेरी सब बातें मिटा दे। लेकिन मेरे प्रयत्न मत मिटा, मेरे दुःख मत मिटा।"

कुन्ती ने कहा, "मुझे सदैव विपत्ति दे।" विपत्ति का ही अर्थ है प्रयत्न, खींचतान; पूर्णता का स्मरण करके उसे प्राप्त करने के लिए होती रहनेवाली व्याकुलता। जिसमें यह व्याकुलता है वह धन्य है। उसके जीवन में आज नहीं तो कल श्रीकृष्ण की मधुर मुरली बजने लगेगी।

श्रीकृष्ण ने पहले गोकुल में आनन्द-ही-आनन्द का निर्माण किया। उसने पहले गोकुल में मुरली बजाई और उसके बाद वह संसार में संगीत का निर्माण करने के लिए गया। पहले उसने गोकुल की दावाग्नि बुझाई, गोकुल के कालिय नाग को मारा। अघासुर, बकासुर को मारा। उसके बाद समाज के कालिय नाग, समाज के दम्भ, समाज की द्वेष-मत्सर की दावाग्नि दूर करने के लिए वह बाहर गया। अपने जीवन के संगीत को वह सारे त्रिभुवन में सुनाने लगा। पत्थर पिघल गये।

जब मनुष्य अपने अन्तःकरण में स्वराज्य की स्थापना कर लेगा तो वहां संगीत, सुसंबद्धता, ध्येयात्मता, निश्शंकता, सुसंवादिता का निर्माण कर लेगा। वहां की दावाग्नि को बुझा देगा, वहां के असुरों का संहार कर देगा। सारांश यह कि जब वह अपने मन का स्वामी बन जायगा तभी वह संसार में भी आनन्द का निर्माण कर सकेगा। जिसके अपने जीवन में आनन्द नहीं है वह दूसरों को क्या आनन्द दे सकेगा? जो स्वयं शान्त नहीं है वह दूसरों को क्या खाक शान्ति देगा? जिसके स्वयं के जीवन में शान्ति नहीं है वह दूसरे के जीवन का रुदन कैसे मिटा सकेगा? जो खुद गुलाम है वह दूसरों को कैसे मुक्त कर सकेगा? जो अहं को जीत नहीं सकता वह दूसरों को कैसे जीत सकेगा? स्वयं गिरा हुआ आदमी दूसरों को नहीं उठा सकता। स्वयं बन्धन में बंधा हुआ व्यक्ति दूसरे को मुक्त नहीं कर सकता। स्वयं हमेशा घुटनों में मुंह छिपाकर रोनेवाला दूसरों को हँसा नहीं सकता। स्वयं स्फूर्ति-हीन होकर दूसरों को किस प्रकार चेतना दे सकेगा? स्वयं निरुत्साहित होकर दूसरों को उत्साही

प्रकार बना सकेगा ? अतः पहले अपने जीवन-रूपी गोकुल को सुख-मय एवं आनन्दमय बनाओ। तभी आप अपने आस-पास के संसार को आनन्दमय कर सकोगे; अपनी बेसुरी जीवन-वांसुरी को सुधारो तभी दूसरों की जीवन-वांसुरी को सुधार सकोगे।

लेकिन वह दिन कब आयगा ? आयगा, एक दिन आयगा। यह जीवन-यमुना उस दिन के आने तक अशान्त रहेगी। इसमें कभी क्रोध-मत्सर की और कभी स्नेह-प्रेम की प्रचण्ड लहरें हिलोरें लेने लगेंगी, लेकिन सारा प्रयत्न, यह टेढ़ी-मेढ़ी उछल-कूद उस ध्येय के लिए ही है। श्रीकृष्ण के परम पवित्र चरणों को स्पर्श करने के लिए ही यह व्याकुलता है। एक दिन श्रीकृष्ण के चरणों का स्पर्श प्राप्त होगा और यह यमुना शान्त हो जायगी। उस ध्येय-भगवान् के चरणों में गिर जाने के लिए यह यमुना अधीर है। तूफान शान्त होने के लिए उठता है, जीवन भी शान्त होने के लिए ही प्रयत्न कर रहा है। संगीत-निर्माण करनेवाले भगवान् के चरणों का स्पर्श करने के लिए जीवन व्याकुल है। आयगी, वह शरद् ऋतु एक दिन अवश्य आयगी। एक दिन वह मधुर हवा अवश्य बहेगी। वह मधुर चांदनी एक दिन अवश्य खिलेगी। उस दिन गोकुल में प्रेम-राज्य की स्थापना करनेवाले; अव्यवस्था, धांधली, अपनी डफली अपना राग, गन्दगी, दावाग्नि, दम्भ दूर करके प्रेम स्थापित करनेवाले उस कृष्ण-कन्हैया की मुरली की अमृत-ध्वनि हमारे जीवन में सुनाई देगी। उस श्यामसुन्दर की पागल बना देनेवाली वेणु बजती रहेगी॥

बज रही है वेणु मनहर
अब न इंद्रिय धेनु गहती नित्य मनमानी डगर।
जीवन-गोकुल में बनमाली
आ जा, यहां खिली हरियाली
हर्ष-मत्त हो चरण-रेणु हम रख लेंगे निज मस्तक ऊपर।
मेरी वृत्ति मुग्ध-सी गोपी
प्रेम-बेलि पागल हो रोपी
कहती—मैं कुछ नहीं जानती, मेरे तो बस गिरिधर नागर

: २३ :

मृत्यु का काव्य

भारतीय संस्कृति में स्थान-स्थान पर मृत्यु के संबंध में जो विचार हैं वे कितने मधुर हैं, कितने भव्य हैं! भारतीय संस्कृति में मृत्यु की भीषणता नहीं है। मृत्यु तो मानो जीवन-वृक्ष में लगा हुआ मधुर फल है या मानो ईश्वर का ही एक स्वरूप है। जीवन और मृत्यु दोनों ही अत्यन्त मंगल भाव हैं। जीवन और मरण वस्तुतः एकरूप ही हैं। रात्रि में से ही आखिर अरुणोदय होता है, और अरुणोदय में ही अन्त में रात्रि का निर्माण होता है। जीवन में मृत्यु का फल लगता है, मृत्यु में जीवन का।

गीता में कहा गया है कि मरना मानो वस्त्र उतार फेंकना है। काम करते-करते ये वस्त्र जीर्ण हो गये, फट गये। वह त्रिभुवन की माता हमें नये वस्त्र लेने के लिए बुलाती है। वह हमें उठा लेती है। फिर हमें नये कुरते-टोपी पहनाकर इस संसार के प्राङ्गण में खेलने के लिए छोड़ देती है और दूर से तमाशा देखती है। कभी-कभी जीव जन्म लेने के पहले ही मर जाता है। कोई बाल्यावस्था में मरता है, कोई युवावस्था में। मां कपड़े पहनाकर भेज देती है; लेकिन उसे कपड़ा अच्छा नहीं लगा है, तो जल्दी ही वह उसे वापस बुला लेती है और नये कपड़े पहना देती है। मां के शौक अमूल्य हैं!

हमारी मां कोई भिखारिन नहीं है। उसका भण्डार तो अनन्त वस्त्रों से भरा हुआ है। लेकिन चूंकि मां का भण्डार भरा है, अतः हम उसके दिये हुए कपड़े फाड़ दें यह अच्छा नहीं है। हमें जहांतक सम्भव हो बड़ी सावधानी के साथ इस कपड़े का उपयोग करना चाहिए। हमें उसे स्वच्छ पवित्र रखना चाहिए और सेवा करते-करते ही उसे फटने देना चाहिए।

देह मानो मटका है। यदि कोई मर जाता है तो हम उसके आगे मटका ले जाते हैं। यह तो मटका था, फूट गया। इसमें रोने की कौन-

सी वात है ? यह मटका तो सेवा करने के लिए मिला था। महान् ध्येय-वृक्ष में पानी डालने के लिए यह मटका मिला था। किसीका मटका छोटा होता है, किसीका वड़ा। वह महान् कुम्हार अनेक प्रकार के ये मटके वनाता है और संसार का वगीचा तैयार करना चाहता है। वह फूटे हुए मटकों को फिर ठीक करता है, वह मटका फिर पानी पिलाने लगता है। इस प्रकार का क्रम चल रहा है।

विक्टर ह्यूगो ने एक स्थान पर लिखा है, "मनुष्य क्या है? यह तो मिट्टी का गोला है, लेकिन उसमें एक दैवी कला है। उस दैवी कला के कारण ही इस मिट्टी के गोले का महत्त्व है।'

विश्वम्भर भगवान् एक मिट्टी का गोला वदलकर दूसरा तैयार करता है। वह दैवी कला से विभूषित कर उसे फिर इस संसार में भेजता है। जिस प्रकार पतंग के फट जाने पर छोटे वच्चे कागज़ लेकर दूसरी पतंग वना लेते हैं वैसी यह वात है। भगवान जीव-रूपी पतंग को किसी अदृश्य छत पर वैठकर लगातार उड़ा रहा है। वह उसे ऊपर-नीचे खींच रहा है। यदि पतंग फट जाती है तो वह फिर उसे ठीक कर देता है। नया कागज़ और नया रंग! वह फिर उसे उड़ाता है। अनेक रंग, अनेक आकार, अनेक धर्म, अनेक वृत्ति के ये करोड़ों पतंग हमेशा उड़ रहे हैं, फट रहे हैं और नये आ रहे हैं। यह है एक प्रचण्ड क्रीड़ा, एक विराट् खेल।

मृत्यु मानो महायात्रा है, मृत्यु मानो महाप्रस्थान है, मृत्यु मानो महानिद्रा है। हम प्रतिदिन के परिश्रम के वाद सो जाते हैं। नींद तो एक प्रकार का लघुमरण है। सारे जीवन के श्रम के वाद, अनेक वर्षों के श्रम के वाद भी हम इसी प्रकार नींद लेते हैं। प्रतिदिन की नींद आठ घंटे की होती है; लेकिन फर्क यही है कि यह नींद लम्वी होती है।

मृत्यु का अर्थ है मां की गोद में जाकर सो जाना। छोटा वच्चा दिन-भर खिलखिलाता है, रोता है, गिरता है। रात्रि होते ही उसे मां धीरे-से उठा लेती है। उसके खिलौने वहीं पड़े रहते हैं। मां उसे गोदी में लेकर सुला देती है। मां की गर्मी लेकर वच्चा ताजगी प्राप्त करता है और सुवह दुगुने उत्साह से खलने लगता है। यही हाल जीव का है।

संसार में थके हुए जीव को वह माता उठा लेती है। बच्चे की इच्छा न होने पर भी वह उसे उठा लेती है। अपने मित्र की ओर, अपने सांसारिक खिलौनों की ओर बालक आशाभरी निगाहों से देखने लगता है। लेकिन मां तो बालक के हित को पहचानती है। उस रोते हुए बालक को वह ले लेती है। अपनी गोद में सुला लेती है और जीवन-रस पिलाकर फिर भेज देती है।

मृत्यु मानो अपने पीहर जाना है। ससुराल में गई हुई लड़की दो दिन के लिए पीहर जाती है, और प्रेम, उत्साह, आनन्द और स्वतन्त्रता प्राप्त करके आ जाती है। उसी प्रकार उस जगत्-माता के पास जाकर आना ही मृत्यु है। बचपन में स्कूल में जानेवाले बालक बीच से ही लौटकर घर आ जाते हैं। पानी पीने का बहाना, भूख का बहाना, बीमारी का बहाना करके घर आ जाते हैं। उन्हें मां के मुखचन्द्र को देखने की व्याकुलता रहती है। उन्हें मां के प्रेम की भूख रहती है। मां उन्हें प्रेम से देखती है। उनकी पीठ पर हाथ फेरती है। उन्हें मिठाई देती है और कहती है, "जाओ"। बच्चा हँसते-खेलते फिर प्रसन्नतापूर्वक स्कूल में आ जाता है और पाठ याद करने लगता है। उसी प्रकार हम संसार के स्कूल से घबराये एवं चिढ़े हुए जीव मां के मुखचन्द्र को देखने की आशा लगाये रखते हैं। वे मां के पास जाते हैं, भरपूर प्रेम-रस पीकर फिर विद्या पढ़ने लगते हैं।

मृत्यु मानो विश्राम है। मृत्यु मानो अनन्त में स्नान करना है। थके हुए, घबराये हुए लोग ग्राम के बाहर के तालाब पर जाकर तैर आते हैं, समुद्र में गोता लगा आते हैं, नदी के पानी में नाच-कूद आते हैं; उनकी थकान मिट जाती है। जीवन में डूबने से जीवन प्राप्त होता है। मृत्यु का क्या मतलब है? डुबकी लगाना। संसार में थके जीव अनन्त जीवन के समुद्र में गोता लगा आते हैं। यह गोता लगाने के लिए जाना ही मृत्यु है। यह एक प्रकार की छुट्टी है। मृत्यु का अर्थ है अनन्त जीवन में तैरने के लिए प्राप्त हुई छुट्टी। उस जीवन में नहा-धोकर फिरता जगी प्राप्त करके हम संसार में कर्म करने के लिए आ जाते हैं।

महादेवजी के ऊंचे शिखरवाले मन्दिर में जाने के लिए सीढ़ियां बनी

रहती हैं। उसी प्रकार पूर्णता के शिखर की ओर जाने के लिए जन्म मरण के पैर रखकर जीव जाता है। मरण मानो एक कदम ही है। मरण मानो प्रगति ही है। मरण का अर्थ है आगे जाना। भगवान् की ओर ले जानेवाली सीढ़ियों को हम प्रणाम करते हैं। हमें वे सीढ़ियां पवित्र लगती हैं, ध्येय-साधन प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार मृत्यु भी पवित्र और मंगल है वह अपने ध्येय के पास ले जानेवाली है।

मरण मानो एक प्रकार का विस्मरण है। संसार में स्मरण-जितन ही विस्मरण का भी महत्त्व है। जन्म लेने के बाद से हमने जो-जो बातें कीं, जो-जो सुना, जो-जो देखा, जो-जो हमारे मन में आया यदि उन सबका हमें हमेशा स्मरण रहे तो कितना बड़ा बोझ हो जायगा ! उस प्रचण्ड पर्वत के नीचे हम कुचल जायंगे। यह जीवन असह्य हो जायगा।

जिस प्रकार व्यापारी हजारों धंधे करता है; लेकिन अन्त में इस सरल-सी बात को ही ध्यान में रखता है कि इतना लाभ हुआ या इतनी हानि हुई ! यही हाल जीवन का है। मरण मानो जीवन के व्यापार में लाभ-हानि देखने का क्षण है। साठ-सत्तर वर्षों से दुकान चल रही है। उसके हिसाब-किताब देखने का क्षण ही मृत्यु है। उस लाभ-हानि के अनुभव से लाभ उठाकर हम फिर दुकान लगाते हैं। मां की आज्ञा लेकर फिर व्यापार आरम्भ करते हैं। प्रेम से भरी हुई स्वतन्त्रता देनेवाली मां कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाती।

मृत्यु की बड़ी आवश्यकता होती है। कभी-कभी संसार में इस वर्तमान नाम और रूप का समाप्त होना इष्ट और आवश्यक होता है। मानो कि कोई दुर्व्यवहार कर रहा था। बाद में उसपर यदि वह पश्चात्ताप करके सद्व्यवहार करने लगे तब भी जनता उसकी पिछली काली करतूतों को नहीं भूलती। लोग कहते हैं, "वह अमुक व्यक्ति है न ? उसकी सब बातें मालूम हैं हमको। 'सौ-सौ चूहे खायके बिल्ली चली हज्ज को !' वह तो बेकार ढोंग करता है। वह फिर अपनी पुरानी बातें पकड़ लेगा। उसे पश्चात्ताप कैसा ?" लोगों के ये उद्गार अपने सुधार की इच्छा रखनेवाले उस पश्चात्ताप की ज्वाला में जलनेवाले व्यक्ति के मर्म को स्पर्श करते हैं। वह तो

अपनी पुरानी बातें भूलना चाहता है; लेकिन संसार उसे भूलने नहीं देता। ऐसे अवसर पर पर्दे के पीछे जाकर नया रंग और नया रूप प्राप्त करके ही लोगों के सामने आना अच्छा रहता है।

यदि मृत्यु न होती तो संसार कुरूप दिखाई देता। मृत्यु के कारण ही संसार में सुन्दरता है। मृत्यु के कारण ही संसार में प्रेम है। यदि हम अमर होते तो एक-दूसरे की बात भी नहीं पूछते। हम सब पत्थरों-जैसे दूर-दूर पड़े रहते। मनुष्य मन में विचार करता है कि कल तो हमें जाना पड़ेगा, फिर दुर्व्यवहार क्यों करें? वह अपना व्यवहार मधुर बनाता है। अंग्रेजी भाषा में एक कविता है। दुखी भाई कहता है, "मेरा भाई कहां है? क्या मैं अब अकेला ही खेलूं? अकेला ही नदी किनारे घूमूं? तितलियों के पीछे भागूं? मेरा भाई कहां है? यदि मैं उसके जीवनकाल में उसे प्यार करता तो कितना अच्छा रहता! लेकिन अब क्या!"

मृत्यु उपकार करनेवाली है। जो काम जीवन से नहीं होता, वह कभी-कभी मृत्यु से हो जाता है। संभाजी महाराज के जीवनकाल में मराठों में फूट पड़ गई; लेकिन उनके महान् मरण से मराठों में एकता स्थापित हो गई। वह मृत्यु ही मानो अमृत सिद्ध हो गई। ईसा के जीवन में जो नहीं हुआ, वह उनके सूली पर जाने से हो गया। मृत्यु में अनन्त जीवन होता है।

हम ऐसा समझते हैं कि मृत्यु मानो अंधेरा है। लेकिन मृत्यु तो अमर प्रकाश है। मृत्यु का अर्थ है निर्वाण अर्थात् अनन्त जीवन सुलगा देना। भगवान् बुद्ध कहते थे, "अपना निर्वाण कीजिये, तभी संसार के साथ सच्चा प्रेम करना आ सकेगा।" अपने को भूल जाओ। अपनी व्यक्तिक आशा-आकांक्षा, क्षुद्र स्वार्थ, लोभ भूल जाओ, तभी सच्चा ...र जीवन प्राप्त कर सकोगे। अपनी सारी आसक्ति भूलना, अपने ...रीर की, मन की, इन्द्रियों की स्वार्थी वासनाओं को भूलना ही मानो ... है। इस मृत्यु का हम इस जीवन में भी अनुभव प्राप्त कर सकते ... जिस प्रकार नारियल का पानी सूख जाने पर नारियल की गिरी ...ग हो जाने से जैसा खड़-खड़ बजता है उसी प्रकार देहेन्द्रियों से आत्मा अलग करके व्यवहार करना ही मानो मृत्यु है। तुकाराम महाराज

इसीलिए कहा करते थे—

अपनी आंखों ही मैंने तो
अपनी मृत्यु देख ली है।
अनुपम था मेरा सुख-सुहाग।

जो एक बार इस मृत्यु को अनुभव कर लेता है उसकी फिर मृत्यु नहीं होती। जीवित होते हुए भी जो मरना सीखता है, वह चिरंजीव होता है।

जर्मन में एक प्रसिद्ध दन्तकथा है। एक राक्षस है। भगवान् ने उसे यह शाप दे दिया है कि तू कभी नहीं मरेगा। यदि वह राक्षस हमारे देश में होता तो वह इसे वरदान समझता। उसने कहा होता कि कभी न मरना तो अधिक सौभाग्य की बात होती; लेकिन जर्मन-देश का वह राक्षस परेशान हो गया। उसे जीवन से नफरत हो गई है। वह चाहता है कि रोज़मर्रा के एक-जैसे जीवन को वह भूल जाय। वह चाहता है कि अपने शरीर को भूल जाय। उसकी आत्मा यह चाहती है कि उससे चिपटा हुआ यह देहरूपी मिट्टी का गोला गिर जाय। वह चाहता है कि यह देहरूपी चोला, यह शरीर का भार कभी-न-कभी गिर जाय; लेकिन उसकी मृत्यु नहीं होती। वह ऊंचे शिखर से अपनेको नीचे गिरा देता है; लेकिन वह गेंद-जैसा ऊपर उछल जाता है। अग्नि उसे नहीं जला पाती। पानी उसे डुबो नहीं पाता। फांसी उसके लिए हार बन जाती है। विष अमृत बन जाता है। भगवान् का नाम सुनते ही दांत पीसने लगता है; अंगुलियां मोड़ने लगता है। उसके हृदय में होली जलने लगती है। लेकिन इस होली को शान्त करनेवाले मृत्यु के मेघ बरसते नहीं हैं। उस दयनीय राक्षस की दुरवस्था का अन्त नहीं होता। उसे मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

यह दशा कितनी असह्य है! यदि मृत्यु देनेवाले ईश्वर का हम कितना ही आभार मानें, तो भी वह पर्याप्त नहीं होता। मृत्यु मानो जीव और ईश्वर का रहस्य है। मरण जीवन की तह में बैठ जानेवाला कीचड़ है। मरण का अर्थ है पुनर्जन्म।

हमें अमावस्या के दिन अंधेरा दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है